

कर्मयोग

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी

कर्मयोग

प्रवचन

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज



पुस्तक प्राप्ति स्थान :

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

'विपुल' 28/16 बी. जी. खेरमार्ग
मालावार हिल
मुम्बई - 400 006
फोन : (022) 23682055
मो.: 09619858361

स्वामीश्री अखण्डानन्द पुस्तकालय
आनन्द कुटीर, मोतीझील
वृन्दावन - 281 121
फोन : (0565) 2913043, 2540487
मो. : 09837219460

●

प्रथम संस्करण : 1970
तृतीय संस्करण : 1100
संन्यास जयन्ती
19 फरवरी 2005
चतुर्थ संस्करण : 1100
सितम्बर 2012

●

मूल्य : रु. 60/-

●

मुद्रक :
आनन्दकानन प्रेस
डी. 14/65, टेढ़ीनीम
वाराणसी - 221001
फोन : (0542) 2392337

चतुर्थ संस्करण :

प्रकाशकीय

श्रीमद्भगवद्गीताके तृतीय अध्यायको 'कर्मयोग' नामसे जानते हैं। इस दुर्गम 'कर्म-सिद्धान्त'को सरल-सरस कर सुगम बनाकर प्रस्तुत किया है महाराजश्री स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी की उदात्त अनुपम वाणीने चतुर्थ संस्करण प्रस्तुत करते हमें हर्ष है महाराजश्रीकी कृपा एवं सुधी पाठकोंके सहयोगसे ही प्रकाशन कार्यों हेतु प्रेरणा-प्राप्त होती है।

–सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

प्रकाशकीय

महाराजश्री स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी द्वारा किये गये कर्मयोगके प्रवचनोंको संकलित कर-सार-रूपसे वर्ष 1970में पहली बार प्रकाशित किया गया था, बीचमें भी उस संस्करणके समाप्त होने पर पुनर्प्रकाशित किया गया।

पाठकोंकी माँग बराबर बनी रही, अतएव थोड़े बड़े अक्षरोंमें तथा नवीन कलेवरके साथ इसका तीसरा संस्करण पूज्यश्री महन्तजी महाराज स्वामीश्री ओंकारानन्द सरस्वतीजीने प्रकाशित करनेकी आज्ञा प्रदान की।

अन्ततः महाराजश्रीकी संन्यास जयन्तीके पावन अवसर यह ग्रन्थ आपके सम्मुख प्रस्तुत करते हमें अत्यन्त हर्ष है।

आप इसके अध्ययन, मनन, वाचनसे जीवन पावन बनावें।

संन्यास जयन्ती
19 फरवरी 05

ट्रस्टी
सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट
वृन्दावन/मुम्बई

विषयानुक्रमणिका

☆

श्रीमद्भगवद्गीताका तृतीय अध्याय

कर्मयोग

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥ 1 ॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥ 2 ॥

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ 3 ॥

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ 4 ॥

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ 5 ॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ 6 ॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ 7 ॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ 8 ॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ 9 ॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ 10 ॥

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ 11 ॥

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥ 12 ॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ 13 ॥

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ 14 ॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ 15 ॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ 16 ॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ 17 ॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ 18 ॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ 19 ॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ 20 ॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ 21 ॥

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ 22 ॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ 23 ॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ 24 ॥

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ 25 ॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ 26 ॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ 27 ॥

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ 28 ॥

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ 29 ॥

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ 30 ॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ 31 ॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ 32 ॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ 33 ॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ 34 ॥

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ 35 ॥

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ 36 ॥

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ 37 ॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ 38 ॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ 39 ॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ 40 ॥

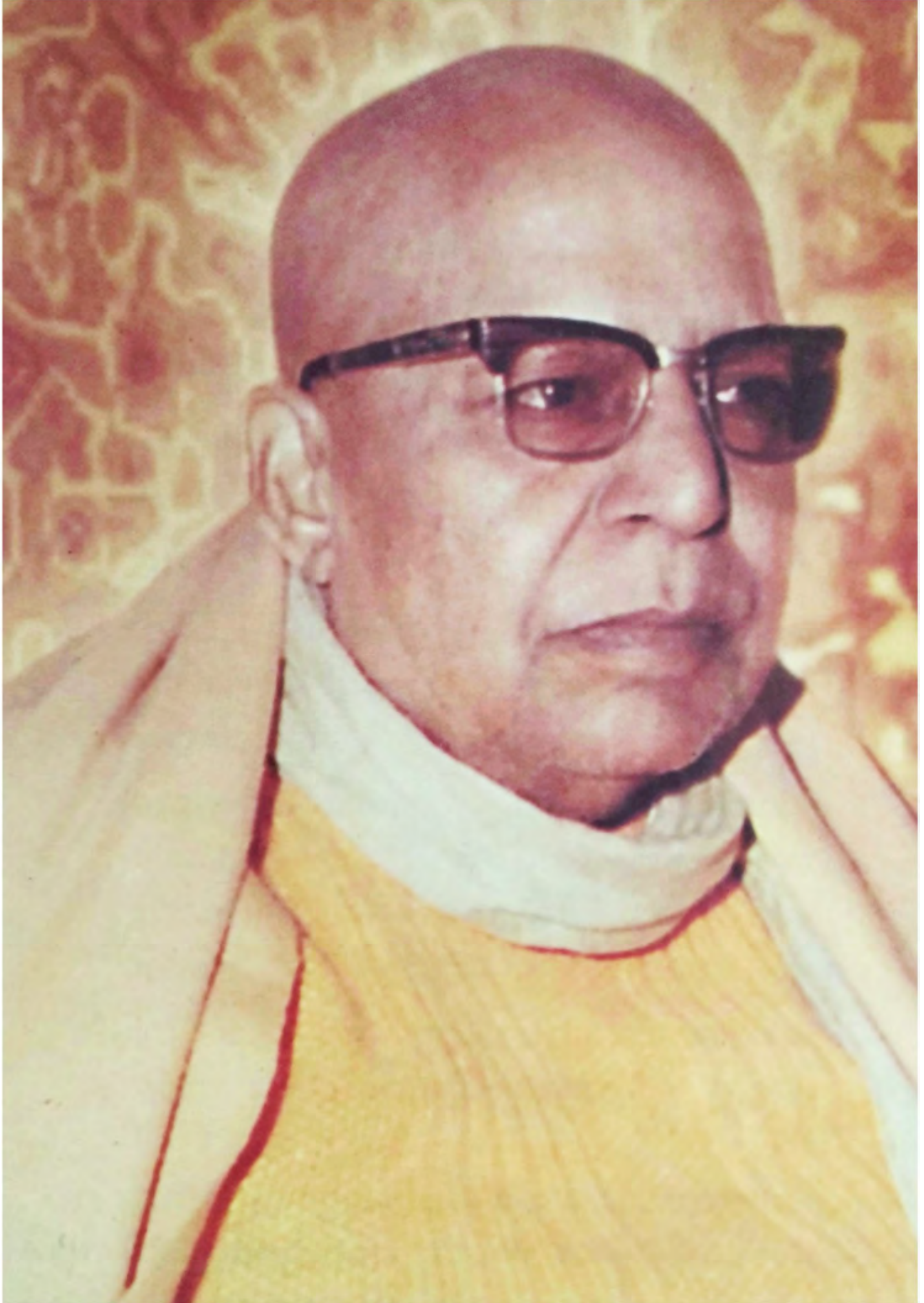
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ 41 ॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ 42 ॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ 43 ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः।





स्वामीश्री अखाण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

प्रस्तावना

प्रपन्नपारिजाताय तोत्त्रवेत्रैकपाणये।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः।।

ऋग्वेदके एक ऋषिने हाथ उठाकर घोषणा की—

अयं मे हस्तो भगवान्।
अयं मे हस्तो भगवत्तरः॥

'यह मेरा हाथ भगवान् है। यह मेरा हाथ श्रेष्ठ भगवान् है।'

आपको ज्ञात ही है कि इन्द्र और कुन्तीके संयोगसे अर्जुनकी उत्पत्ति हुई है।

'इन्द्रः कस्मात्? इदं द्रष्टा इति। इदंद्र एव इन्द्रेति उच्यते।'

वह इन्द्र क्यों कहलाता है? इसलिए कि इस सबको देखता है; इसका द्रष्टा ही इन्द्र कहलाता है।

इन्द्रका अर्थ है परमात्मा—वह परमात्मा जो हमारे हाथका अधिष्ठाता देवता है।

हमारी बुद्धिमें ईश्वरके अवतरणका नाम ज्ञान है।

हमारी प्रीतिमें ईश्वरके अवतरणका नाम भक्ति है।

हमारे हाथमें ईश्वरके अवतरणका नाम कर्म है।

ऐश्वर्यके लिए साधनका जो प्रयत्नकर्ता है, वही ऐश्वर्यका स्वामी भी है। जो हाथका अधिष्ठाता देवता इन्द्र है, वही स्वर्गके ऐश्वर्यका स्वामी भी है।

इसका अर्थ है कि जगत्‌में जितने सुख, भोग, ऐश्वर्य हैं, वे सब के सब कर्मके द्वारा प्राप्त होते हैं। इस कर्मका प्रेरक भी इन्द्र है और कर्माराध्य भी इन्द्र है। समस्त यज्ञोंके द्वारा इन्द्रकी ही आराधना होती है। अर्थात् यहाँ हाथमें बैठकर इन्द्र ही कर्ता है और वहाँ स्वर्गमें बैठकर इन्द्र ही भोक्ता है।

जब यह बात मनुष्य भूल जाता है, तब उसके लिए जीवन व्यस्त बन जाता है। व्यस्तका अर्थ है विक्षिप्त। वि+असि (असि क्षेपणे) व्यस्तं विक्षिप्तम्। इधर दौड़े, उधर भटके, मानो हमने जीवनको फेंक रखा है। जीवन बहता जा रहा—बहता जा रहा है।

हमारे प्राचीन शास्त्रों एवं प्राचीन ऋषियोंकी दृष्टिमें कर्ममें एवं परमात्माकी सत्ता—विद्यमानतामें कोई विरोध नहीं है। अपितु परमात्माकी सत्तासे ही कर्मका अस्तित्व सिद्ध होता है। वेदान्तका यह कठोर नियम है कि परस्पर जिनकी समान सत्ता होती है, उनमें ही विरोध होता है। जिनकी परस्पर समान सत्ता नहीं होती, उनमें विरोध नहीं होता। परमार्थतः दो तत्त्व नहीं है। व्यवहारका व्यवहारसे विरोध सम्भव है, परमार्थसे व्यवहारका कोई विरोध नहीं हो सकता। देह, इन्द्रिय, मनमें कर्मकी धारा बहती रहे, परमार्थ—परमात्मा तो अपने स्वरूपमें स्थित है। हमारे कर्म परमात्माकी सत्तामें बाधा नहीं डाल सकते। जैसा कि श्रीपागेजीने कहा है—

'कोई मनुष्य आटा पीसनेकी मशीनको चलाकर पृथक् बैठ जाय तो उस चलती मशीनको देखनेसे चलानेवाला सरलतासे नहीं दीखता। मशीनके सब काम यथावत् होते रहते हैं।'

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। (ईशा० 2)

'कर्म करते हुए ही सौ वर्षतक जीवित रहनेकी इच्छा रखे!' यह ईशावास्य उपनिषद्‌का मन्त्र हम सब जानते हैं; किन्तु इस उपनिषद्‌में सबसे पहले ईश्वरपर दृष्टि रखनेको कहा गया है—'**ईशावास्यमिदं सर्वम्।**'

इस मन्त्रमें तीन पुरुषार्थोंके लिए तीन बातें कही गयी हैं—

'मोक्ष' पुरुषार्थके लिए—'**ईशावास्यमिदं सर्वम्।**'

'काम' पुरुषार्थके लिए—'**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः।**'

'अर्थ' पुरुषार्थके लिए—'**मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।**'

और चौथे 'धर्म' नामक पुरुषार्थके लिए—'**कुर्वन्नेवेह कर्माणि**' मन्त्रके द्वारा चौथी बात कही गयी है।

ब्रह्मसूत्रमें जहाँ '**कुर्वन्नेवेह कर्माणि**' मन्त्रका विचार आया वहाँ भगवान् व्यासने कहा—

स्तुतयेऽनुमतिर्वा।

अर्थात् यह मन्त्र कर्मकी स्तुतिके लिए अथवा कर्मरतको अनुमति देनेके .लिए है।

बचपनमें मैं लोकमान्य तिलकका 'गीता-रहस्य' पढ़ता था। उसमें संत तुकारामके एक अभंगका हिन्दी अनुवाद था—

क्या द्विजाति क्या शूद्र ईशको वेश्या भी भज सकती है।
ईश-भजनमें वेश्याको भी शुचिता कब तज सकती है।

गीतामें आया है—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥ (गी० 4.36)

संसारके सब पापी एकत्र करो। उनमें-से वर्गीकरण करो—पापकृत्, पापकृत्तर, पापकृत्तम। इस पापकृत्तममें भी जो सबसे बड़ा हो उसके लिए भगवान्ने ज्ञानकी नौका ले ली है और वे घोषणा करते हैं—'वैदिको! वेदपाठ करते रहो! व्यापारियो व्यापारमें लगे रहो! सैनिको! युद्ध करते रहो! अपने-अपने काममें लगे रहो। हमारी ज्ञानकी नौका तुम्हें पार उतार देगी।' पापियोंके लिए भी श्रीकृष्ण कहते हैं—'हमारी ज्ञानकी नौका तुम्हें भी पार कर देगी।'

'**सर्वं ज्ञानप्लवेनैव**' इनमें '**एव**' का अर्थ है 'उपासनायोगादिनिरपेक्ष।'

गीताकी घोषणा है—'नाश उसका होगा, जिसकी बुद्धिका नाश हो जायेगा।'

बुद्धिनाशात् प्रणश्यति। (गी० 2.63)

गीता महान् बुद्धिवादी ग्रन्थ है। भगवान् जब किसी पर प्रसन्न होते हैं तो उसे बुद्धि देते हैं—

ददामि बुद्धियोगं तम्। (गी० 10.10)

× × ×

कुन्तीके द्वारा इन्द्र ही अर्जुनके रूपमें प्रकट हुए हैं। महाभारतके अनुसार श्रीकृष्ण ही इन्द्र हैं—

एष इन्द्रः, एष नारायणः।
सत्त्वमेकं द्विधा स्थितम्॥

एक ही सत्ता श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों रूपोंमें प्रकट है। लोकमें प्रसिद्ध है कि जीव ईश्वरकी आराधना करता है; किन्तु गीताके हृदयमें प्रवेश करो तो पता लगेगा कि ईश्वर सेवक है और जीवको उसने स्वामी बना रखा है। रथी जीव है और सारथि ईश्वर है। जीव आज्ञा देता है—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत। (गी० 1.21)

और ईश्वर आज्ञाका पालन करता है।

महाभारत-युद्धके उद्देश्यपर दृष्टि दो तो दुर्योधन बिना किसी लज्जाके छाती ठोंककर कहता है—

मदर्थे त्यक्तजीविताः। (गी० 1.9)

'ये सब लोग मेरे लिए जीवन-त्याग करने आये हैं।' दूसरी ओर अर्जुन कहते हैं—

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च। (गी० 1.33)

अपने लिए नहीं—'जिसके लिए हम राज्य, भोग और सुख चाहते हैं।'

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।

'मुझे अपने लिए राज्य, भोग या जीवन कुछ नहीं चाहिए। सबके लिए चाहिए।'

अब आप यहीं देख लें कि कैसी व्यस्तता आपको परमेश्वरकी ओर ले जायगी और कैसी व्यस्तता परमात्मासे विमुख करेगी। यह व्यस्तताके दो रूप हैं।

भगवान् तो कहते हैं—'कर्म करो।'

कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्। (गी० 4.15)

कर्मण्येवाऽधिकारस्ते । (गी० 2.47)

निकम्मे मत बनो। यहाँ भगवान् कोई यज्ञ करनेको नहीं कह रहे हैं। वे युद्ध करनेको कह रहे हैं।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।

मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥ (गी० 18.56)

'समस्त कर्म मेरे आश्रयसे सदा करते हुए मेरी कृपासे मनुष्य शाश्वत अव्यय पद प्राप्त कर लेता है।'

सदा, सब समय, सब कर्म करो।

एक घटना सुनी जाती है—मुसलमान खलीफा अलीने शत्रुको पटक दिया और उसकी छातीपर चढ़ बैठे। शत्रुको मारनेके लिए तलवार उठायी, तभी शत्रुने उनके मुखपर थूक दिया। खलीफाने तलवार म्यानमें डाली और शत्रुको छोड़कर उठ गये। लोगोंने पूछा—'हजरत! आपने यह क्या किया? दुश्मनको छोड़ क्यों दिया?'

अली—'पहले तो धर्मयुद्ध हो रहा था। इसने मेरे ऊपर थूका तो मुझे गुस्सा आगया। अब अगर मैं गुस्सेमें मारूँ तो धर्मयुद्ध कहाँ रहा? फिर तो मैं निजी बदला लेनेवाला बन जाऊँगा। गुस्सेमें मारना तो हत्या होगी।'

अतः हमको परमात्माकी ओर कैसा कर्म ले जाता है, इसपर ध्यान देना होगा।

अर्जुन युद्धकी व्यस्ततामें भी अपने सारथि-प्रेरक रूपमें परमात्माको देखता है। इसी प्रकार जो व्यस्त जीवनमें अपने प्रेरक रूपमें परमात्माको देखता है, वह सर्वत्र परमात्माको देखता है।

× × ×

मनुष्यके हृदयमें प्रवृत्ति रहती है। बिना प्रवृत्तिके मनुष्य नहीं रहता। प्रवृत्तिका अर्थ है कुछ करना। यही प्रवृत्ति जीवनका मूल है और यही जीवनमें होनेवाले सुख-दुःखका भी मूल है।

शरीरधारीको सुख-दुःख अवश्य होगा, चाहे वह अज्ञानी हो या ज्ञानी। समाधिमें सुख-दुःखका बोध भले न होता हो, समाधिसे उठने पर तो होता ही है। समाधिमें बाधा पड़नेपर दुःख होगा। वेद, शास्त्र, पुराण, सन्त आदि सबका यही अनुभव है।

न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरुपहतिरस्ति।

व्यक्ति है तो कुछ उसके अनुकूल पड़ेगा और कुछ प्रतिकूल पड़ेगा। एक

महात्मा हिमालयमें नंगे रहते हैं। भैंस-जैसा उनका चमड़ा मोटा हो गया है। सर्दी उनको सह्य हो गयी है; किन्तु जाड़ोंमें भी हरिद्वार आनेपर पसीनेसे तर रहते हैं।

शरीर है तो सर्दी गर्मी, निवास, वस्त्र, भोजन तथा संग-साथमें भी अनुकूलता-प्रतिकूलता रहेगी ही। संसारके सब व्यक्ति, सब वस्तुएँ, सब घटनाएँ हमारे मनोनुकूल ही हों, यह सम्भव नहीं है। सबके अभ्यास, संस्कार, शरीरके उपादान, विचार पृथक्-पृथक् हैं। दो बच्चे साथ-साथ धूपमें खेलते हैं। उनमें-से एक लू लग जानेसे बीमार हो जाता है और दूसरा नहीं।

एक महात्मा हिमालयमें वृक्षके नीचे ध्यान करने बैठे। वृक्षपर आकर कुछ पक्षी बैठ गये और शब्द करने—बोलने लगे। महात्माने उन्हें उड़ा दिया; किन्तु जब वे फिर बैठे तो पक्षी भी वृक्षपर आ गये। अब ध्यान करो या पक्षी उड़ानेमें लगे रहो। अत: जीवनके लिए यह बहुत आवश्यक है कि सहते चलो, आगे बढ़ते चलो। केवल सर्दी-गर्मी सहना पर्याप्त नहीं है।

अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः।

जब मनुष्यको अपने अशरीरीपनेका भान हो जायगा—यह ज्ञान हो जायगा कि शरीर न मैं हूँ, न शरीर मेरा है, तब उसे प्रिय-अप्रिय स्पर्श नहीं करेंगे। जबतक शरीरमें आत्मभ्रान्ति है, तबतक तो प्रियाप्रियका स्पर्श होगा ही। अशरीरावस्थाका अर्थ है मुक्तावस्था।

प्रवृत्ति ही जीवनमें दु:ख-सुखकी सृष्टि करती है। अत: विचारणीय है कि प्रवृत्ति कैसी होनी चाहिए। मनु कहते हैं कि दस बातें जीवनमें छोड़ दो तो प्रवृत्ति शुद्ध हो जायेगी।

1. दूसरेके स्वत्वकी वस्तु लेनेका विचार मनमें न आवे।

2. किसी दूसरेका अनिष्ट हो, ऐसा संकल्प मनमें न आवे।

3. अपना मन जिद्दी न हो। अपनेमें दुराग्रह न हो। जहाँ तक दूसरोंकी बात स्वीकार कर सकते हों, करते चलें। जब कोई बात धर्म, ज्ञान और युक्तिके विपरीत हो और उससे चाहनेवालेका ही अनिष्ट हो, तब तो उसे न मानें, किन्तु सामान्य बातोंमें हठ न करें।

ये तीन मानस व्रत मनुजीने बतलाये हैं—

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम्।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम्॥

(मनु० 12.5)

शरीरसे तीन बातें न करें। ये तीन दैहिक नियम ऊपर कहे नियमोंके ही बच्चे हैं—1. चोरी-बेईमानी 2. हिंसा 3. व्यभिचार।

चार बात वाणीसे न करें—1. झूठ न बोले। न बोलना (मौन) धर्म है। प्रसंगविशेषमें बोलना धर्म है, किन्तु झूठ न बोले। 2. चुगली न करें। यह महापाप है। 3. परुष वाणी—कठोर न बोले। 4. एकका दोष दूसरेसे न कहे।

इनमें-से चौथी बात ध्यान देने योग्य है। हम संसार भरके लोगोंकी ओर तो देखते हैं; किन्तु अपनी ओर देखना ही नहीं चाहते।

नरः सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यति।
आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यति॥

'मनुष्य दूसरोंके सरसों-जैसे छोटे छिद्र-दोषको देख लेता है; किन्तु अपने बेल बराबर भारी छिद्र-दोषको देखते हुए भी नहीं देखता।'

अतः अपने दोषोंपर ही ध्यान दो। बोलनेके सम्बन्धमें कुछ नियम हैं। 1. असम्बद्ध प्रलाप न करे। 2. बिना प्रसंग न बोले। वैसे कभी-कभी बिना प्रसंग बोलना पड़ता है; किन्तु इसमें बहुत विवेक आवश्यक है।

मैं एक बार मोटरसे यात्रा कर रहा था। तीन और व्यक्ति साथ थे। दोनोंने परस्पर धर्मकी चर्चा प्रारम्भ की; किन्तु उनमें मतभेद हो गया। मतभेदमें गर्मी आने लगी। चर्चा उग्र विवाद बनने जा रही थी कि तीसरा व्यक्ति बोला—'आज अमेरिकाका चन्द्रयान चन्द्रमा पर पहुँच गया।' यानके उतरनेका वर्णन किया उसने। इस प्रसंगान्तरसे दोनोंका विवाद अटक गया। इस प्रकार बुद्धिपूर्वक कभी-कभी प्रसंगान्तर उपस्थित करना भिन्न बात है, लेकिन सामान्य रूपसे बातचीतके चलते प्रसंगमें बाधा नहीं डालनी चाहिए।

मनुने कहा—'मनुष्यको कर्म करना चाहिए;किन्तु उस कर्ममें शुभ प्रवृत्ति होनी चाहिए, अशुभ प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए।

प्रवर्तनालक्षणा दोषाः।

यह देखो कि तुम्हारी प्रवृत्तिदोषपूर्वक—अधर्मपूर्वक तो नहीं है।

न्यायदर्शनके कर्त्ता महर्षि गौतम कहते हैं—

प्रवृत्तिसाधनौ धर्माधर्मौ।

धर्म और अधर्म दोनों प्रवृत्तिसे होते हैं। हम धर्म अधर्मका सम्बन्ध केवल स्वर्ग-नरकसे ही नहीं मानते, इस जीवनसे मानते हैं और बहुत अधिक मानते हैं। हमारे धर्मकी परिभाषा वैशेषिक दर्शनमें महर्षि कणादने इस प्रकार दी है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

'जिससे इहलौकिक अभ्युदय—उन्नति हो और मोक्षका पथ भी प्रशस्त हो, उसे धर्म कहते हैं।'

अभ्युदयका अर्थ है जीवनमें उन्नति और निःश्रेयसका अर्थ है बन्धन मुक्ति। देखना यह है कि कर्म करते-करते हम उन्नति करते हैं या अवनति? और उस कर्मसे हम बन्धनमें तो नहीं पड़ेंगे?

हम एक ओर प्रवृत्त होते हैं, तो देखना है कि हमारी प्रवृत्तिमें जो बाधा देगा, उसपर क्रोध आवेगा या नहीं। उससे द्वेष होगा या नहीं? बात दूरतक सोची जानी चाहिए।

इन्द्रियने कहा—'इधर चलो!' बिना सोचे मन उसके पीछे लग गया। बुद्धिने मनके पीछे चलकर उसका समर्थन कर दिया। तब आप मृत्युकी ओर जा रहे हैं। तब आप दुःखकी ओर जा रहे हैं। भगवान्ने गीतामें कहा—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन। (गी० 2.41)

व्यवसायका अर्थ है किसी कर्मके अन्तिम परिणामतक पहले ही पर्यवेक्षण कर लेना।

अवसानम् अवसायः, विशिष्टोऽवसायः—व्यवसायः।

बिना विचारके काम करना अव्यवसायात्मिका बुद्धिका कार्य है। व्यवसायात्मिका बुद्धि यह है कि किसी यात्रामें जहाँसे पैर उठाना है, जिस वाहनसे जाना है, जिस मार्गसे चलना है, मार्गमें जितने पड़ाव करने हैं, जो छाया-धूप, जल तथा मार्गकी सुविधा-असुविधा मिलनी है, जहाँ पहुँचना है और वहाँ पहुँचनेपर जो होना है, सबका विचार पहले ही कर लेते हैं।

बुद्धिपूर्वक पहले निश्चय होता है। तब मन निश्चयके अनुरूप संकल्प करता है। और तब इन्द्रियाँ उस संकल्पके अनुसार सक्रिय होती हैं।

मार्गमें कहीं जा रहे थे। दूकानपर कोई सुन्दर वस्त्र दीखा तो मनने कहा—'ले लो इसे।' पासमें पैसा नहीं है तो मन कहता है—'चोरी करो।' बुद्धि चोरीके उपाय सुझाती है। यह पतनका मार्ग है।

शीतऋतु आई। लगा—अब गरम कपड़ा चाहिए। घरसे पैसा लेकर चले और दूकानसे अपने पैसेके अनुसार वस्त्र ले आये। यह है व्यवसायात्मिका बुद्धि।

अशुद्ध मनपर अनुग्रह करनेवाली बुद्धि अव्यवसायात्मिका है और शुद्ध मनपर अनुग्रह करनेवाली बुद्धि व्यवसायात्मिका है।

आपको देखना है कि आप जो कर्म कर रहे हैं, उसमें आपको भीतरसे प्रेरणा देनेवाला कौन है—राम या काम? गीता इसका परिणाम बतलाती है कि आप कहाँ जायँगे?

'**त्रिविधं नरकस्येदं द्वारम्**' (गी0 16.21)

अपने व्यस्त जीवनमें जिस काममें लगनेके कारण आपने अपने सच्चिदानन्द स्वरूपसे दृष्टि हटा ली है, जिस काममें लगकर आप भजन नहीं कर रहे हैं या समाधि नहीं लगा रहे हैं, उस कर्ममें आप किसकी प्रेरणासे लगे हैं? आप भयप्रेरित होकर लगे हैं कि कहीं पुलिस पकड़ न ले अथवा शत्रु हानि न करे' इस भयसे आप द्वेषप्रेरित, पक्षपातप्रेरित, लोभप्रेरित, अभिमानप्रेरित अथवा अज्ञानप्रेरित उस काममें लगे हैं?

योगदर्शनकी भाषामें ये क्लिष्ट वृत्तियाँ हैं। भय, द्वेष, राग, अहंकार और अज्ञानप्रेरित काम है तो जीवनमें क्लेशके बीज आप बोते हैं।

हम चाहते हैं कि आप कर्म करें; किन्तु क्लेशसे बचकर करें। कर्मको क्लेशदायी बनानेवाला दोष आया है मिथ्याज्ञानसे। अतएव मिथ्याज्ञान—समझका दोष मिटानेके लिए तत्त्वज्ञान आवश्यक है। तत्त्वज्ञानसे मिथ्याज्ञान मिट जायगा। मिथ्याज्ञानके नष्ट होनेपर राग-द्वेष मिट जायँगे। राग-द्वेष मिटनेसे अशुभ प्रवृत्ति नहीं होगी। अशुभ प्रवृत्ति घट जानेसे जीवनमें दुःख घट जाते हैं।

धर्मका अर्थ क्या? आपको यात्रा करनी है। आप उत्तम स्थानपर जाना चाहते हैं, यह तो ठीक; किन्तु आपकी मोटरमें ब्रेक ठीक है या नहीं? ब्रेक ठीक भी हैं तो आप उन्हें लगाना जानते हैं या नहीं? यह जीवन गतिशील है। इसमें धर्म नियन्त्रण शक्ति है। हम जब चाहें तब हाथको कर्मसे, वाणीको बोलनेसे, पैरको चलनेसे, मनको संकल्प करनेसे रोक सकें।

धारणाद्धर्मः।

धारण करने—नियन्त्रण करनेकी शक्तिका नाम धर्म है। आप अपने मनको नहीं रोक सकेंगे तो अपनी हानि करेंगे। अपनी वाणीको नहीं रोक सकेंगे तो लोगोंको शत्रु बना लेंगे। अपने शरीरको नहीं रोक सकेंगे तो अपनी और दूसरोंकी भी हानि करेंगे।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ (गीता 2.44)

आपकी आसक्ति कहाँ है? नेता लोग कहते हैं—'हम कुर्सी नहीं छोड़ेंगे!' यह ऐश्वर्यासक्ति है। स्वामीपना-अधिकारी होना ऐश्वर्य है। भोगासक्ति है कि हमें ऐसा भोजन, ऐसे वस्त्र, ऐसी स्त्री, ऐसे वाहन, ऐसे भवन मिलने ही चाहिए।

यह भोगासक्ति या ऐश्वर्यासक्ति जीवनमें है तो क्लेश और बन्धन बने रहेंगे।

आपको कर्म करना है तो आपको उस कर्मके करनेकी रीति ज्ञात है? आप उस कर्मको करनेके अधिकारी हैं? उस कर्मको सम्पन्न करनेके साधन आपको उपलब्ध हैं? आप उस कर्मका फल जानते हैं? और वह फल हो, यह आपको अभीष्ट है? इन सब बातोंको ध्यानमें रखकर कर्म करना चाहिए।

× × ×

कर्म हाथसे होता है। हाथ अन्नमय कोश है। इसमें जो क्रियाशक्ति है, वह प्राणमय कोश है। कर्मका जो संकल्प है, वह मनोमय कोश है। समझ—बुद्धि विज्ञानमय कोश है। कर्मसे जो सुखी-दुःखी होता है, वह जीवात्मा है। विज्ञानमय कोशका साक्षी आत्मा है। इस आत्मामें जो

परिच्छिन्नताका भ्रम है, उसकी निवृत्तिके लिए ब्रह्मज्ञान आवश्यक है। ब्रह्मज्ञान होनेपर ये आत्मदेव अन्नमय, आदि सब कोशोंसे पृथक् हो जाते हैं। अत: भगवान् कहते हैं—

बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः। (गीता-2.49)

'अर्जुन! तुम बुद्धिकी शरण ग्रहण करो।'

आजकी भाषामें कहें तो—'धनका, सिफारिशका, पदका, पुलिसका सहारा मत लो। अपनी बुद्धिका सहारा लो।'

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते। (गीता-2.50)

बुद्धिमान् उसे कहते हैं जो कर्म तो करे पर पाप उसे दबा न सके और पुण्य अभिमानी न बना सके। पापाभिमान उसे नरक न ले जाय और पुण्याभिमान स्वर्ग न ले जाय। कर्म करके भी जो कर्मके परिणामसे बचा रहे, वह बुद्धिमान् है।

कर्म करनेवालेके जीवनमें चार व्रत अवश्य होने चाहिए—

1. कमलव्रत, 2. चन्दनव्रत, 3. इक्षुदण्डव्रत, 4. हेमव्रत।

1. कमलव्रत—कमल कीचड़से निकला पर कीचड़का एक कण साथ नहीं लाया। जलमें रहकर भी गीला नहीं हुआ।

2. चन्दनव्रत—घिसता गया, किन्तु अन्तिम कण तक सुगन्धि देता रहा।

3. इक्षुदण्डव्रत—दबाया गया, कसा-पेरा गया; किन्तु मीठा रस देता रहा।

4. हेमव्रत—जितना तपाया गया, चमकता गया। आभूषण बनकर तुमको सजायेगा ही।

× × ×

लोगोंके गीताके सम्बन्धमें विभिन्न मत हैं। कोई कहता है—गीतामें ज्ञानयोग मुख्य है। कोई भक्तियोग, कोई निष्काम कर्मयोग, कोई अनासक्तियोग, कोई समर्पणयोग, कोई पूर्णयोगको प्रधान बतलाते हैं; किन्तु गीतामें मुख्यरूपसे बुद्धियोगका ही वर्णन है।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धियोगेत्विमां शृणु। (गी० 2.39)

भगवान्ने दो प्रकारकी बुद्धि बतलायी है—1. सांख्यबुद्धि 2. योगबुद्धि।

जिनकी बुद्धि ऐश्वर्य या भोगमें आसक्त है, उनकी बुद्धि तो व्यवसायात्मिका नहीं है। उन्हें कर्मके अधिकार, फल, साधन, कर्त्तव्यादिका निश्चय ही नहीं है।

कोई सरकारी अधिकारी तो हो; किन्तु उसे अपने पद, अधिकार, कर्त्तव्य, वेतन, कार्यकाल, कार्यनिवृत्ति और पेन्शनका भी पता न हो तो वह जो भी काम करेगा, उसमें भूल-ही-भूल होगी।

मनुष्यको कर्म करना है तो उसे सब बातोंका पता रखना चाहिए।

कीजिये तो तब जब करिबे की रीति जानो।

मैं बचपनमें कोई अनुष्ठान करता था। अनुष्ठान-कालमें कोई सफलता नहीं हुई। पीछे मुझे उपाय सूझ गया और उससे वह काम हो गया। मैंने सोचा 'काम तो मेरी बुद्धिने किया, अनुष्ठानसे क्या लाभ? इसमें अनुष्ठानका क्या सम्बन्ध?'

मैंने अपने बाबा (पितामह)से पूछा। उन्होंने एक श्लोक मुझे दिखलाया—

न हस्ते यष्टिमादाय .वाः रक्षन्ति साधकम्।
यं तु रक्षितुमिच्छन्ति सुबुध्या योजयन्ति तम्॥

देवता हाथमें लाठी लेकर किसी साधकको रक्षा नहीं करते। देवता जिसकी रक्षा करना चाहते हैं, उसे सुबुद्धि दे देते हैं।

बाबाने कहा—'तुम्हें जो सद्बुद्धि आयी, यही अनुष्ठानके फलस्वरूप देवताकी कृपासे आयी। कृतघ्न मत बनो। पहले यह बुद्धि कहाँ गयी थी?'

एक व्यक्तिने अपना रोग मिटानेके लिए देवताकी पूजा की। एक व्यक्ति उसके पास आकर बोला—'यह दवा खा लो! रोग मिट जायगा।' उसने दवा खायी और रोग मिट गया। हुआ यह काम अमुकके दवा बतलानेसे; किन्तु उसके आनेमें देवताकी प्रेरणा है।

गीता आपको पराधीन नहीं बनाती। गीता आपको विश्वासके अन्धकारमें सुलाती नहीं। गीता जैसे आपको सद्बुद्धि मिले, वह मार्ग बतलाती है। आप जो काम कर रहे हैं, जो भोग-भोग रहे हैं, उसे आप सद्बुद्धिसे करें। जब मनमें चोरी, हिंसा, अनाचारकी इच्छा हो तो समझो कि यह शैतानकी प्रेरणा है। अब

दु:ख मिलनेवाला है। सद्बुद्धि आवश्यक है, जीवनके किसी भी क्षेत्रमें आगे बढ़नेके लिए।

आपका जीवन व्यस्त है। आप कर्ममें लगे हैं तो कर्मसे पाप या पुण्यमें कोई अवश्य बनता है। अभिमानसे पाप होता है। रागसे पक्षपात होकर पाप होता है। द्वेषसे हिंसा होती है। इस प्रकार राग-द्वेषसे बुरी प्रवृत्ति होती है।

वाल्मीकि जन्मसे ब्राह्मण थे। भीलोंके साथ रहनेसे लुटेरे बन गये। बच्चा जैसा बड़ोंको करता देखता है, वैसा करने लगता है। 'जैसा संग, वैसा रंग।'

जैसे केश न धोये जायँ, न सुधारे जायँ तो मलिन और बिखरे रहेंगे, इसी प्रकार कर्म यदि बुद्धिपूर्वक न सुधारे जायँ तो मलिन होंगे। हमारे जीवनमें दोषापनयन (दोष दूर करने) गुणाधान (अच्छे संस्कार डाले जाने) और हीनाङ्गपूर्ति (कमीको दूर करने)की आवश्यकता होती है।

एक मसा निकला, कटवा दिया, यह दोषापनयन है। कहीं गड्ढा है, भर दिया, यह गुणाधान है। अंगराग लगाकर कमी दूर की, यह हीनाङ्गपूर्ति है। यह जीवनमें आवश्यक है। इसे प्रकृति पर मत छोड़ो। यह अपने आप नहीं होता। इसी प्रकार अपने मनकी भी चिकित्सा आवश्यक है।

मैं एक बार तिरुपति गया। वहाँ एक ब्राह्मण मुझे मिला। मैंने उससे कहा—'मुझे प्यास लगी है।' वह झट जल लाया। मैंने जूते निकाल दिये, हाथ धोया और जल पिया। यह देखकर वह ब्राह्मण बोला—'आप संन्यासी होनेके पश्चात् भी आचारके पालनका ध्यान रखते हैं, हमारे यहाँके संन्यासी तो ऐसा नहीं करते। लगता है कि आप पूर्वाश्रमके ब्राह्मण होंगे। उसका संस्कार चित्तमें है।'

आचारो विनयो विद्या प्रतिष्ठा तीर्थदर्शनम्।
निष्ठा वृत्तिः तपो दानं नवधा कुललक्षणम्॥

मनुष्य जैसे कुलमें उत्पन्न होता है। उसके संस्कार उसमें नौ रूपोंमें विद्यमान रहते हैं—1. आचार, 2. विनय, 3. विद्या, 4. प्रतिष्ठाका विचार, 5. तीर्थ, 6. निष्ठा, 7. जीविका, 8. तप तथा 9. दान।

'हम उत्तम गुरुके शिष्य हैं, अच्छे पिताके पुत्र हैं, अमुक आश्रमके

निवासी या अमुक सम्प्रदायके हैं' इसका विचार करके भले लोग अपनी प्रतिष्ठाका ध्यान रखते हैं।

आपको केवल दूसरोंपर विश्वास करना ही नहीं है, लोकव्यवहारमें दूसरोंका विश्वास प्राप्त करना है। आपके विषयमें लोगोंकी ऐसी धारणा नहीं बननी चाहिए कि 'ये ऋण लेकर देना नहीं जानते। हाथ लगे सो हड़प।'

इसी प्रकार प्रत्येक कुलका एक तीर्थ होता है, निष्ठा होती है, तप—सहनशक्ति होती है और दानकी एक क्षमता होती है। इन नौसे व्यक्तिके वंशका पता लगता है।

एक पुरानी कथा है कि एक शेरनीने एक अनाथ गीदड़का बच्चा पाल लिया। वह शेरनीके बच्चोंके साथ रहकर अपनेको भी शेर मानने लगा। एक दिन शेरनीके बच्चोंके साथ वनमें घूम रहा था। अचानक एक हाथी उधरसे निकला। शेरनीके बच्चे तो हाथीसे भिड़ गये; किन्तु गीदड़का बच्चा भागा और शेरनीके पास जाकर बोला 'माँ! मेरे भाई बड़े मूर्ख हैं। वे वनमें चलते-फिरते पर्वतसे टकरा रहे हैं।'

शेरनी हँसकर बोली—

शूरोऽसि कृतविद्योऽसि दर्शनीयोऽसि पुत्रक।
यस्मिन्कुले त्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते॥

'मेरे नन्हें मुन्ने! तुम शूर हो, चतुर हो और सुन्दर भी हो; किन्तु जिस कुलमें तुम उत्पन्न हुए हो, उसमें हाथीका शिकार नहीं किया जाता।'

अर्जुनके हृदय पर उनके सत्कुलका संस्कार है। इसीसे अर्जुनको पापका बड़ा भय है—

पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः। (गी. 1.36)

आज तो मनुष्य-जीवन इतना विडम्बनामय हो गया है कि व्यक्ति प्रत्येक काम करनेमें देखता है—'इसमें मुझे लाभ क्या होगा?'

वृन्दावनमें श्रीहाथीबाबा प्रसिद्ध महात्मा थे। खूब लंबा विशाल शरीर था, गौर वर्ण था, चित्रकूटके वनोंमें बहुत दिन रहे थे। उन दिनों वृन्दावनमें घूमते रहते थे। कभी-कभी मेरे पास भी आजाते थे। एक दिन वे घूमते हुए मेरे

पास आ बैठे। उसी समय कलकत्तेके एक मारवाड़ी सेठ आये और उन्होंने मुझसे पूछा—'राम राम करनेसे क्या लाभ है?'

श्रीहाथीबाबाजी बोल पड़े—'यह बनियाँ लगता है।'

सोचना चाहिए कि क्या निष्काम कर्म नामक वस्तु मर गयी? हमारे जीवनमें क्या निष्काम कर्मके लिए कोई स्थान ही नहीं है?

हमारे वैदिक धर्मानुसार प्रत्येक द्विजातिके लिए नित्य सन्ध्यावन्दनका विधान है। यह निष्काम कर्म है। प्रातः स्नान करके पूर्वाभिमुख बैठ गये और प्रारम्भ किया—

ऋतं च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। (ऋग्वेद)

इससे आपको आसनसे बैठनेका अभ्यास होगा।

मेरा हाथ कंधेसे ऊपर उठना बन्द हो गया था। कबसे बन्द हुआ, मुझे पता ही नहीं था। एक वैद्य आये और बोले—'स्वामीजी! स्पष्ट बात कहूँ?'

मैं—'कहिये।'

वैद्यजी—'आप यदि भगवान्‌को प्रतिदिन साष्टाङ्ग प्रणाम करते होते तो हाथके रोगका उसी दिन पता लग जाता, जिस दिन प्रारम्भ हुआ था। एक वर्षसे यह रोग है और आपको पता ही नहीं लगा।

सन्ध्याके समय मन्त्र बोले जाते हैं—

यद्रात्र्या पापमकार्षं मनसा वाचाहस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना।

यह प्रातः सायं स्मरण आया करेगा कि हाथसे, पैरसे, पेटके लिए या उपस्थके लिए हमने कोई पाप तो नहीं किया? सायं प्रातः उस दोषको स्मरण करके मिटा देनेकी वृत्ति बनी रहेगी।

यदुच्छिष्टमभोज्यं च यद्वा दुश्चरितं मम।
सर्वे पुनन्तु मामापो असतां च प्रतिग्रहम्॥

मैंने जो जूठा, अखाद्य खा लिया हो, जो अकरणीय किया हो, जो असत्पुरुषोंसे दान-सहायता ली हो, उससे जल मुझे पवित्र करे।

प्रतिदिन इस मन्त्रको दुहरानेका अर्थ है कि स्मरण रहे कि यह सब पाप है।

सन्ध्याके समय आप सिले कपड़े उतारकर खुली हवामें खड़े होते हैं,

प्रकाशका आदर करते हैं, सबमें परमात्मा है, यह भाव मनमें बनता है, जीवनके दुश्चरित्र छोड़नेका संकल्प होता है, यह क्या पर्याप्त नहीं है कि इसके लिए आप प्रतिदिन पाँच मिनटका समय दें। इससे पैसा, पद या भोग नहीं मिलेगा और स्वर्ग भी नहीं मिलेगा; किन्तु निष्काम कर्मका आदर्श मिलेगा इससे।

अन्योन्यमभि ह रज्यत वत्सं जातमिवाघ्न्यः उशतीरिव मातरः।

जैसे गाय सद्योजात बछड़ेसे प्रेम करती है, जैसे श्रेष्ठ माता पुत्रसे प्यार करती है, वैसे अपने हृदयको प्यारसे भरकर परस्पर प्यार करो।

सन्ध्या-वन्दनकी यह प्रेरणा क्या जीवनके लिए अत्यन्त महत्वकी नहीं है?

आजकल तो श्राद्धमें ब्राह्मण-भोजन कराकर उसे वस्त्र-दक्षिणा देनेका समय आता है तो लोग अपने रसोइयेको ही भोजन करा देना चाहते हैं, जबकि श्राद्धमें निःस्वार्थ भावसे विद्याजीवी, बुद्धिजीवी ब्राह्मणको भोजन कराना चाहिए।

श्रीचैतन्यमहाप्रभुसे किसीने पूछा—'श्रीकृष्ण नाम लेनेसे क्या लाभ?

महाप्रभु बोले—'यह प्रश्न तो मेरे मनमें कभी आया ही नहीं।'

'तब आप नाम क्यों लेते हैं?'

महाप्रभु—'यह स्वभाव बन गया है।'

महाराज जनकके वंशमें 22 जनक जीवन्मुक्त हुए हैं। एक जनकको स्वर्ग जाना था। जब स्वर्ग जानेका समय आया तो धर्मराजके दूत आये। उन्होंने कहा—'आपके जीवनमें पुण्य ही पुण्य हैं; किन्तु एक सामान्य दोष भी हुआ है। इसलिए आपको नरकके मार्गसे स्वर्ग जाना है। नरकको केवल देखते जाना है आपको।'

राजा जनक चले। नरकके पास पहुँचे तो बहुत क्रन्दन सुनायी पड़ा। राजा जनकने धर्मराजके दूतोंसे पूछा—'यह क्रन्दन कैसा है?'

दूत—'ये नरकमें पड़े प्राणी चिल्ला रहे हैं।'

सहसा क्रन्दन बंद हो गया और चारों ओरसे पुकार आने लगी—'महाराज जनक रुकिये! कृपा करके दो क्षण रुकिये।'

जनकने पूछा—'क्रन्दन रुक गया और यह पुकार आने लगी ऐसा क्यों?'

दूत—'महाराज! आप महान् धर्मात्मा हैं। आपके शरीरसे लगकर जो वायु नरकमें पड़े प्राणियों तक जाती है, उससे उनके कष्ट शान्त होते हैं। इससे वे सब आपके रुकनेको कह रहे हैं।'

जनक—'आप सब पधारो। मेरे यहाँ रहनेसे इन प्राणियोंका कष्ट घटता है तो मैं यहीं रहूँगा।'

इससे दो बात प्रकट हुई। 1. नरक पापियोंको पापके फल-स्वरूप मिला;किन्तु सत्संगकी वायु इतनी शुद्ध है कि नरकमें भी उन्हें शान्ति देती है। 2. पापी पापमें रत रहकर फल-पर्यन्त पाप करनेवाले हैं तो भी सत्संग उन्हें सुख-शान्ति दे सकता है अर्थात् सत्संगसे पापका फल भोगे बिना पापसे छुटकारा मिल सकता है।

धर्मदूत—'महाराज, आप परम धर्मात्मा हैं। आप यहाँ कैसे रह सकते हैं?'

जनक—'मैंने जितने सत्कर्म किये हैं, सबका पुण्य इन सब पापियोंको मैं दे रहा हूँ।'

जनकके इस संकल्पसे क्या हुआ? पापियोंको तो उनका पुण्य मिल गया; किन्तु क्या जनक पुण्यसे बच जायँगे?

उसी समय वहाँ धर्मराज स्वयं आ गये और बोले—'महाराज! अब पधारें।'

जनक—'मैंने अपने सब पुण्य तो दान कर दिये।'

धर्मराज—'सब पुण्य दान करनेका जो पुण्य हुआ, वह तो सबसे अधिक है।'

जनक—'मैंने वह भी इन पापियोंको दिया।'

इतनेमें भगवान् नारायण प्रकट हो गये और बोले—'जनक! तुम जैसा दयालु जहाँ रहेगा, मुझे भी वहीं रहना होगा। वैकुण्ठ वहाँ रहता है जहाँ मैं रहता हूँ।'

वैकुण्ठ उतर आया वहाँ। वहाँके प्राणी भगवत्पार्षद हो गये।

यह आपने सुना होगा कि कर्मफल भोगे बिना नष्ट नहीं होता।

'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।

लेकिन सत्संगकी महिमा अनन्त है। यदि दुःखके समय मनुष्य सत्संगमें जा बैठे तो दुःख कम हो जाता है, यह प्रत्यक्ष है। पापके फलसे प्राप्त जो शोक, भय, चिन्ता, वह भी घट जाती है। इस प्रकार फलसे बच गये।

मेरी जन्मभूमिके गाँवसे गङ्गाजी दो मील दूर हैं। मेरे एक मामाजी नियमसे प्रतिदिन गङ्गास्नान करने जाते थे। उन्होंने मुझे बचपनमें जब मैं 5 वर्षका था— एक श्लोक याद कराया था—

यदा मनुष्याः प्रचलन्ति गङ्गां रुदन्ति पापानि मिथो वदन्ति।
अहो कृतघ्ना मनुजा नृलोके स्वयं कृतान्येव विनाशयन्ति॥

मनुष्य जब गङ्गास्नानके लिए चलता है तो उसके पाप रोने लगते हैं और परस्पर कहते हैं—'अरे ये मनुष्य बहुत कृतघ्न हैं। ये स्वयं हम लोगोंको उत्पन्न करते हैं और फिर नष्ट कर देते हैं।'

मैं पूछता—'मैं जब स्नान करने चला तो मेरे पाप रोते हैं क्या?'

मामा—'अभी तो रोते हैं। जब तुम गङ्गामें प्रवेश करोगे तो तुम्हें छोड़कर बाहर तुम्हारे कपड़ोंमें बैठे रहेंगे। पाप गङ्गामें प्रवेश नहीं करते। जब तुम कपड़े पहनोगे तो फिर तुम्हें लग जायँगे।'

यह बात तो बचपनकी है; किन्तु यह तो आप सब देखते-जानते हैं कि सत्संग रूपी गङ्गामें जब आप आते हैं तो आपको दुःख देनेवाले भाव, व्यक्ति भी सत्संग-स्थानसे बाहर ही रह जाते हैं।

× × ×

आप किसी बीमारके समीप जाकर उसे भगवल्लीला सुनावें। समझमें आवेगी तो वह रोगकी पीड़ा भूल जायगा और समझमें न आवेगी तो उसे नींद आ जायगी। दोनों प्रकारसे उसे सुख मिलेगा।

चार कारणोंसे रोग होते हैं—1. बहुत अधिक श्रमसे 2. अत्यन्त प्रियके वियोगसे 3. जो नहीं चाहते उसके मिलनेसे 4. देहमें कफ-वात-पित्त धातुओंकी विषमतासे।

पचहत्तर प्रतिशत रोग मनमें भय, चिन्ता, राग-द्वेष आनेसे होते हैं—

मानसं च क्रियास्थानैः।

अब भगवच्चर्चा करो रोगीके पास—वंशीवट तट, नटनागरके मोर मुकुटकी लटक, पद पटकन, मटकनकी चर्चा करो। पापसे आया जो दुःखरूप फल है; वह मिट जायगा।

मनमें जो काम, कोध, लोभ, भय आते हैं; ये पापके पूर्वरूप हैं। ये आवें तो उपनिषद्, गीता, रामायणका स्वाध्याय करो, सत्संगमें चले जाओ या प्राणायाम करो, ये मिट जायँगे।

व्यवहारका नियम है कि अच्छा काम अभी करो और बुरा काम कलपर छोड़ दो। संस्कृतमें एक पुस्तक है 'शुकसप्तति' उसका वर्णन है कि कोई पुरुष विदेश जाने लगा तो एक तोता अपनी पत्नीके पास छोड़ गया। पत्नी विलासिनी थी। संयम जब नहीं कर सकी तो रात्रिमें शृङ्गार करके कहीं जाने लगी। तोता बोला—'आप एक कहानी सुन लो तब जाओ।'

कहानीमें बुरे काम करनेका दोष बतलाया गया था। कहानी सुनकर उस स्त्रीने सोचा,—'अच्छा, आज रहने दो।' वस्त्र बदलकर सो गयी। दूसरे दिन भी यही हुआ और प्रतिदिन यही होता रहा। वह जब घरसे सजधजकर जाने लगती तो तोता एक कहानी सुनकर जानेको कहता। कहानी सुनकर स्त्रीका मन बदल जाता। इस प्रकार 70 दिन बीते और तब उस स्त्रीका पति लौट आया।

इस प्रकार बुरे कामको कलपर टाल दो। पापके फल दुःखसे, निमित्तसे तो भगवच्चर्चा बचाती है। पुण्यसे बचना आपके हाथमें है। अपराध करके दण्डसे नहीं बचा जा सकता; किन्तु सरकार पुरस्कार दे तो अस्वीकार किया जा सकता है। पुण्यका फल आप बाँट सकते हैं।

× × ×

तत्त्वज्ञान होना या ईश्वरपर भरोसा करना भी एक सिद्धि है और यह सबको नहीं प्राप्त होती। मेरे एक मित्र हैं, बड़े विद्वान, तीक्ष्णबुद्धि, वृद्ध हैं। वे कहते हैं—' जो जन्मता है, वह मरता है, यह नियम अकाट्य है। **'यज्जन्यं तदनित्यं यद् दृष्टं तन्नष्टम्'** कुछ अणुओंके संयोग और आत्मदेवकी सन्निधिसे जन्म हुआ है। जब कण-अणु विखर जायँगे तब मृत्यु हो जायगी; परन्तु जो

मरता है, वह उत्पन्न होता ही है, ऐसा कोई नियम नहीं है। लोकमें ऐसा कहीं देखा नहीं जाता। अत: सब साधन-भजन इस जीवनको ही व्यवस्थित करनेके लिए बुद्धिरूप हैं।'

वे मित्र धर्मशास्त्र, उपासनाशास्त्र, योगशास्त्र, ज्ञानशास्त्र सबकी व्याख्या इसी जीवनके लिए करते हैं। वे धर्माचरण, ईश्वर-भजन, समाधि, तत्त्वज्ञानको करणीय—प्राप्तव्य मानते हैं; किन्तु सबको इस जीवनको ठीक चलानेका उपाय मानते हैं।

आप पूछेंगे—'तब क्या हम अपना जीवन ठीक नहीं चला रहे हैं ?'

इसका उत्तर आपको अच्छा नहीं लगेगा। जब आपको स्वयं अपने जीवनमें कोई असन्तोष नहीं लगता, तब दूसरा आपको बतावे कि आप असन्तुष्ट हैं, अज्ञानी हैं, जन्म-मरणके भयसे सन्त्रस्त हैं—यह बात समझमें नहीं बैठती।

स्वयं विचार करना चाहिए—'क्या हमारा जीवन पूर्ण है ? क्या हमारे जीवनमें असन्तोष नहीं है ? क्या हम अन्धकारमें नहीं भटक रहे हैं ? क्या हमारे जीवनमें दु:ख नहीं है ?'

जब स्वयं ये प्रश्न उठेंगे तो इनका समाधान जो होगा वह अकाट्य होगा। अविचल होगा। जैसे एक ज्योतिषीने आपको शनि-राहु अरिष्ट बताया और इनकी शान्ति बतलायी। न आपने ग्रहारिष्ट देखा, न ग्रहशान्तिका फल अनुभव किया। केवल अध्यारोप-अपवाद हुआ। इसी प्रकार मृत्युभय, नरकभय, स्वर्ग या लोकान्तरगमन लोभाभिभूत चित्तमें अध्यारोपित हैं। अमुक साधन-अनुष्ठानसे उसका अपवाद होता है। योग, धर्मशास्त्र, भक्ति, वेदान्त— सब इसी प्रकार अध्यारोप करके अपवाद करते हैं। इससे मृत्युभय, द्वेष-जलन, राग, अभिमानकी निवृत्ति हो जाती है।

न धन-हरणका नाम दु:ख है, न जन-मरणका नाम दु:ख है। न संयोग दु:ख है, न वियोग दु:ख है। दु:ख होता है मनमें। मन निर्मल तो दु:ख नहीं। मन निर्मल करनेको कैसा जीवन व्यतीत करना चाहिए, यही बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते। (गीता 2.50)

यह कैसी बुद्धि है? कर्म तो जितने होते हैं, सब प्रतीकात्मक होते हैं। एक व्यक्तिने एक ब्राह्मणको देनेके लिए जेबमें-से नोट निकाले। कई नोट निकल आये। उनमें-से नये नोट जेबमें रख लिये और पुराने दे दिये। बात साधारण है। ब्राह्मणको जो नोट मिले उनका मूल्य एवं उपयोग नये नोटोंसे कम नहीं है; किन्तु देनेवालेके भावमें त्रुटि है। यह दानमें गये पुराने नोटका मैल उसके मनको मैला करेगा।

अपने शास्त्रोंमें वर्णन है कि ब्रह्मचारी शिष्य जब गुरुसे 12 वर्ष उसके आश्रममें रहकर वेदाध्ययन पूरा कर ले और समावर्तन संस्कार होने लगे तो गुरुको दक्षिणा दे। क्या दक्षिणा दे? जो उसकी शक्तिमें हो—एक फूल, एक सुपारी, एक नारियल तक। वस्तुका मूल्य नहीं होता, श्रद्धा या भावका मूल्य होता है।

निष्काम भावकी बात आज बहुत कही जाती है। क्या आप चोरी-बेइमानी-घूसखोरी निष्काम भावसे कर सकते हैं? क्या निष्काम भावसे व्याभिचार या हिंसा होना सम्भव है? यदि वासना न होती तो ये पापकर्म आप करते ही क्यों? आप अपनेको धोखा देते हैं जब पापकर्म करके उसे निष्काम बतलाते हैं।

बुरे कर्मोंकी तो यह गति है। अब अच्छे कर्मको लें। एक व्यक्ति पढ़ता है। पुस्तक पढ़ना कोई फल नहीं है। पुस्तकमें कही गयी बात—विद्याका अधिगम होना पढ़नेका फल है। कोई पढ़ता हो और सोचे—'समझमें आये या न आये, पढ़ें।' जब समझमें नहीं लाना चाहते तो पढ़ते क्यों हो? पुण्यके लिए। तब तो पुण्यरूप फल चाहते हो। यदि समझनेको पढ़ते हो तो भी फल चाहते हो। व्यापार करके लाभ चाहते हो या नहीं? ऐसे ही सत्कर्ममें भी फलकी इच्छा रहती है। इसमें बुद्धिमानी क्या है?

योगः कर्मसु कौशलम्।

कर्म करनेकी एक ऐसी प्रणाली है, एक ऐसा कौशल है कि कर्मका लेप न हो। कर्म करनेका नैपुण्य, वैदग्ध्य या चातुरी यह है कि वस्तुका सौन्दर्य तो बने ही, कर्ताके हृदयका सौन्दर्य भी ठीक-ठीक बने।

पहले मेरे घरका काम करने बढ़ई आते थे। वे जिस दिन आते, मैं उस

दिन पढ़ने नहीं जाता। उनको काम करते देखता। बसूला चलाना होता तो वे लकड़ी देख लेते कि इस लकड़ीपर कितने जोरसे बसूला मारना। यह कर्मका कौशल है।

आप दाल बनाते हैं, यदि दाल लग गयी तो सिद्ध हो गया कि उसे बनानेमें आपने पूरा मन नहीं लगाया। इसलिए जो भी काम करें—यदि वह अपनी आत्मतृप्तिको करते हैं तो यह ज्ञान हो गया। यदि करनेमें मन एकाग्र होता है तो योग हो गया। यदि भगवत्सेवाका कर्म करते हैं तो भक्ति हो गयी। यदि काम ठीक-ठीक कर रहे हैं तो धर्म हो गया।

कर्म कोई छोटा नहीं होता। आपने जब दाल पकाना छोटा कर्म माना और नेत्र बन्द करके बैठना बड़ा माना तो आपने कर्म ब्रह्मका तिरस्कार किया। कर्म भी ब्रह्म है। अत: जो भी कर्म किया जाय उसमें कर्त्ताकी सन्तुष्टि, उद्देश्यकी पवित्रता, कर्ममें एकाग्रता और कर्मका सुचारु होना आवश्यक है।

आप कोई काम कर रहे हैं और सोच रहे हैं—'मरनेके बाद हम स्वर्ग जायँगे। वहाँ विमानमें बैठकर देवोद्यानमें घूमेंगे। अप्सराएँ मिलेंगी। अमृत पीनेको मिलेगा।' तब आपका मन गया स्वर्ग घूमने और काम बिगड़ गया।

दाल पकानेमें पाप है या पुण्य—यह ऊहापोह छोड़ो। बुद्धिमत्ता और सावधानीसे दाल पकाओ। यदि केवल दाल पकाना ही तुम्हारा उद्देश्य है तो यह काम श्रम हुआ। श्रम उसे कहते हैं जो बाहरी वस्तुओंको बनाता है। धर्म वह है जो अन्त:करणको बनाता है।

कपड़ेके कारखानेमें एक व्यक्ति कपड़ा बनाता है और एक मशीन बिगड़नेपर उसे ठीक करता है। दोनोंकी आवश्यकता कारखानेको हैं; किन्तु मशीन सुधारनेवालेका महत्त्व अधिक है।

एक ड्राइवर केवल मोटर चलाना जानता है—सुधारना नहीं जानता। बिगड़नेपर वह मोटरको ठीक नहीं कर सकता। जो मोटरको ठीक करना जानता है, उससे भूल होनेकी सम्भावना नहीं है। बिगड़नेपर वह मोटर बना लेगा। अपना यह शरीर भी यन्त्र है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

(गीता-18.61)

यह शरीर रेडियो यन्त्रके समान है। इसमें मन सुई है। यह मनकी सुई नरकपर लग जाती है तो आप गंदी बातें सोचने लगते हैं। स्वर्गपर लग जाती है तो आप धर्मकी बातें सोचते हैं। वैकुण्ठपर लग जाती है तो आप भगवान्‌के गुण, चरित-चिन्तन करने लगते हैं।

मुझे एक महात्माने बचपनमें बतलाया था—'जीवनमें जितने विचार मनमें आते हैं ये सब समष्टिसे आते हैं। रेडियो-तरंगोंके समान विचार-तरंगें आकाशमें फैली हैं। समुद्रकी धाराओं, वायुकी धाराओंके समान विचारकी धारायें भी आकाशमें बहती रहती हैं। आप अपने मनकी सुई जहाँ लगा देते हैं, वहाँके विचार अन्तःकरणमें स्फुरित होते हैं।' पूर्वमीमांसाका मत है कि शब्द नित्य है।

पापीकी पहचान है, दुःखी रहना। दुःख पापका फल है। पाप करते समय उससे डरते तो पाप न करते। पाप तो हो चुका। दुःख पूर्वकृत पापका फल है। दुःख है अर्थात् आप अपने आनन्द-स्वरूपको नहीं पहचान रहे हैं।

पापोंकी दूसरी पहचान है मनमें वासना होना। वासना है अर्थात् आप अपने ज्ञानस्वरूपको नहीं पहचान रहे हैं। 'यह चाहिए, वह चाहिए' करके वस्तुओं में सुख-दुःख मान रहे हैं।

पापीकी तीसरी पहचान है अभिमानसे भरपूर होना। पापका अर्थ है दुःख+वासना+अभिमान। दुःख पापका फल है। वासना पापकी प्रेरक है। अभिमान पापका आधार है।

चार्वाकके मतमें भी अपने जीवनको सुखी रखना इष्ट है। जीवन सुखी रखना है तो जिस कामसे भय, दुःख, अयश होता हो; वह काम नहीं करना चाहिए।

यदि आप भक्ति-मार्गमें चल रहे हैं तो निर्भय, आशावान् रहिये कि भगवान् हमारी सहायता कर रहे हैं। भले सैनिक अकेला युद्धक्षेत्रमें हो और घायल होकर गिर गया हो, फिर भी वह बन्दूकसे गोली चलाता

रहता है; क्योंकि उसे आशा है—'मेरा सेनापति मेरी सहायताको सेना भेज रहा है।'

ईश्वरपर विश्वास करना मनकी दुर्बलता नहीं है। ईश्वरपर विश्वास आत्मबल है। ईश्वरपर भरोसा आपको निकम्मा बनानेके लिए नहीं है। यह समझानेके लिए है कि यह पूरा संसार, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, ग्रह-नक्षत्र और इन सबमें छिपी शक्ति आपकी सहायता कर रही है। ईश्वरका अर्थ है सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् अर्थात् शक्तियुक्त ज्ञान। मैं उसके अनुकूल कार्य करता हूँ तो वह अवश्य मेरी सहायता करेगा।

योगाभ्याससे अन्तःकरणमें छिपी शक्तियाँ—सिद्धियाँ प्रकट होती हैं।

बौद्धोंका शून्यवाद कहता है—'परस्पर सब सापेक्ष है। अतः कर्त्तव्य-पालनमें लगे रहो।'

वेदान्त कहता है—'आत्मा तो असंग, अविनाशी, अद्वितीय है। देहको कर्ममें लगने दो।'

कर्मका विरोधी कोई सिद्धान्त नहीं है। कर्ममें आलस्य-प्रमादका आना तमोगुण है।

यह भी कर्मका एक कौशल है कि यदि कर्म-परिवर्तित होता रहे तो कभी कोई थकता नहीं। उपनिषद् पढ़ते-पढ़ते थक गये तो पुराण पढ़ने लगे। उससे थके तो काव्य पढ़ने लगे। विषय परिवर्तित करते जावें—थकेंगे नहीं।

× × ×

पहले महात्मा लोग अद्भुत मस्तीमें रहते थे। अपने मनमें पहले बड़ा आग्रह था—

'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।'

मैं प्रायः कहता—सोचता था—'उपासना तो एक प्रकारका मानसकर्म है। उससे मुक्ति नहीं मिल सकती। धर्म देह एवं भावसे मिलकर होनेवाला कर्म है, उससे मुक्ति नहीं मिल सकती। दान-तप आदि कर्म ही हैं। ये मुक्ति नहीं दे सकते। बन्धन एक मानस-ग्रन्थि है। अतः उसका निवारण उसके ऊपरी स्तरपर रहनेवाले प्रकाशके द्वारा ही सम्भव है।

मेरी बात सुनकर एक महात्माने कहा—'पण्डितजी! यह तो सोचो कि जिसको तुम लोग ज्ञान कहते हो वह बुद्धिका कर्म है या नहीं? शरीरसे होनेवाले शास्त्रानुकूल कर्मका नाम धर्म है। मानस कर्मका नाम भक्ति है तो बौद्धिक कर्मका ही नाम तत्त्वज्ञान है या नहीं? ज्ञानके लिए 'तत् पदार्थ, त्वं पदार्थ और इनके वाच्यार्थका विवेचन-कार्य बुद्धि करती है या नहीं? लक्ष्यार्थ एक ही है यह निश्चय बुद्धिका कार्य है। तुम कहते हो कि अविद्याकी निवृत्ति कर्मसे नहीं होती, तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य-वृत्तिसे होती है, पर जिसमें जन्यता है, वह बुद्धिका कर्म है या नहीं?'

कर्म जब भगवान्के लिए होता है तो उसे भक्ति कहते हैं। यों उद्देश्यको पकड़कर भक्तिको तुमने मुक्तिका साधन बनाया। भक्ति मानसकर्म है। निर्विशेषके अवगमनके लिए बुद्धिसे अध्यारोप-अपवाद करके उसे जाना, यह बौद्धकर्म हुआ। इस प्रकार जब हम कहते हैं—'कर्मसे मुक्ति होती है, तब ज्ञानको भी कर्मकोटिमें ले लेते हैं। उसे बौद्ध कर्म मानते हैं। हम कहते हैं—भक्तिसे मुक्ति होती है, तब धर्म और ज्ञान दोनोंको भक्तिके अन्तर्गत ले लेते हैं। इसी प्रकार जब हम कहतें हैं ज्ञानसे मुक्ति होती है, तब भक्तिको भी एक ज्ञान और धर्मको भी एक ज्ञान मानकर बोलतें हैं। ज्ञान भी ब्रह्मविषयक होनेसे एक भक्ति है। अत: शब्दको लेकर विवाद व्यर्थ है। शब्दके प्रयोगका महत्त्व नहीं है। वक्ताके विवक्षित अर्थपर ध्यान देना चाहिए।

× × ×

मनुष्यको चाहिए कि अपने जीवनमें ऐसा कर्म करे जिससे दु:खी न हो, वासना-जालमें न फँसे और अभिमानमें न जकड़े।

अपनेसे किसीको नीचा समझना तो अभिमान है ही, अपनेसे किसीको ऊँचा समझना भी अभिमान ही है। अपनेको निरभिमान समझना, यह भी अभिमान है।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्म-बन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥

(गीता-2.51)

बुद्धिमान् लोग बुद्धिपूर्वक कर्मसे उत्पन्न फलको त्यागकर जन्म-मरणके बन्धनसे छूट जाते हैं और अनामय-निर्विकार पदको प्राप्त करते हैं।

अतः बुद्धियुक्त हो मनीषी बनो। मनीषाका अर्थ है मनको अपने वशमें रखना। जो बुद्धि मनको चलाती है, वह मनीषा है।

जब कुछ अच्छा समझकर मन कहीं जाता है, कुछ करना चाहता है तो देखा कि वस्तुके सौन्दर्यने मनको आकृष्ट किया है या बुद्धिने वैसा करनेका आदेश दिया है। वस्तुने मन-इन्द्रियोंको खींचा है तो यह पथ अनिष्टकर है।

आप मनमें यह सिद्धान्त बैठा लीजिये कि—आप हैं तब दूसरेका अस्तित्व जान सकेंगे। आपमें ज्ञान है तब आप दूसरोंको जानेंगे। आपमें सुख है तब आप दूसरोंको सुखी जानेंगे।

यदि दूसरेंमें-से ज्ञान आवेगा तो ज्ञान पराधीन होगा। यदि दूसरेमें-से सत्ता आवेगी तो हमारी सत्ता पराधीन होगी। यदि दूसरेसे आनन्द लेंगे तो हमारा सुख पराधीन होगा।

मनुष्य जीवनमें बुद्धिको मत छोड़ो। जो अपने अधिकार-योग्यता और कर्त्तव्यको देखे बिना कर्ममें लगते हैं, वे अपनी शान्ति खो देते हैं। जिसे वृक्षपरसे उतरना न आवे, वह वृक्षपर चढ़ जायगा तो गिरेगा।

पत्नी-पुत्र, माता-पिता, पद-प्रतिष्ठा, धन-भवन तथा शरीरमें किसीसे इतना मोह नहीं होना चाहिए कि दूसरोंकी उपेक्षा हो—दूसरोंको कष्ट हो। मोह और बुद्धियोग परस्पर विरोधी हैं। आप कर्म कीजिये। पर मोहसे वशीभूत होकर मत कीजिये। बुद्धियोगानुसार कीजिये। जिसका किसीसे मोह होता है, वह पक्षपात करता है। मनुष्य मोहवश धर्म त्यागकर कर्त्तव्य-विमुख हो जाता है।

काम करते समय मनुष्यको तीन बातोंका ध्यान रखना चाहिए। 1. अपने लिए उस कर्मका क्या परिणाम होगा? 2. समाजपर उसका क्या प्रभाव पड़ेगा? 3. उससे ईश्वर प्रसन्न होगा या नहीं?

संसारमें कुछ काम बुद्धिपूर्वक होते हैं और कुछ अबुद्धिपूर्वक। जैसे हम औषधि बुद्धिपूर्वक खाते हैं और रोग अबुद्धिपूर्वक आता है। बुद्धिसे हम स्वास्थ्यकी ओर चलते हैं, अबुद्धिसे रोगकी ओर।

बुद्धि-अबुद्धिकी बात छोड़कर जो सामने आवे उसमें मनको सम रख लेना—जो हो गया उसमें सम रहे, इसका नाम आत्मबल है।

यदि आप आत्मामें स्थित रहेंगे तो बुद्धि आपके साथ रहेगी। यदि आप प्रतिकूलतामें धैर्य छोड़ देंगे और अनुकूल होनेपर अभिमानसे फूल उठेंगे तो बुद्धि आपका साथ छोड़ देगी। आत्मबल बिना बुद्धिमें स्थिरता नहीं आवेगी। बुद्धिमें स्थिरता आये बिना कोई सुखी नहीं हो सकता।

मेरे एक परिचित सज्जन कलकत्तेमें रहते थे। सेठ थे। जीवनमें बहुत ऊँचा-नीचा उन्होंने देखा था। मुझसे बोले—'एक करोड़ रुपया हो जाय तो सबका सब धर्म-प्रचारमें लगा देंगे। मोटरकारें लेकर गाँव-गाँवमें धर्म-प्रचारकी व्यवस्था करेंगे।'

उस समय उनके पास 56 लाख रुपये थे। पीछे उन्होंने सट्टा किया। ऐसा घाटा लगा कि मकान भी बिक गया।

इसका अर्थ है कि जो तुम्हारे पास इस समय है, यदि उसका सदुपयोग नहीं करोगे और कमाकर सदुपयोग करनेकी बात सोचोगे तो कभी भी धनका सदुपयोग नहीं कर सकोगे। जो वर्तमान क्षण अच्छे काममें न लगाकर कलका समय अच्छे काममें लगाना चाहते हैं, वे कल भी अच्छा काम कर सकेंगे, इसका कोई आश्वासन नहीं है।

मेरे कलकत्तेके एक परिचित सेठके पुत्र घरसे मोटर लेकर निकले। चौरंगीपर मोटरदुर्घटना हो गयी। उनका सिर कुचल गया। पुलिसने उनके घर फोन किया। सेठ बोले—'साफ-साफ कहो, यदि वह जीवित है तो उसे अस्पताल ले जानेका प्रबन्ध करके आवें और मर गया है तो श्मशान ले जानेकी व्यवस्थासे आवें। एक बार बुलाओगे और तैयारी करने हमको लौटना पड़ेगा, ऐसा मत करो।'

पुलिसने बता दिया कि मृत्यु हो चुकी है। सबको सूचना देकर, श्मशान जानेकी तैयारी करके वे आये। चिता जलने लगी और अन्तमें जब सब लोग स्नान करने लगे तो वे गंगामें थोड़ी गहराईमें चले गये। लोग डरे—'कहीं आत्महत्या न कर लें।'

वे बोले—'व्यर्थकी बात आप सब क्यों सोचते हैं? मेरे मरनेसे तो बीती

घटना द्विगुण हो जायगी। बीतीको छोड़ें। आगेकी सोचें। अब जो रह गये हैं उनके प्रति अपना कर्त्तव्य देखना है।'

यह एक कर्मका आदर्श है। कभी धन-हरण और कभी जन-मरण तो होगा ही। इसमें जो मोहमें न पड़कर करणीयपर विचार करते हैं, उनकी बुद्धि स्थिर है।

यदा ये मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥ (गीता 2.52)

'जब तुम्हारी बुद्धि मोहके दलदलसे पार हो जायगी तब तुम अबतकके सुने-समझे और आगे जो सुनना है, उससे भी उपरत हो जाओगे।'

यह बहुत बड़ी बात है। 'तुमने जो अबतक शास्त्र, संत, बड़ोंसे सुना है और आगे जो सुनना तुमको शेष है, उन सबसे तुमको वैराग्य हो जायगा।'

इसमें न अपने सम्प्रदायका मोह है, न अपने धर्मग्रन्थका, न आचार्यका, न मान्यताका। ऐसी बात भगवान् ही कह सकते हैं।

किसीको जातिसे मोह होगा तो वह अन्य जातिसे द्वेष करेगा। मनुष्य जातिसे मोह करनेवाले कुत्ते, बंदर, चूहे, सर्पादिसे द्वेष करते हैं। लोग अपने सम्प्रदाय, अपने ग्रन्थकी रक्षाके लिए अन्यकी निन्दा करते हैं। धर्म-सम्प्रदायसे परे केवल ईश्वर कह सकता है—'बुद्धिको मोहके दलदलसे पार होने दो, तब श्रुतस्य—सुने हुएको स्मरण रखना आवश्यक नहीं होगा और श्रोतव्यस्य—आगे जो सुनना है, उसका सुनना आवर्श्यक नहीं होगा।'

मुझे श्री पाण्डुरङ्ग शास्त्रीजी मिले। वे एक ग्रन्थ लिख रहे थे। कई शङ्काएँ उन्होंने कीं। बोले—'वेदका अतिक्रमण होता है या नहीं? वेदका अतिक्रमण होना लिखा है; किन्तु यह तो अवैदिकता हो जायगी।'

मैंने कहा—'यह अवैदिकता नहीं होगी, क्योंकि वेदमें ही लिखा है कि अमुक अवस्थामें वेदका अतिक्रमण हो जाता है।'

यह केवल वेदका उद्‌घोष है। दूसरे किसी धर्म-सम्प्रदायका ग्रन्थ नहीं कह सकता कि 'अमुक अवस्थामें हमें मानना आवश्यक नहीं होगा।'

हमारा धर्म, हमारा ज्ञान मनुष्यको ऊपर उठाता है। वेद-वेदसे ऊपर

उठाता है। धर्म-धर्मसे ऊपर उठाता है। यदि सम्प्रदायका, ग्रन्थका, जातिका आग्रह बना रहा तो अपने आचारका आग्रह भी बना रहेगा।

'मुह् वैचित्त्ये' चित्तका विपरीत हो जाना मोह है। दुःखको सुख, अनात्माको आत्मा, अनित्यको नित्य, अपवित्रको पवित्र समझ लेना ही मोह है। यह बुद्धिका दोष है। इस दोषको दूर करना ही चाहिए।

मोह=मा-नहीं+उह-उधेड़बुन=जिसमें उधेड़बुन—ऊहापोह नहीं, विचार-शक्तिका लोप हो गया है, उसे मोह कहते हैं।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला। (गीता 2.53)

बात यह हुई कि तुमने स्वयं विचार नहीं किया, जन-श्रुतियोंके चक्करमें पड़ गये। कहीं कुछ सुना, कहीं कुछ—नियमसे कुछ नहीं सुना।

साधक चाहे जिस मार्गसे चले, पर आवश्यक है कि मार्ग बदले नहीं—जबतक कि मार्ग शिखर (लक्ष्य) पर न पहुँचे। चार दिन राम, चार दिन श्याम, चार दिन शिव, चार दिन शक्ति या गणपतिकी उपासना करते, मार्ग बदलते रहे तो कुछ होनेवाला नहीं है।

ब्रह्मलीन महामण्डलेश्वर स्वामी शुकदेवानन्दजी एक दृष्टान्त दिया करते थे—एक गाँवमें एक किसान रहता था। उसने अपने खेत जोते और उनमें चना बो दिया। चनेके अंकुर निकले तो एक व्यक्ति आया और बोला—'ऐसा उत्तम खेत क्या चना बोने-योग्य है? इसमें तो गेहूँ बोना था। अब भी कुछ बिगड़ा नहीं, गेहूँ बो डालो।'

किसानने चना जोत दिया और गेहूँ बो दिया। गेहूँमें अंकुर आनेको हुआ तो कोई और आ गया और बोला—'इस खेतमें गेहूँ तो हो नहीं सकता; झट-पट जौ बोओ।'

इस प्रकार कभी चना, कभी गेहूँ, कभी जौ और कभी मटरके लिए पहले बोया वह जोतता-उलटता रहा। फसल उगनेका समय निकल गया। खेतमें कुछ भी नहीं हुआ।

परमहंस रामकृष्णजीने पहले एक मार्गसे लगकर साधना की और परमात्माको प्राप्त किया। इसके बाद अनेक मार्गोंकी साधना करके देखा तो परिणाम एक ही निकलनेवाला था।

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

(शिवमहिम्न: स्तोत्र)

जितना पानी बरसता है, नाले-नदियोंमें होकर कोई सीधे और कोई टेढ़े मार्गसे चलकर पहुँचता समुद्रमें ही है। ऐसे ही जितने पंथ, जितने सम्प्रदाय, जितने संत, सब परमात्मातक पहुँचनेका ही मार्ग बतलाते हैं। इसलिए किसीसे द्वेष मत करो। किसीकी बनी श्रद्धाको बिगाड़ो मत। किसीका चला मार्ग नष्ट मत करो।

× × ×

आपका चेतन यदि निष्क्रिय, निर्विचार है तो जड़सत्तासे उसमें क्या अन्तर है?

यदि जड़सत्ता स्वयम्भू—स्वयं नानाकारधारिका है तो स्वयंप्रकाशसे उसमें क्या अन्तर है?

आपका अनुभवस्वरूप यदि आनन्द है और उसमें भोग-भोग्यताका भेद नहीं है तो निर्विशेष चेतन एवं निर्विशेष सत्तासे उसमें क्या अन्तर है?

इसलिए कोई सत्ताद्वैत कहे, ज्ञानाद्वैत कहे या आनन्दाद्वैत कहे, अन्तर क्या पड़ता है? अन्तर तो '**श्रुतिविप्रतिपन्ना**' बुद्धिका है। लड़ाई दो समझदारोंमें नहीं होती। दोमें एक भी समझदार हो तो लड़ाई नहीं होती। लड़ाई तब होती है जब दोनों नासमझ होते हैं।

मूर्तिका खण्डन करनेवाले कहते हैं—'ईश्वर सर्वव्यापक है; किन्तु मूर्तिको छोड़कर।'

तुम सुन-सुनकर दलीय पक्षपातमें फँस गये हो। 'गंगा गये गंगादास, यमुना गये यमुनादास।' दृढ़ होकर एक मार्गपर चलते नहीं।

मेरे एक भक्त कहते थे—'स्वामीजी! मैं और आप तो एक ही हैं, अब जो मेरी मौज होगी सो करूँगा।'

वस्तुत: यह अपनेको धोखा देना है। जबतक व्यावहारिक जीवनमें दोनों पृथक्-पृथक् हैं, तबतक गुरु-शिष्य पृथक्-पृथक हैं।

अद्वैतं त्रिषु लोकेषु नाद्वैतं गुरुणा समम्।

तीनों लोकोंमें—दृश्यमात्रमें अद्वैतभाव हो जानेपर भी गुरुके साथ अद्वैत नहीं होता। गुरुके सामने जानेपर बुद्धि कृतज्ञतासे झुक जाती है।

× × ×

आप कर्म कीजिये; किन्तु भय, दुःख, अज्ञानसे अभिभूत मत होइये। बुद्धिको भ्रष्ट करनेवाली 15 बातें हैं। उनमें भी आप व्यवहारमें भूल न करें, इसके लिए 7 बातें मुख्य हैं।

1. आपका सुख अपनेमें रहे, परायेमें न रहे। सुख परायेमें रहेगा तो समयपर नहीं मिलेगा।

एक मित्रने कई लाखका आभूषण पच्चीस-तीस सहस्रमें गिरवी रख दिया। उनके घरमें लड़कीका विवाह पड़ा। जिसके पास गिरवी रखा था, उससे बोले—'थोड़े आभूषण दे दीजिये तो कन्याका विवाह हो जाय। आपके पास फिर भी बहुत मूल्यके आभूषण रहेंगे।'

गिरवी रखनेवालेने स्पष्ट कह दिया—'रुपये देकर सब ले जाओ। वैसे मैं कुछ नहीं दूँगा।'

बड़ी कठिनाईसे रुपयोंकी व्यवस्था करके उन्होंने आभूषण छुड़ाये।

1. **प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।**
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ (गीता 2.55)

जिसके मनमें कामना है, उसका सुख अन्यके पास गिरवी है। 'इतना रुपया मिले, ऐसा मकान हो, अमुक पद मिले, ऐसी स्त्री हो तब सुखी होंगे।' ऐसा सोचनेवाला सुखी नहीं रह सकता।

कामना निवृत्त होनेपर बुद्धि ठीक होती है, तब मनुष्य सुखी होता है।

इसके भी दो भेद हैं। उत्थिताकांक्षा दुखद नहीं होती। उत्थाप्याकांक्षा दुखद होती है।

इच्छा हुई, मिट गयी—यह उत्थिताकांक्षा है। इससे दुःख नहीं होता। जो इच्छा हम आगेकी करते हैं, उसमें दुःख होता है। इच्छासे उद्वेगकी सृष्टि होती है। उद्वेगसे प्रयत्नातिशय होता है। इससे हम परेशान हो जाते हैं।

2. **आत्मन्येवात्मना तुष्टः।** (गीता 2.55)

आप अपने आपमें सन्तुष्ट हैं या नहीं? आप घर रहकर सुखी होना चाहते हैं या दूसरेके घर जाकर सुखी होना चाहते हैं? दूसरेके घर जाकर सुखी होना चाहते हैं तो आप सुखी नहीं हो सकते।

3. **दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः।** (गीता 2.56)

जिसमें सहनशक्ति नहीं है, वह सुखी नहीं रह सकता। दुःख आया है तो जायगा भी। जब आप दुःखको अपना सम्बन्धी बनाते हैं 'मैं दुःखवाला' तभी दुःख टिकता है। आप उसे सम्बन्धी न बनावें तो वह चला जायगा।

दुःख आता तो है क्षणभरको, पर मनुष्य उसे रोक लेता है—'हे साथी! रुको।'

दुःख प्रारब्धसे, प्रकृतिसे—चाहे जिससे आया मानो, अनदेखे स्थानसे आता है।

अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः।
न तस्य त्वं न चासौ ते तत्र का परिदेवना॥

अनदेखे स्थानसे आया, अनदेखे स्थानपर चला गया। न तुम उसके, न वह तुम्हारा, इसमें दुःखी होनेकी क्या बात है।

नैयायिक, मीमांसक, वेदान्ती सब इसे अदृष्ट ही कहते हैं।

मनुष्यको प्रेम और शत्रुता दोनों दुःख देते हैं। एक संयोगमें दुःखी करता है तो दूसरा वियोगमें। एक प्रसन्न होकर गाली देता है तो दूसरा रूठकर।

दुःखके निमित्त प्राकृत हैं, ईश्वरके या प्रारब्धके दिये हैं, इस बातको छोड़कर यदि देखो तो 'मैं दुःखी हूँ' यह भ्रान्ति है। इसी प्रकार 'मैं सुखी हूँ' यह भ्रान्ति ही है।

एक बार मैं नर्मदा किनारे जा रहा था। कई लोग साथ थे। श्मशानमें कई कुत्ते भूँकने लगे। अपने साथके भी एक सज्जन कुत्तोंकी नकलकर भूँकने लगे। एकने कुत्तोंको गाली दी। मैंने कहा—'तुम भी इन कुत्तों जैसे मूर्ख हो।'

कहीं राग मत करो। अपना व्यवहार मधुर रखो। दर्पणके समान रहो। जो उसमें दीखता है, दीखने दो; किन्तु सामनेसे हट जाय तो कोई छाया,

संस्कार मनमें मत आने देना। इस प्रकार यदि बुद्धि ठीक रहे तो कर्ममें ब्रह्म दीखे।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्। (गीता 3.15)

मनुष्यका नाश बुद्धिनाशसे ही होता है, अन्यथा नहीं होता।

बुद्धिनाशात् प्रणश्यति। (गीता 2.63)

इसलिए भगवान्ने आदेश दिया—

बुद्धौ शरणमन्विच्छ। (गीता 2.49)

तुम अपना निवास बुद्धिको बनाओ।

शरणं गृहरक्षित्रोः।

तुम मन, इन्द्रिय तथा विषयोंमें मत रहो, समझदारीके साथ रहो।

'**बुद्धौ शरणं रक्षकम् इच्छ**' तुम्हारा रक्षक बाहर कहीं नहीं है। वह तुम्हारी बुद्धिमें बैठा है। अतः बुद्धिको स्थिर करना चाहिए।

बुद्धि नष्ट होती है काम, अतृप्ति, राग, उद्वेग, स्पृहा, भय और क्रोधसे। अतः इन सातपर विचार किया जा रहा है।

हमारे यहाँ संविधानकी महत्ता है। **मर्यैः मनुष्यैरादीयत इति मर्यादा।** मनुष्यको जिसे स्वीकार करना आवश्यक है, उसको मर्यादा कहते हैं।

अमर्यादित काम बुद्धिको मर्यादाभ्रष्ट करता है। एक बार यदि आपने मर्यादा भङ्गकी तो चाहे जब किया करोगे। मर्यादित काम बुद्धिके अनुसार चलता है और अमर्यादित काम बुद्धिको भ्रष्ट करता है। इसलिए स्थिर बुद्धिके लिए पहली बात कही—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्। (गीता 2.55)

रामके वशमें रहो, कामके वश मत रहो।

दूसरी बात कही गयी—

आत्मन्येवात्मना तुष्टः। (2.55)

इसमें काम-त्यागसे विशेषता है। यदि बाहरी वस्तुके सौन्दर्यसे मन आकृष्ट हुआ तो वह काम है; किन्तु भीतर ही अभावानुभव करके बाहर जाता है तो यह असन्तुष्टि है।

बाहर दूकानपर मिठाई देखकर खानेका मन ही गया, यह काम

है। घरमें दाल कच्ची रह गयी तो और कहीं भोजन करने चले, यह असन्तोष है।

यदि जीवनमें असन्तोष है, अपना कुछ पसंद नहीं है—इसलिए बाहर जाना है तो यह अतृप्त होकर बाहर जाना बुद्धि भ्रष्ट करेगा। यह मिथ्याज्ञानका कार्य है। अपने आत्मदेवके सौन्दर्यका अनुभव न करके ही आप बाहर जाते हैं।

तीसरी बात है कि बुद्धि स्थिर—व्यवसायात्मिका होनी चाहिए। आपका निश्चय स्थिर है या नहीं? मन तो अस्थिर है। इन्द्रियोंमें संस्कार बना रखनेकी शक्ति नहीं है। वासना कहाँ होती है? मनमें? नहीं, मन भी चञ्चल है। मनमें कुछ आना एक बात है और उसे करना सर्वथा भिन्न बात है। हम जब कुछ बुद्धिपूर्वक करते हैं, तब संस्कार बनता है। अर्थात् जहाँ कर्त्तापन और भोक्तापनका अभिमान है वहीं संस्कार बन जाता है।

आपके जीवनमें दुःखका निमित्त न आवे, यह इच्छा ही मूर्खता है। शरीरका ऐसा प्रारब्ध नहीं हो सकता कि शरीरमें रोग आवें ही नहीं। गर्मी-सर्दी न लगे, ऐसा शरीर कैसे होगा? शत्रु सम्मुख न आवे या मित्र पास ही बना रहे, यह सम्भव नहीं। मकान पुराना न पड़े, मोटर न टूटे, चलते-फिरते ठोकर न लगे, यह असम्भव चाह है। दुःखके निमित्तको कोई मिटा नहीं सकता।

मेरे एक उच्चपदस्थ मित्रकी पुत्री अपने पति एवं तीन बच्चोंके साथ मोटरमें जा रही थी। दुर्घटना हुई। पति और बच्चे मारे गये। उसका शरीर तीन स्थानसे टूट गया। आगरेके अस्पतालमें एक वर्ष पड़ी रही। एक सत्संगी उसे देखने गये तो बोले—'बहन, तुम पर ईश्वरने ऐसा वज्र क्यों गिराया? तुम तो भजन करनेवाली हो।'

वह पड़े-पड़े ही बोली—'आप यह क्यों नहीं देखते कि ईश्वरने मेरे हृदयमें कितना धैर्य दिया है!'

सत्संगका काम प्रारब्ध बदलना नहीं है। जो घटना होनेवाली है, उसे बदला नहीं जा सकता। सत्संगका काम हृदयको ऐसा बनाना है कि दुःख हमें दुखी न कर सके। सत्संग हृदय-निर्माणका कारखाना है।

दुःखके निमित्तको कोई रोक नहीं सकता। दुःखाकार वृत्तिको रोकनेका उपाय है। वह उपाय या तो भगवदाकार वृत्ति बनना है—केवल भगवान्‌से ही प्रेम रहे या योगाभ्याससे वृत्ति खाली कर देना है। लेकिन इनसे विलक्षण उपाय है कि बुद्धिकी भूल मिट जाय।

निमित्त ईश्वरेच्छासे, प्रारब्धसे, संयोगसे या प्रकृतिसे आते हैं। इनको हम रोक नहीं सकते। लेकिन यह हो सकता है कि इनका प्रभाव वृत्तिपर न पड़ने दें। बुद्धिकी भूल मिटा दें तो घटना चाहे जैसी रहे और वृत्ति चाहे जैसी रहे। जो हो रहा है,होने दो। जो कहा जाय, सो कहा जाने दो।

हम लोग एक महात्माके दर्शन करने गये। गर्मी बहुत थी। हम पाँच-सात व्यक्ति पैदल चलकर गये थे। वे महात्मा कुटियामें थे। बोले—'आओ! भीतर आ जाओ!' फिर हँसकर बोले—'बाहर गर्मी हो—दुःख हो तो भीतर-द्रष्टा भावमें हो जाओ।'

मेरे एक परिचित महात्मा हैं। गंगोत्तरीमें रहते हैं। कभी वस्त्र नहीं पहनते। मैंने उनसे पूछा—'महाराज, आपको शीत ही नहीं लगती?'

वे बोले—'पहले तो मुझे बहुत कष्ट हुआ। यहाँसे भाग जानेको जी चाहता था, फिर धीरे-धीरे अभ्यास हो गया। मैंने महिम्नः स्तोत्रका पाठ किया—

त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च।

सोचता—'प्रभु, आज तुम शीत बनकर आये हो! आज शीत्छ तुम्हीं बने हो! इससे सर्दी भी मेरे लिए ईश्वर बन गयी।'

महाकवि कालिदासने कहा है—

कस्यैकान्तं सुखमुपगतं दुःखमेकान्ततो वा।
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण॥

(मेघदूत उत्तर. 52)

किसे एकमात्र सुख-ही-सुख जीवनमें मिला है या केवल दुःख-ही-दुःख मिला है। रथके पहियेकी भाँति जो भाग ऊपर है, वह नीचे और नीचेका भाग ऊपर क्रमशः घूमता ही रहता है। अतः दुःखमें उद्विग्न मत हो।

गाँवमें महामारी आयी। एक व्यक्ति मरा तो लोग बहुत दुःखी हुए। उसे लेकर सौ व्यक्ति श्मशान गये। दूसरा मरा तो श्मशान 90 व्यक्ति गये। तीसरा

मरा तो लोग इकट्ठे भी नहीं हुए। फिर तो चार व्यक्ति उठाकर लाश गंगामें डाल आने लगे। न कोई रोता, न कोई चर्चा करता। दु:खका स्वभाव है कि पहली चोट कड़ी करता है। तुम सह निकलो तो तुम कठोर हो जाओगे और दु:ख हल्का पड़ जायगा।

4. **सुखेषु विगतस्पृहः**। (गीता 2.56)

स्पृहा तब होती है, जब कोई वस्तु सुखद लगती है। सर्वोत्तम स्थिति यह है कि आवश्यकता नहीं है। इच्छा नहीं है। पास है नहीं। कोई देगा तो लेंगे नहीं।

आवश्यकता नहीं है, पर देखकर इच्छा हो गयी। माँगा नहीं, पर किसीने दिया तो ले लिया;किन्तु पास नहीं रखा। यह मध्यम स्थिति है और पास रख लिया यह तीसरी स्थिति।

जिससे सुख मिलनेवाला है, उसे बनाये रखनेकी इच्छाका नाम स्पृहा है। इस पृथ्वीपर आकर तो श्रीसीताराम,श्रीराधा-कृष्ण भी साथ नहीं रह सके। पृथ्वी घूमती है, सूर्य-चन्द्र घूमते हैं। जब आप घूमते ब्रह्माण्डचक्रमें कुछ पकड़कर स्थिर रखना चाहते हैं तो दु:ख मिलता है।

स्पृहा छोड़ो। स्पृहासे बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। एकके कपड़ेमें आग लगी। उसने कपड़ा खोलकर छप्परपर फेंक दिया। उद्वेगसे व्याकुल-बुद्धि मनुष्य यह सोच नहीं सका कि 'मैं क्या कर रहा हूँ?' घर जल गया। फेंकते समय सावधान होता तो वह भी बचता और घर भी बच जाता।

5-6-7. **वीतरागभयक्रोधः**। (2.56)

रागी, भयभीत और क्रोधी-ये तीनों बुद्धिमान नहीं रह सकते। एक दिन दो व्यक्ति मोटरपर बैठने लगे तो उनमें झगड़ा हो गया—'हम दाहिने बैठेंगे।' बात यह थी कि दाहिनी ओर सड़कपर उनका कोई प्रिय व्यक्ति मिलनेवाला था। रागवान् पक्षपाती होता है। फलतः वह अपने रागपात्रके लिए औरोंसे क्रूरता करता है।

भयसे बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, यह बहुत स्पष्ट बात है। जिससे आपको डर लगता है, उसके सामने अच्छी प्रकार याद बात भी भूल जाती है।

कं सुखं रुणद्धि इति क्रोधः।

जो हमारे हृदयमें बहती सुखकी धाराको रोक दे, उसे क्रोध कहते हैं। क्रोध तब व्यक्त होता है जब आप किसीका अहित करना चाहते हैं। यह बुद्धिको भ्रष्ट करता है। बच्चे या स्वजनका दोष दूर करनेके लिए जान-बूझकर जो क्रोध किया जाता है, वह तो क्रोध नहीं, क्रोधका नाट्य-मात्र है।

× × ×

अपने सुख, अपने ज्ञानको नष्ट कर देना भी आत्महत्या ही है। इसी प्रकार अपनेको दूसरेके अधीन कर देना आत्महत्या है।

तुम्हारे जीवनमें सुख ऐसा होना चाहिए जिसमें भोगकी आवश्यकता न हो। ज्ञान ऐसा होना चाहिए जिसमें दूसरेकी सहायता अपेक्षित न हो। तुम्हारा जीवन ऐसा होना चाहिए जो पराधीन न हो।

सर्व परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद् विद्यात्समासेन लक्षणं सुख-दुःखयोः॥

थोड़ेमें सुख-दुःखका यह लक्षण समझना चाहिए कि पराधीन सब दुःख है और स्वाधीन सब सुख है।

मनुष्य पराधीन कैसे होता है—यह एक मानसिक प्रक्रिया है। हम मद्रासमें एक स्थानपर ठहरे थे। वह मार्ग एक ओर जानेका था। सीधे चले तो मुख्य मार्गतक जानेमें बहुत चक्कर पड़ता था। ड्राइवर कहता था—'मैं गाड़ीको पीछेकी ओर चलाकर पहुँचा देता हूँ। गाड़ीका मुख आगे रहेगा तो कानून नहीं टूटेगा।' जीवनमें मनुष्यको इस प्रकार कभी आगे, कभी पीछे, कभी दायें, कभी बायें, कभी ऊपर, कभी नीचे जाना पड़ता है। कभी मार्ग अच्छा मिलता है, कभी खराब। मार्गकी अच्छाई देखकर रुकना या चौंककर पीछे हटना ठीक नहीं है।

बद्रीनाथ मार्गमें अनेक सुन्दर दृश्य आते हैं। कई बार मार्गदर्शक कहता है—'रुको मत! यह दृश्य देखने रुकोगे तो वर्षा, तूफान आवेगा। बरफ पड़ सकती है। ठहरनेके स्थानपर देरसे पहुँचोगे तो धर्मशालामें स्थान नहीं मिलेगा।'

कालकी धारामें बचपन गया, यौवन आया। यह भी रुकनेवाला नहीं

है। काले बाल सफेद होंगे ही। तुम सात-आठ पौंडके उत्पन्न हुए थे। अब शताधिक पौण्डके हो। इस कालधारामें बहते जा रहे हो।

अवश्यम्भाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि।
तदा दुःखैर्न युज्येरन् नलरामयुधिष्ठिराः॥

यदि अवश्य होनेवाली बातोंका कोई प्रतिकार होना सम्भव होता तो राजा नल, भगवान् श्रीराम और महाराज युधिष्ठिर जैसे समर्थ, धर्मात्मा, प्रतापी लोगोंको दुःख कैसे हो सकता था? अतः जो होनेवाला है, उसे रोका नहीं जा सकता।

नाभिनन्दति न द्वेष्टि—चलते चलो, यह भी न रहेगा। गङ्गाका जल जैसे बदलता रहता है, वैसे ही कमलका दल और पल भी बदलता है। किसी भी काल, वस्तु और व्यक्तिमें आसक्ति मत करो।

पहले भगवान्ने कहा—'दुःखमें उद्विग्न मत हो और सुखकी स्पृहा मत करो।' वही बात '**नाभिनन्दति न द्वेष्टि**'में नहीं कह रहे हैं। यहाँ कह रहे हैं कि जिसका फल सुख है, उस शुभका अभिनन्दन और जिसका फल दुःख है, उस अशुभसे द्वेष मत करो।

एकने कहा—'मुझे संसारमें कोई पसन्द नहीं है।'

यहाँ प्रश्न है—'संसारमें कोई अच्छा नहीं है, इसलिए तुम्हें पसन्द नहीं है या तुम्हारी बुद्धि इतनी बिगड़ गयी है कि उसे कोई पसन्द ही नहीं आता?'

काशी विद्यापीठमें एक बार साहित्य-सम्मेलन हुआ। एक करोड़पति सेठको उसका सभापति बनाया गया था। उनके बोलनेका समय आया तो मारवाड़ीमें बोले—'आपने मुझे सभापति नहीं बनाया है, मेरे पैसेको बनाया है। अतः पैसा मैं दे दूँगा; किन्तु मैं जानता नहीं कि साहित्य क्या होता है? यहाँ क्या हुआ—मेरी समझमें कुछ नहीं आया।'

बिना समझे हम किसीका अभिनन्दन करते हैं तो उससे बँध जाते हैं। ऐसे ही बिना समझे किसीसे द्वेष करते हैं तो उससे बँध जाते हैं। जो दोनोंसे बचकर निकल जाता है, उसकी बुद्धि ठीक है।

संसारके बहुत अधिक दुःख तो नासमझीसे होते हैं। मनुष्य रोटी खाता रहता है और रोता रहता है—'दस दिन बाद मेरे बच्चे क्या खायेंगे?'

जो दु:ख बीत गया, उसके लिए क्या दुखी होना और जो आया ही नहीं, उसके लिए दुखी होना भी नासमझी है। जो बीत रहा है, वह बीत रहा है। वह टिकनेवाला नहीं है।

× × ×

आप अपने हाथ-पाँव-जीभको हिलनेसे रोक सकते हैं या नहीं? जब आपका हाथ या जीभ आपके वशमें नहीं है तो पुत्र कहाँसे वशमें रहेगा। आप अपनेको तो रोक नहीं पाते, अपने वशमें नहीं रख पाते, औरोंको वशमें रखना चाहते हैं। मनुष्यको ऐसा अभ्यास करना चाहिए कि जब चाहे तब अपनेको रोक सके।

बचपनकी बात है। दो-चार मित्र अभ्यास करने लगे। चींटी जा रही थी। एक बोले—'हम सोचते हैं कि यह दाहिने मुड़े। मुड़ जा दाहिने!' वह मुड़ गयी। चींटी दीवारपर चढ़ रही थी। वे बोले—'मैं आज्ञा देता हूँ—लौट!' एक दिन नहीं, दो दिन नहीं, लेकिन पीछे उनका अभ्यास ऐसा हो गया कि चींटी उनकी इच्छानुसार चलने लगी।

मेरे एक मित्र छायापुरुष सिद्ध करने लगे। संकल्प ऐसा दृढ़ था कि जो स्थिति 40 दिनमें होनी चाहिए 20 दिनमें हो गयी। उसी रात स्वप्नमें भगवान् आये और बोले—'चाहे यह रहेगा या मैं रहूँगा।' वे जागे और उन्होंने साधनाका दीपक उठाकर फेंक दिया।

संकल्पमें बहुत बड़ी शक्ति है। आपका कोई शत्रु है। आप रात्रिमें लेटते समय सोचें—'अपना सम्पूर्ण प्रेम मैं उसे देता हूँ। भगवान् उसे सुखी रखें।' प्रात: उठनेपर भी यही भाव करें। लगातार तीन महीने ऐसा करें। निश्चय वह बदल जायगा।

हम लोग बचपनमें चलते कछुएपर एक ढेला मार देते थे। वह मुख-पैर समेटकर बैठ जाता था। थोड़ी देर रुककर मुख-पैर निकालकर चलने लगता था। ऐसे ही मन-इन्द्रिय अपने वशमें होनी चाहिए। जो मन और इन्द्रियोंके वशमें हो गया, उसकी बुद्धि स्थिर नहीं हो सकती।

भगवान्पर विश्वास करना भी मनकी स्थिरता है। 'सृष्टिके रूपमें भगवान्

ही हैं, यह दृष्टि-सृष्टिसे हमारा सम्बन्ध नहीं है, यह ज्ञान, प्रकृति-पुरुष, विवेक अथवा मेरे सिवा दूसरा है ही नहीं' यह ज्ञान मनकी स्थिरता है।

जब मनको वशमें करनेकी बात आयी तो यह बात उठी—'भोजन छोड़कर मनको वशमें करेंगे।' यह बात ठीक नहीं है। खाना-पीना छोड़ दोगे तो इन्द्रियोंमें दुर्बलता आ जावेगी। थोड़ी देरको भोग छूट जायँगे, पर मनमें उनका स्वाद बना रहेगा।

यदि कहो कि मनको आज्ञा देंगे, वह मान लेगा तो आज्ञा देना होगा शब्दमें। मन हिलता है तो वृत्ति—शब्दरूपमें हिलता है। आप मन-ही-मन बोलते हो। जो शब्दको ठीक कर लेता है, उसका मन भी ठीक हो जाता है। शब्द मनका आलम्बन है, ठीक होना उसका फल है। इसीसे जप और स्वाध्याय साधन है। मन बहुत देर तक निर्विषय नहीं रह सकता।

ज्ञानकी वृद्धि करनी है तो नये-नये शब्दोंका अध्ययन करना ठीक है; किन्तु मन एकाग्र करना है तो जप करो—एक शब्दकी पुनरावृत्ति करो। चुपचाप बैठनेसे अपने आप कुछ नहीं होगा।

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता। (गीता 2.61)

एक व्यक्ति आया। वह एक बार यहाँ, एक बार वहाँ, इस प्रकार चार-पाँच स्थानोंपर बैठा। इससे सिद्ध हो गया कि वह प्रतिष्ठित व्यक्ति नहीं होगा। उसकी बुद्धि डावाँडोल-अप्रतिष्ठित है।

तन थिर मन थिर, नयन थिर, सुरत-निरत थिर होय।
कहै कबीर वा खलक को, कलप न पावै कोय॥

कोई आलम्बन लो, तब मन स्थिर होगा। शरीरको स्थिर करो, स्थिर आसनसे बैठो। मनमें श्रीराम, श्रीकृष्ण, शिव आदि कोई एक आकार स्थिर करो।

श्री उड़ियाबाबाजी महाराज कहते थे—'एक बार राजा साहबसे जो हाथ मिला लेता है उसे जीवन भरको गौरव-प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाती है। इस अन्तर्यामीसे एक बार मिलते ही बुद्धि प्रतिष्ठित हो जाती है।'

× × ×

बुद्धि-विनाशकोंपर भी ध्यान देना आवश्यक है। काम-क्रोधसे बचकर काम करो। '**विषं यान्ति इति विषयाः**' ये विषके पास ले जाते हैं, अतः इन्हें

विषय कहते हैं। विषयका अर्थ है बाँधनेवाला। नेत्र, कर्ण, नासिका, रसना, त्वचा और मनको खींच कर जो पदार्थसे बाँध दें, उनका नाम विषय है।

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते। (गीता 2.62)

ध्यायति इति ध्यायन्, तस्य ध्यायतः—जो जान बूझकर विषयोंका ध्यान करता है, उसका विषयोंसे संग-आसक्ति हो जाती है।

संगात् संजायते कामः।

आसक्ति हुई तो इच्छा होती है कि जैसे भीतर मिल रहा है (चिन्तनसे) वैसे ही बाहर भी मिले। अब कोई इसमें रुकावट डाले तो क्रोध आवेगा। कामाविष्ट मनुष्य सत्पुरुषोंका भी तिरस्कार करता है। उसका हठ होता है—'मेरी इच्छा पूरी होनी चाहिए, चाहे सदाचारसे हो या अनाचारसे।'

लाभाल्लोभः प्रवर्तते।

यदि इच्छा पूरी हो गयी तो लोभ बढ़ा। लोभ असीम तो पूरा होनेसे रहा। बाधा पड़ेगी ही और तब क्रोध आवेगा। क्रोधसे सम्मोह होता है। मनमें संघर्ष होनेपर पढ़ा-लिखा, सोचा-समझा सब भूल जाता है। इस प्रकार आप कर्म व्यस्त रहकर तो अपना कुछ नहीं बिगाड़ते; किन्तु जब बुद्धि खोकर व्यस्त होते हैं तो अपना सब कुछ बिगाड़ लेते हैं—

× × ×

कर्म भगवान्‌की स्मृतिमें बाधा नहीं डालते। कर्म शरीरसे होते हैं और स्मृति मनसे रहती है। आप मार्ग चलते समय दूसरी बातें सोचते हैं या नहीं? चलते-चलते गम्भीर चिन्तन भी किया जा सकता है। साधक पूछते हैं—'माला फेरते-फेरते मन अन्यत्र चला जाता है।'

इससे यह सिद्ध होता है कि कर्मका स्तर दूसरा है और मनका स्तर दूसरा। अतः देहसे कर्म करो, मनसे भगवच्चिन्तन करो।

मामनुस्मर युध्य च। (गीता 8.7)

केवल विषय-भोग जो छोड़ देते हैं, उनके विषय छोड़ देनेसे विषय एवं इन्द्रिय-सम्बन्धकी व्यावृत्ति तो हो गयी; किन्तु विषयका राग मिटा क्या? बाहरी तपसे विषयका राग नहीं मिटता।

उपनिषद्में एक कथा है। शिष्यने पंद्रह दिन उपवास किया और गुरुके पास गया। गुरुने पूछा—'तुम्हारा मन क्या सोच रहा है?'

शिष्य—'सुस्त पड़ा है?'

इसका अर्थ है कि देखने-सुनने, छूने-सूँघने, करने-चलनेमें रुचि नहीं रही है; किन्तु 'रसवर्जम्' अभी भी राग नहीं छूटा है।

लोग एकादशी करते हैं तो दशमीको अधिक खा लेते हैं और एकादशीको फलाहारकी योजना बनती है। द्वादशीको भी अधिक खाया जाता है। वैसे तो अपने मनको पाँच मिनट विषयोंकी ओर न जाने देना यह पाँच मिनटकी एकादशी है। लेकिन इससे अधिक अन्तर नहीं पड़ता। पाँच मिनट दूकान स्मरण न आवे तो क्या लोभ छूट गया? पाँच मिनट शत्रु स्मरण न आवे तो द्वेष मिट गया? पाँच मिनट पुत्रकी याद नहीं आयी तो क्या मोह कहीं चला गया? जबतक राग-द्वेष-मोह मनमें है, एकादशीको भोजन न करने या कुछ देर चुप बैठनेसे इनके संस्कार निवृत्त नहीं होंगे।

मनुष्यके सत्त्वका—धैर्यका पता तब लगता है जब किसीकी निन्दा या प्रशंसा सुनकर मन विचलित न हो।

जो लोग बिना अभ्यास, साधनके परमार्थकी प्राप्ति चाहते हैं, ऐसे लोगोंके पास जब बिना जप, प्राणायाम, ध्यान, साधन, संयमके भगवान्को मिलानेवाले लोग आते हैं तो वे सट्टा बतानेवालोंके समान ही होते हैं। ऐसा व्यक्ति आपको गुरु, मन्त्र तथा साधनसे भ्रष्ट तो कर देगा—इन्हें छुड़ा देगा; किन्तु देनेको उसके पास कुछ नहीं है। वह ईश्वरका मिलन ही किस कामका, जिससे जीवनमें कोई परिवर्तन न हो। समस्त साधन, भजन और अभ्यास जीवनमें परिवर्तनके लिए किये जाते हैं। साधन-भजन सट्टेकी भाँति बिना पूँजी लगाये ईश्वर मिलानेको नहीं किये जाते।

क्या आप ऐसा समझते हैं कि ईश्वर किसीकी आज्ञासे आपको दर्शन देगा? आत्मसाक्षात्कार या समाधि किसीके कहनेमात्रसे हो जायगी? दीर्घकालतक निरन्तर सत्कार बुद्धिसे किया हुआ अभ्यास दृढभूमित्व प्राप्त करता है। तब परमात्म-साक्षात्कार होता है।

कुछ लोग परमात्माका नाम लेते डरते हैं। वे 'सत्य' कहकर वर्णन

करते हैं। उन्हें डर है कि हम जिसे 'सत्य' कहते हैं, वह कहीं चेतन न हो जाय; क्योंकि सत्य तो जड़को भी कहते हैं। वैसे परमात्माकी प्राप्तिका एक उपाय यह भी है—

अस्तीत्येवोपलब्धव्यः। (कठ०-2.3.13)

अस्ति, अस्ति, अस्तिके रूपमें विषय तो बदलते रहते हैं, अतः विषय तत्त्व नहीं हो सकते। यह चिद्भावकी उपलब्धिकी प्रक्रिया है।

इस सबका तात्पर्य है कि न केवल तपसे काम चलेगा और न विषय-चिन्तन छोड़ देनेमात्रसे कुछ बनेगा।

नास्तिक—जड़वादी तो सत्यको अनेक रूपोंमें विकीर्ण करनेवाले हैं। वे तो पथ-भ्रान्त ही करते हैं।

राग-द्वेष-मोहकी निवृत्ति जीवनमें इष्ट है और वह आत्म-साक्षात्कार होनेपर ही होगी। राग-द्वेष-मोहादिकी थोड़ी निवृत्ति—प्रसुप्तावस्था होनेपर परमात्म-साक्षात्कार होता है और परमात्मसाक्षात्कार होनेपर इनकी सम्पूर्ण निवृत्ति हो जाती है।

अन्तःकरणमें तीन दोष हैं—1. मल अर्थात् पाप-वासनाका उदय, 2. विक्षेप—मनका चञ्चल होना, 3. आवरण—आत्मानुभव न होना। इन तीनोंके निवृत्त हो जानेपर आत्मसाक्षात्कार होता है, ऐसा मानना भूल है। आप मलका नाश कीजिये। धर्माचरण करके पाप-वासना मिटाइये। योगाभ्यास, जप, ध्यानादिसे विक्षेप दूर करके मनको एकाग्र करके आत्मनिष्ठ कीजिये, तब आवरणभङ्ग होगा। आत्मज्ञानसे आवरणभङ्ग होता है। अज्ञानके रहते मल-विक्षेप दूर किया जाता है और ज्ञानसे आवरणनाश होता है।

× × ×

भगवान्‌ने छह बातें बुद्धिको नष्ट करनेवाली बतलायी है।

1. विषयोंका ध्यान करनेसे वृत्ति विषयाकार हो जाती है।

2. विषयाकार वृत्ति होनेसे उसकी कामना होती है।

3. कामसे क्रोध या लोभ होता है।

4. क्रोधसे अपनी वृत्तिका प्रत्याघात अपने आपको लगता है। अपनी वृत्ति अपनेको ही सताने लगती है।

अन्योन्यप्रत्याघातात् संस्काराणामुपमर्दः सम्मोहः।

5. जब वृत्तियोंका संघर्ष-संकर होता है तब सम्मोह होता है। पहली पढ़ी-सुनी-समझी बातें भूल जाती हैं। स्मृति नष्ट हो जाती है।

6. स्मृति नष्ट हुई तो बुद्धि नष्ट हो गयी।

बुद्धि ही मनुष्यका मनुष्यत्व है। दो हाथ, दो पैर होना मनुष्यत्व नहीं है। ऐसे तो और भी प्राणी हैं। बुद्धि ऐसी होनी चाहिए जिससे बड़ी और कोई बुद्धि न हो। यह बुद्धि होगी अद्वितीय आत्माका ज्ञान, जिसमें द्वैत होगा ही नहीं। अद्वैताकार बुद्धि सबसे बड़ी बुद्धि है।

भगवान्‌ने कहा—

बुद्धिनाशात् प्रणश्यति। (गीता 2.63)

और—

न मे भक्तः प्रणश्यति। (गीता 9.31)

अर्थात् मेरा भक्त—मुझमें बुद्धि लगानेवाला सबसे बड़ा बुद्धिमान है और जिसने अपनी बुद्धिको काम-क्रोध-लोभ-मोहमें लगा रखा है, उसने तो अपने नाशका द्वार खोल रखा है।

इन बातोंको देखते हुए व्यवहारमें क्रियाशील रहनेके लिए तीन बातोंपर ध्यान रखना आवश्यक है—

1. हमको दुःख न हो। क्योंकि कोई दुःख नहीं चाहता, अतः हमसे भी किसीको दुःख न मिले।

2. हम अज्ञानमें न रहें। संसारमें सब दूसरोंको ठगना—मूर्ख बनाना चाहते हैं। दूकानदार ग्राहकको और ग्राहक दूकानदारको। संसारका व्यवहार ऐसे चल रहा है; किन्तु ठीक व्यवहार यह है कि हम मूर्ख न बनें। किसीको भी हम मूर्ख न बनावें।

3. हम मरें नहीं—मृत्युका भय हमें न हो। हमसे भी किसीको अपने अस्तित्वके लिए भय न हो।

श्रीकृष्ण कहते हैं—'हम तुम्हें ऐसी बुद्धि देते हैं जिससे युद्ध करते हुए—व्यवहारमें लगे रहनेपर भी तुम्हारे पास न दुःख आवेगा, न अज्ञान और न मृत्यु।'

विषयानिन्द्रियैश्चरन् (गीता 2.64) इन्द्रियाँ तो पशु हैं, ये घास चरें; किन्तु '**रागद्वेषवियुक्तैस्तु**' और '**आत्मवश्यैः**' राग-द्वेष रहित होकर, मनको वशमें रखकर व्यवहारमें लगो।

हम भोजन करने बैठे। जब रोकना चाहें तो जीभ न रुके, ऐसा न हो। तुम मनके स्वामी हो, सेवक नहीं। मन कहता है—'यह काम करो।' आप पूछो—'स्वामी मैं या तू? तुझे मेरे कहनेके अनुसार काम करना है। मुझे तेरे कहनेके अनुसार काम नहीं करना है।'

'मैंने यह लाभ पहुँचाया। मेरी सम्मतिसे चलनेसे यह काम बना।' इस प्रकार समझाकर सेवक स्वामीको वशमें कर लेते हैं। मनके इस धोखेमें मत आइये।

× × ×

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधया अग्ने मेधाविनं कुरु॥

(शु० यजु०-32.14)

ऋषिगण स्तुति करते हैं—'हे अग्निदेव! हे तेजोमय परमात्मा! हमारे बड़े-बूढ़े और विद्वान् जिस मेधाकी उपासना करते हैं, उस मेधासे हमें मेधावी बनाओ!'

मेधा सबसे बड़ी वस्तु है। आप कोई काम तब करते हैं, जब काम करनेकी इच्छा मनमें होती है। जो लोग बेगारमें या विवश होकर कर्म करते हैं, उनके उस कर्मका तो कर्म नाम ही नहीं है। कर्म करनेकी इच्छा क्यों होती है? यह कर्म हमें अनिष्टसे बचानेवाला या इष्टसे मिलानेवाला है, ऐसी समझसे।

जानाति इच्छति यतते।

मनुष्य पहले जानता है, तब इच्छा करता है, फिर प्रयत्न करता है।

आप चाहते हैं कि हमारे जीवनके कर्म पवित्र, सुखदायी और सच्चे हों तो आपको समझदारीसे काम करना होगा। नासमझीसे किया काम आपको इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट-निवारणमें योग्य नहीं बनावेगा।

कर्म तब शुद्ध हों जब इच्छा शुद्ध हो। इच्छा तब शुद्ध हो, जब ज्ञान

शुद्ध हो। ज्ञान शुद्ध कैसे हो? सच्चा ज्ञान जिसके पास है उनसे सीखना होगा।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। (गीता 4.34)

गीतामें ज्ञानकी बहुत अधिक महिमा कही गयी है—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। (गीता 4.38)

परमात्माकी प्राप्ति कहीं सातवें आकाशमें जाकर नहीं होती।

एक विद्वान्‌ने लिखा है—'हमने ऐसे लोग देखे जो कहते हैं—'हमारे वंशमें जो उत्पन्न होगा, वह भगवान् ही होगा; किन्तु उनके जीवनमें भगवत्तत्त्वकी गन्ध भी देखनेमें नहीं आती।'

अतः केवल बाहरी साधनसे काम नहीं बनता। भीतरी साधनाकी आवश्यकता होती है। आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त है; इसलिए बुद्धि और कर्ममें भी शुद्धता तथा राग-द्वेषके बन्धनसे मुक्तता चाहिए।

'विधेयात्मा' होना चाहिए। विधेय—विधानानुगामी आत्मा अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, मन होना चाहिए।

एक सेठने पुराने समयमें एक नौकरकी आवश्यकताका विज्ञापन किया। जो भी आता था, सेठ उससे कहता—'एक ग्लास पानी लाओ।'

नौकरी करने आया व्यक्ति पानी लेकर आता तो सेठ कहता—'फेंक दो।'

पानी फेंक देने पर सेठ पूछता—'क्यों फेंक दिया?'

वह व्यक्ति उत्तर देता—'आपने कहा था।'

सेठ कह देता—'अच्छा, जाइये।'

इस प्रकार कई व्यक्ति आये और चले गये। अन्तमें एक व्यक्ति आया। सेठने उससे भी पानी मँगाया और लाने पर फेंक देनेको कहा। फेंक देनेपर उससे पूछा—'क्यों फेंक दिया?'

वह बोला—'स्वामी! भूल हो गयी।'

सेठ—'ठीक है। तुम काम करो।'

नीतिशास्त्रका कहना है—

दुष्टा भार्या शठो मित्रः भृत्यश्चोत्तरदायकः।

ससर्पे च गृहे वासो मृत्युरेव न संशयः॥

पत्नी कुलटा हो, मित्र कंजूस हो, सेवक जबान लड़ाता हो, और जिस घरमें रहते हों उसमें सर्प हो तो निश्चित ही मृत्यु समझनी चाहिए।

तुम्हारे सैनिक यदि आज्ञानुवर्ती नहीं हैं, तो किस सेनाको लेकर युद्ध क्षेत्रमें जा रहे हो?

गीतामें उसे अकृतात्मा कहा है, वह संसारी पुरुष है जिसकी इन्द्रियाँ, मन और तन अपने वशमें नहीं हैं।

ऐसे स्वामी होते हैं जिनके सेवक उनकी बात काट दिया करते हैं। स्वामी कहेगा—'अभी सोकर उठे आ रहे हैं?'

सेवक—'नहीं, बाथरूम भी हो आये हैं।'

इसका अर्थ है कि सेवक स्वामीपर हावी हो गया है।

कृतात्मा वह है जिसने तन, इन्द्रिय और मनको वशमें कर लिया है।

विधेयात्मा वह है जिसकी बुद्धिने जो कुछ काम करना सोचा, उसके लिए मन, इन्द्रियाँ और शरीर प्रस्तुत हैं। यह सिद्ध पुरुष है।

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्यपाशम्।

(कठ०-2.1.2)

बालक (अज्ञानी) बाहरी भोग देखकर उधर दौड़ पड़ते हैं। मदारीने डमरू बजाया या खोमचेवालेकी पुकार सुनायी पड़ी तो बच्चा माताकी गोदसे उठकर दौड़ पड़ा। ये बच्चे मौतके फंदेमें फँस जाते हैं।

मौतने अपने फंदे फैला रखे हैं। नेत्रोंको ललचानेके लिए रूप, नासिकाको आकृष्ट करनेके लिए गन्ध, कानको खींचनेके लिए शब्द, त्वचाको लुभानेके लिए स्पर्श, जिह्वाको फुसलानेके लिए रस, मनको मुग्ध करनेके लिए पदप्रतिष्ठा-प्रशंसा आदि मौतके फंदे हैं।

अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते।

जो धीर पुरुष हैं वे अमृतत्वको जानकर इन नश्वर भोगोंमें कुछ पाना नहीं चाहते।

बच्चा समझता है कि घरका जलपान अच्छा नहीं होता, खोमचेका अच्छा होता है। वह खोमचेके पदार्थ खाकर बीमार होता है। भले समझदार

लोग जानते हैं कि जलपान घरका ही अच्छा होता है। जो अध्रुव चलती-फिरती नाशवान् वस्तुएँ हैं, इनमें जो जाते हैं, वे फँस जाते हैं।

कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्त्विहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः॥

(मुण्डक० 3.2.2)

श्रुति कहती है कि—जो समझता है कि ज्ञान भीतरसे नहीं, बाहरसे आ रहा है, सुख भीतरसे नहीं बाहरसे आ रहा है, तब वह बाहरी विषयोंकी कामना करता है और अपनी कामनाके अनुसार वहाँ-वहाँ पैदा होता रहता है। जो पूर्णकाम, कृतात्मा हैं, उनकी सब कामनाएँ यहीं विलीन हो जाती हैं।

जो समझता है शत्रुसे बदला लेनेमें सुख है उसे सर्प होना पड़ेगा।

एक व्यक्ति देवताके द्वारपर ठेला लेकर पहुँचा और चिल्लाया—'कोका कोला पीलो! कोका कोला!'

देवता हँसा—'हमारे यहाँ अमृत रखा है। हम अमृत पीयेंगे या कोका कोला?'

अतः काम करनेका ढंग यहींसे प्रारम्भ होता है—

'**रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।**' (गीता 2.64)

'व्यवहारके लिए संसारमें चलो तो अपने सेवक अपने वशमें हों, उनमें शत्रुका कोई चर छिपा न बैठा हो।'

शत्रुका नाम-पता भगवान्ने पहले बतला दिया—

काम एष क्रोध एष (गीता 3.37)

और,

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते। (गीता 3.40)

काम और क्रोध दोनों दो प्रकारके शत्रु हैं। काम करता है—'हम तो तुमको सुख देना चाहते हैं। इसमें बहुत सुख है।' यदि तुम इस शत्रुके बहकावेमें आ गये तो तुम वहीं फँस जाओगे—मूर्च्छित हो जाओगे। यह शत्रु तो विष मिला आहार दे रहा है।

दूसरा शत्रु क्रोध कहता है—'इसने तुम्हारे सुखमें बाधा पहुँचाया है, इसे नष्ट कर दो।'

एक खिलाकर फँसाना चाहता है तो दूसरा लड़ाकर फँसानेको उद्यत है। अत: व्यवहार-क्षेत्रमें चलो तो ये दोनों शत्रु साथ न हों।

'**आत्म वश्यैः**' जब चाहे तब मन, तन, इन्द्रियको रोकनेकी शक्ति अपनेमें हो। भोगनेकी आज्ञा दी तो भोगमें लगे और निवृत्त होनेकी आज्ञा दी तो निवृत्त हो गये।

पढ़ते समयकी बात है। काशीमें मुझे एक बार किसी बातपर हँसी आ गयी। अब वह हँसी रोकनेसे रुके ही नहीं। पेटमें दर्द होने लगा। नेत्रोंमें आँसू आ गये; किन्तु हँसी रुकती नहीं थी।

मेरे एक मित्र पास थे। वे बुद्धिमान् थे। उन्होंने कसकर एक थप्पड़ मार दिया—'क्या करते हो? ऐसे तो मर जाओगे।'

इसी प्रकार आपकी जो भी मनोवृत्ति आपके वशमें बाहर हो जायगी वह आपको मृत्युके मुखमें डाल देगी।

लोग कहते हैं—'यह अपने आप हो जायगा।'

अच्छा, अपने आप जो हो जायगा, वह आपके वशमें रहेगा? अथवा आप उसके वशमें होंगे? अभ्यास करके जिसे जीवनमें लाओगे वह आपके वशमें रहेगा।

समाधि भी वशमें होनी चाहिए कि जितनी देरकी चाहें उतनी देरको लगे। जो निद्रा दवा खाकर आवेगी, दवाके वशमें होगी। वह आपके वशमें नहीं होगी।

एक महात्मा कहते थे—'काम करो; किन्तु जिस परमात्माके लिए काम करते हो, उसकी आज्ञा बन्द करनेकी आवे तो तत्काल बंद कर दो।'

श्रीहरिबाबाजी महाराजने एक बार कथाका समय चार बजकर उन्तीस मिनट रखा। मैंने कहा—'साढ़े चार ही क्यों नहीं रखते?'

वे बोले—'इससे सावधानी रहेगी।'

एक महात्माने बतलाया—'हाथ-पैर, मन-इन्द्रियाँ अपने सेवक हैं। इनका स्वभाव मत बिगाड़ना। इनके वशमें मत होना। इनको अपने वशमें रखना। चुप कहनेपर जैसे मुख बंद हो जाता है, वैसे ही सब व्यवहार इच्छा करते ही रुक जाना चाहिए।'

'**रागद्वेषवियुक्तैस्तु**' आदि कहकर इसका फल भगवान्‌ने कहा— '**प्रसादमधिगच्छति।**'

विकारैकान्तनिरसनान्निर्मलत्वं प्रसादः।

विकारोंका सर्वथा निरसन होनेसे अन्तःकरणकी निर्मलताका नाम प्रसाद है।

श्रीकेशवचन्द्रसेन परमहंस रामकृष्णजीके पास प्रस्ताव लेकर गये कि 'लोगोंका ऐसे-ऐसे सुधार कियाँ जाय।' श्रीपरमहंस देवने पूछा—'तुमको ईश्वरने ऐसा करनेका आदेश दिया है?'

श्री केशवचन्द्रसेन—'नहीं, ईश्वरने तो आदेश नहीं दिया है।'

परमहंसजी—'जबतक बर्तन गंदा है, तबतक उसमें स्वच्छ पदार्थ भी गंदा हो जायगा।'

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते। (गीता 2.65)

अन्तःकरण निर्मल हो गया तो उसके सब दुःख स्वयं समाप्त हो गये।

एक विज्ञानजनित आनन्द होता है। यह अनेक प्रकारके आविष्कार करके बाह्य पदार्थों द्वारा प्रकृतिपर अधिकार करके पाया जाता है। यह समृद्ध्यानन्द है।

एक कलाका आनन्द होता है। यह प्रकृतिका अनुकरण करना है।

ज्ञान है वस्तुके स्वरूपको ठीक-ठीक जानना। बिना किसी वस्तु, क्रिया और व्यक्तिके चित्तकी निर्मलताका आनन्द अपने स्वरूपका आनन्द है। यह शान्तानन्द है। इससे सब दुःखोंका अभाव हो जाता है।

कर्मके रूपमें या कर्मके फलमें शान्ति नहीं है। शान्ति न ब्रह्माण्डमें है, न लोकान्तरमें। शान्तिका निवास अपना जीवन है। शान्ति न आधिभौतिक तत्त्व है, न आधिदैविक तत्त्व। शान्ति तो आध्यात्मिक तत्त्व है। आध्यात्मिकका अर्थ शरीरके—मनके भीतर रहनेवाला।

लोग कहते हैं—'आज घरमें शान्ति नहीं है।'

अथवा—'आज वातावरणमें शान्ति नहीं है।'

इसका अर्थ है कि—मनमें शान्ति नहीं है। मनमें शान्ति हो तो सारा संसार शान्त दीखेगा।

'तुम शान्त रहो तो मैं शान्त रहूँगा।' ऐसा कहना अपनी शान्तिको दूसरेके हाथ बेचना है।

एक घरमें एक माता बहुत चिड़चिड़ी थीं। वे बात-बातपर चिढ़ जातीं और बड़बड़ाती रहतीं। घरमें नयी बहू आयी तो पड़ोसवालोंने उससे कहा—'तुम्हारी सास बहुत चिढ़ती है। सावधान रहना।'

बहू बोली—'आप सब चिन्ता न करें।'

सास किसी बातपर बिगड़ीं तो बहू सासके पाससे उन्हें अँगूठा दिखलाती निकल गयी। अब सासको क्रोध आया। देर तक बकती रहीं। जब चुप होने लगीं तो बहू फिर समीपसे अँगूठा दिखलाकर निकल गयी। इस प्रकार उसने लगातार सासुजीको चिढ़ाया। सासुजीका गाली देते-देते गला सूख गया। वे थककर लेट गयीं। उन्होंने समझ लिया—'इस बहूसे मैं पार नहीं पा सकती।' उनका चिढ़ना सदाको छूट गया।

बहू न उन्हें कुछ कहती थी, न उनका कुछ बिगाड़ती थी। वह तो केवल अपना अँगूठा हिला देती थी। बात यह है कि शान्ति या अशान्ति वस्तुमें, व्यक्तिमें या क्रियामें नहीं है। वह मनुष्यके हृदयमें है।

मनुष्यको अपने मनमें कुछ बनानेका, कुछ रखनेका और कुछ मिटाने-बदलनेका संकल्प नहीं करना चाहिए। ये तीनों संकल्प बहुत दुःख देते हैं। बनाओ, रखो, मिटाओ; किन्तु मनमें इनके लिए अशान्ति मत आने दो।

दूकानको बाजारमें, कारखानेके अपने स्थानपर, रुपयेको तिजोरीमें, कुर्सीको कार्यालयमें, श्रीमतीजीको उनके कमरेमें रहने दो; पर किसीको अपने हृदयमें मत बसाओ, अन्यथा तुम्हारी शान्ति मिट जायगी।

× × ×

ब्रह्म द्विविध कहा गया है—पराग् ब्रह्म और प्रत्यग् ब्रह्म।

'**सच्च त्यच्च।**' सद्रूप और त्यद्रूप।

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तं च।

उपनिषद्में वर्णन है कि ब्रह्मका एक मूर्त रूप है और एक अमूर्त रूप है।

पराक् बाहर दृश्य रूपमें ब्रह्म ही है। प्रत्यक् ब्रह्म वह है जो नेत्रोंके पीछे आत्मरूपमें रहता है।

'**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' इस श्रुतिमें वर्णित ज्ञानरूप ब्रह्म प्रत्यग् ब्रह्म—अपना स्वरूप है।

'**विज्ञानमानन्दं ब्रह्म**' यह पराग् ब्रह्मका वर्णन श्रुति करती है। इसमें विविध रूपमें प्रकट ब्रह्म विज्ञान कहा गया है।

ज्ञानस्य विविधात्मकत्वाद् विज्ञानम्।

बाहर ज्ञान विविधात्मक है। जब बाहर विषयानन्द ग्रहण करना होगा तो वह ऐन्द्रिय ग्रहण अनेक रूप होगा। यह विज्ञानका क्षेत्र है। यह विषयानन्द सुखात्मक होगा। इसका प्रत्यक्ष अनुभव होगा। इसका आप सदासे अनुभव कर रहे हैं।

ज्ञान स्वरूप आत्मा प्रत्यग् ब्रह्म है। इसका अनुभव आप नहीं कर रहे हैं; अत: आपको आनन्दका अधूरा अनुभव होता है। आनन्दानुभव बाह्य विषयमें नहीं होता, हृदयमें होता है। विषयमें तो उसकी कल्पनामात्र होती है।

हमारा अन्त:करण, कण और क्षण ये पृथक्-पृथक् नहीं हैं। प्रत्येक क्षणमें कण और अन्त:करण बदलता जाता है। जैसे घड़ीमें 'टिक्-टक्' ध्वनिके साथ सेकेण्ड बदलते जाते हैं, वैसे ही संसारके पदार्थ और अन्त:करण बदलता जाता है। बीता क्षण, कण और मन लौटकर नहीं आता। हम इनको रोकना चाहते हैं, इसीसे विषाद होता है। इन्हें खुला छोड़ दो—'संसार! तू बनता है तो बन, रहता है तो रह, मिटता है तो मिट।' इससे अन्त:करण विषाद रहित हो जायगा, तब प्रसादका उदय होगा।

प्रसादके उदयके रूप, रुपया, परिवार या यशकी हानि नहीं होती। दु:खकी हानि होती है।

मनुष्यने दु:खी होनेका स्वभाव बना लिया है, जैसे बिना दु:खके रह ही नहीं सकता। जो प्रसन्न रहनेका स्वभाव बनाता है, वह छोटी-मोटी बातोंपर ध्यान नहीं देता। इससे बुद्धि स्थिर रहती है। विषाद बुद्धिको मलिन करता है।

एक सेठने मुझसे कहा—'दस वर्ष आगेकी चिन्तासे अभी मरे जा रहे हैं।' चित्त प्रसन्न रहेगा तो बुद्धि सूझेगी। अतः बुद्धि ठीक रखना है तो चित्त निर्मल रखो।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य। (गीता 2.66)

अमुक वस्तु या स्थिति मिले तो बुद्धि स्थिर हो, यह आग्रह पूरा होनेवाला नहीं है।

'आज सबेरे सन्ध्या नहीं कर सके तो अब करके क्या होगा?' यह नासमझीकी बात है। काल-लोप हो भी गया तो कर्म-लोप क्यों करते हो? अब सन्ध्या कर लो।

'आज रेशमी वस्त्र, पुष्प, चन्दन नहीं मिला, इसलिए पूजा-भजनमें मन नहीं लगा।' मनको इस प्रकार वस्तुओंपर निर्भर मत करो।

'**नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य**' का अर्थ है मनका अपने आपमें न रहना। एक कहावत है—'आप इस समय पाजामें-से बाहर हो रहे हैं।' यह शरीर पाजामा—वस्त्र ही तो है। जो आत्मासे युक्त नहीं, अपने आपमें—अपने वशमें नहीं, उसमें बुद्धि नहीं रहा करती। जिसका आहार-विहार, सोना-जागना अनिश्चित है, उसकी बुद्धि भी गड़बड़में पड़ी रहती है।

बुद्धि कैसे मिलती है? इसका उत्तर भगवान्ने दिया—'जैसे नदियाँ समुद्रमें आती हैं, वैसे संसारके विषय आवें तो आने दो, पर तुम उनसे निरपेक्ष रहो।'

जैसे भेड़, भैंस, हरिण अपने यूथसे पृथक् होकर भटककर मर जाते हैं, वे तभी तक सुरक्षित हैं जबतक अपने यूथमें हैं, वैसे ही आपकी बुद्धि तभी तक सुरक्षित है, जबतक अपने आपमें है।

न चायुक्तस्य भावना, न चाभावयतः शान्तिः।

भावना दृढ़ करनेके लिए भी राग-द्वेषसे पृथक् होना आवश्यक है। जिसका मन नियन्त्रित नहीं रहता, उसके हृदयमें भावना नहीं रह सकती।

बुद्धिहीन—भावनाहीनको शान्ति नहीं मिला करती। इसलिए पहले होना चाहिए पुरुषोत्तमको। उनके पीछे पुरुष हो। पुरुषके पीछे क्रमशः बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ चलें।

आगे चलना चाहिए वसिष्ठको—श्रीकृष्णको और शासन होना चाहिए उनके आज्ञानुवर्ती दशरथका—युधिष्ठिरका। आगे प्रज्ञा चले और उसके पीछे मन, इन्द्रिय, क्रियाशीलता रहे तो जीवनमें शान्ति रहेगी।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयास्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

(कठोपनिषद् 1.3.3-4)

आत्मा रथी है और यह शरीर रथ है। इस रथमें बुद्धि सारथी है, मन लगाम है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं और विषयोंके क्षेत्रमें यह रथ चल रहा है। बुद्धिमान् पुरुष आत्मा (शरीर), इन्द्रिय और मनसे युक्तको ही भोक्ता कहते हैं।

आप विषय-देशके यात्री हैं। इन्द्रिय रूपी घोड़े आपको शब्द, स्पर्श, रूप, रस,गन्धके क्षेत्रमें ले जाते हैं। इन घोड़ोंमें मनकी लगाम लगी है और बुद्धि सारथी है।

आपको इस रथसे यात्रा करनी है। अब देखना है कि घोड़े सारथीके वशमें हैं या नहीं? आप रथपर नहीं बैठेगे तो संसारके भोग मिलेंगे ही नहीं। घोड़े अपनी मौजसे चलेंगे तो चाहे जहाँ रथको गिरा देंगे। कोई शत्रु सारथीको घूस देकर और घोड़ोंको खिला-पिलाकर मिला ले तो अपनी ओर यात्रामें आपका क्या होगा?

काम और क्रोध आपके शत्रु हैं। ये इन्द्रिय, मन, बुद्धिमें आ बैठे हैं। इन काम-क्रोधके पास अपना कोई दुर्ग—कोई भवन नहीं है। ये तो हमारे सारथीसे मिलकर उसीके पास रहते हैं।

यात्रा तो करनी ही पड़ती है, करना ही चाहिए। लेकिन घोड़े सधे हों, लगाम दृढ़ हो, सारथीके हाथमें हो, सारथी हमारे कहनेमें हो तब यात्रा सकुशल होती है।

इन्द्रियोंको भोग ही न आवे, त्याग भी आवे। मोटर ड्राइवरको मोटर चलाना ही न आता हो ब्रेक लगाकर रोकना भी आता हो। जिसे ब्रेक लगाना न आता हो, उसे मोटर चलानेका अधिकार नहीं है।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

(गीता 2.68)

आपकी बुद्धि प्रतिष्ठित है या नहीं? क्या आप अकेले अपना व्यवहार चला सकते हैं—यदि समाज अपना सहयोग न दे? यदि माँ-बाप, भाई-बहिन, पत्नी पुत्र, मित्र सेवक, सहयोगी आपपर विश्वास न करें? यदि लोगोंको ज्ञात हो कि यह रामके नहीं, कामके वशवर्ती हैं?

संसार स्वार्थमें जागता है, निःस्वार्थपना समझता नहीं, यह ठीक है, किन्तु बहुत स्वार्थीपना अधिक दिन व्यवहारमें चला नहीं करता।

एक बड़ा कारखाना था। सेठने पुत्रको हटाकर दामादको प्रबन्धक बना दिया। दामादने सोचा कि श्वशुरजीको लाभ दिखाना चाहिए। उन्होंने उत्पादनका स्तर गिरा दिया। एक बार तो माल खप गया, लाभ हो गया; किन्तु मालके गिरे स्तरका भेद कब तक छिपता? बिक्री घट गयी। सेठका ध्यान इधर गया तो उन्होंने दामादको पृथक् करके फिर पुत्रको व्यवस्थाका भार दिया।

यदि तुम ग्राहकका स्वार्थ भूलकर अपना ही स्वार्थ देखोगे तो थोड़े दिनोंमें व्यापार बंद हो जायगा। दूसरोंको देकर उसमें-से अपनी जीविका निकालनी पड़ती है। स्वार्थी इस विषयमें सो जाते हैं और सावधान संतोषी इस विषयमें जागता रहता है कि ग्राहकसे काम चलता है तो इनका स्वार्थ नहीं बिगाड़ना चाहिए।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। (गीता 2.69)

मैं 8-9 वर्षका था। डेढ़मील दूर पढ़ने जाता था। उन दिनों लुधियाने-वाला जूता पहनता था। बाजारमें एक मुसलमान जूतेवाला था। मैंने उससे अपने पैरके जूतेका दाम पूछा। उसने तीन रुपये बताया। मैंने तीन रुपये दे दिये तो उसने मुझे आठ आने लौटा दिये। मैंने पूछा—'ये पैसे क्यों लौटाते हो?'

वह बोला—'खरीददार मोलभाव करते हैं; इसलिए उन्हें कुछ अधिक मूल्य बतलाकर फिर घटाना पड़ता है। तुमने मोल-भाव नहीं किया और बच्चे हो, इससे तुमसे अधिक मूल्य थोड़े ही ले सकते हैं!'

अब उसकी उसी बाजारमें कपड़ेकी दूकान है।

महाभारतमें तुलाधार वैश्यकी कथा है। उनसे धर्मकी शिक्षा लेने तपस्वी ब्राह्मण जाजलि गये और पूछा—'यह क्या रहस्य है कि तुम दूकान करते हुए भी धर्मके तत्त्वको जानते हो और मैं तप करके भी धर्मज्ञ नहीं हूँ?'

तुलाधारने कहा—'मैं किसीका बुरा नहीं मनाता।'

यदा न कुरुते भावः सर्वभूतेषु पापकम्।
कर्मणा मनसा वाचा स धर्म वेद जाजले॥

'जाजलिजी! जो किसी भी प्राणीका मन, वाणी और कर्मसे अहित नहीं चाहता, वह धर्मके तत्त्वको जानता है।'

मेरे बचपनमें जब बाजारमें प्लेग पड़ता था तो बाजारके व्यापारी मेरे घर अपनी दूकान उठा लाते थे। बाजारमें भी जब मैं पढ़ने जाता था तो दोपहरमें जलपान करने एक व्यापारीके घर जाता था। मैंने देखा था कि कपड़ा मापनेमें वे लोग एक गजमें दो-तीन अंगुल कम मापते थे। अपने पुत्रको सिखलाते—'नमूना यह दिखाया जाता है और दिया दूसरा जाता है। किसान अन्न लावे तो इस बाटसे तौलते हैं और अन्न खरीदनेको आवे तो इस दूसरे बाटसे तौलकर दिया जाता है।'

यह व्यापारी अपने स्वार्थके ही सम्बन्धमें सो गया है। संयमी यहीं जागेगा। संसारी पुरुष अपने स्वार्थमें बड़े सावधान रहते हैं। दूसरोंकी जेब हल्की करना खूब जानते हैं। ईमानदार व्यक्ति इन बातोंको नहीं समझता।

जिस एकता—अभेद परमार्थमें संसारी पुरुष सोता है, संयमी जागता है। अज्ञानी जिस अनेकतामें जागता है, संयमी उसमें सोता है। गोस्वामी तुलसीदासजीने विनयपत्रिकामें कहा है—

जेहि निसि सकल जीव सूतहिं, तव कृपापात्र जन जागै।

स्वार्थी, बेईमान लोग समझते हैं कि पैसा एकत्र करना ही सावधानी है—दिन है। अरे! पैसा तो चोर ले जायँगे, सरकारके हाथ लगेगा या जीते जी जिन्हें देना नहीं चाहते वे ले जायँगे। डॉक्टर ले जाते हैं। वकील ले जाते हैं। जब घरमें बीमारी आती है या झगड़ा होता है, तभी तो डाक्टर या वकील पैसा पाते हैं।

हरिद्वारमें कुम्भका मेला था मैं गीताप्रेसकी दूकानमें वहाँ ठहरा था। आग लगी मेलेमें दूकानें जलीं। गीताप्रेसकी दूकानकी पुस्तकें भी जल गयीं। दूकानका बीमा चौदह हजारका हुआ था। बीमा कम्पनीको प्रबन्धकोंने लिखा और कम्पनीने चौदह हजार रुपये दे दिये।

सेठ जयदयालजी गोयन्दकाने प्रबन्धकसे पूछा—'चौदह हजारकी पुस्तकें तो कुल हरिद्वार गयी थीं। आग लगनेसे पहले क्या कुछ बिकी नहीं थीं?'

पता लगा कि सात हजारकी पुस्तकें बिक चुकी थीं और उनका मूल्य सुरक्षित नरसिंह-भवन जा चुका था। सेठजीने कहा—'बीमा कम्पनीवालोंसे क्षमा माँगो और ये रुपये उन्हें लौटा दो।'

इस प्रकारकी एक कथा और सुननेमें आती है। एक बादशाहकी नींद रातमें खुली तो उसने देखा कि खजानेमें प्रकाश दीख रहा है। बादशाह वहाँ गया तो खजानची हिसाबमें व्यस्त मिला। बादशाहने पूछा—'क्या बात है? इतनी रात-तक क्यों जाग रहे हो?'

खजानची—'हिसाबमें कुछ गड़बड़ी है।'

बादशाह—'कितनी हानि हुई है? हम पूरा कर देंगे।'

खजानची—'हानि नहीं है कुछ बढ़ रहा है।'

बादशाह—'तब जागनेका क्या काम है? कल देख लेना।'

खजानची—'पता नहीं किस गरीबका हक आ गया है। किसकी हाय इस पैसेके साथ आयी होगी। जबतक उसकी हायसे सलतनत और खजाना जले नहीं, उससे पहले उसका धन उसको लौटा देना आवश्यक है।'

जैसे हम स्वयं ठगा जाना नहीं चाहते, वैसे दूसरोंको भी ठगाने न दें। जैसे स्वयं हानि नहीं सहना चाहते, दूसरोंको भी हानि न करें।

विहाय कामान् यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः।
निर्ममो निहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥ (गीता 2.71)

इस श्लोकमें चार साधन और एक उसका फल बतलाया गया है। यह इस प्रसंगका सारभूत श्लोक है। अनेक लोग पैसा बहुत कमा लेते हैं; किन्तु उनकी प्रतिष्ठा नहीं है समाजमें। मनुष्य मनमें कल्पना बहुत करता है पर बुद्धिमें स्थिरता नहीं है। यह जीवनका असन्तुलन मिटना चाहिए। इसके लिए

1. 'चरति व्यवहरति' व्यवहार कीजिये, पर भोगमें मत फँसिये। सड़क पर चलिये पर मार्गमें पड़ी वस्तु जेबमें मत रखिये। यात्रा कीजिये; किन्तु पड़ावपर ही पड़े मत रहिये। अपने भीतर अभावका द्रष्टा ही कामी होता है।

न चाहते हैं, न माँगते हैं और कोई सामने लाकर धर दे तो रखते भी नहीं, यह ठीक निःस्पृहता है। रख लें तो उससे ममता हो जायगी 'यह वस्तु मेरी।' तब अहंकार आवेगा 'मैं इसका स्वामी।' इससे शान्ति चली गयी।

'**विहाय कामान्**' यह भगवान्‌की वाणी है। महर्षि भरद्वाजने कसौटी बतायी है कि किसी बातको सुनकर हम कैसे पहचान सकते हैं कि यह भगवान्‌की बात है या नहीं?

त्रिगुणभावमयत्वाद्भगवद्वाक्यम्।

जिसमें सात्त्विकी, राजसी, तामसी तीनों गुणवाली योनियोंके प्राणियोंका हित हो, पशु-पक्षी-वृक्ष-लता किसीका जिसमें अहित न हो, मेढ़क और सर्प दोनोंके लिए जो हितकर हो, जिसमें सच्चिदानन्द तीनों भाव हों, वह भगवद्वाक्य होता है।

श्रीमद्भागवतमें आदिराज पृथु द्वारा भूमिको समान करने, राज्य बसानेका वर्णन है। उसमें जहाँ पृथ्वीके दोहनका वर्णन है, वहाँ बतलाया गया है कि पृथुने सब प्राणियोंकी जीविकाका प्रबन्ध किया। सर्प-बिच्छू, शेर-भेड़िये, देवता-गन्धर्व-राक्षस सबने पृथु द्वारा भावित पृथ्वीसे अपना-अपना आहार प्राप्त किया।

गीता भगवान्‌की वाणी है, अतः उसमें-से सबके अनुरूप अर्थ निकलता है। एक संन्यासीने यह श्लोक 'विहाय कामान्' पढ़ा। उनको लगा कि यह श्लोक संन्यासीके लिए ही है। जिसे शान्ति चाहिये, वही इसका अधिकारी है। संसारी व्यक्तिको तो समृद्धिजनित आनन्द चाहिए। बिना संघर्षके विषयानन्द मिलता नहीं। संन्यासीने कहा—'मुझे कुछ नहीं चाहिए। सामने स्वयं पदार्थ आवे तो उससे भी निःस्पृह।' 'चरति' परिव्रजन करते रहो। कुछ रखना पड़े तो उसमें भी 'निर्मम' रहो और त्यागका भी अहंकार मत करो।

लेकिन; यह प्रसङ्ग तो संन्यासका नहीं है। यह कर्मयोगका प्रसङ्ग है। भक्तने पढ़ा और बोला—भगवान् कहते हैं कि मेरे अतिरिक्त सब कामना त्याग

दो। कहीं स्पृहा मत करो—किसीको साथ मत रखो। ममता भगवान्‌में और अहंकारका क्या काम।

योगीने यह श्लोक पढ़ा तो उसे लगा कि चित्तवृत्ति-निरोध करके समाधि लगानेकी ही बात भगवान्‌ने कही है।

धर्मात्माने पढ़ा तो उसे स्मरण आया—

उन्नति निखिला जीवाः धर्मेणैव क्रमादिह।
विदधानाः सावधानाः लभन्ते ते परं पदम॥

सभी जीव सावधानीसे धर्माचरण करते हुए ही क्रमशः उन्नति करके परं पद प्राप्त करते हैं।

सब कामनाओंको, स्पृहाको, ममताको तथा अन्य अहंकारको छोड़े बिना धर्माचरण पूर्ण कैसे हो सकता है?

बन्धन केवल स्वार्थ और भोग है, और कोई बन्धन नहीं है। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र या जातिका सीमित स्वार्थ बन्धन है।

भगवान्‌ने यहाँ वैदिक आचरणका कोई आग्रह नहीं किया है। यह तो महर्षि कणादके मतका धर्म है—

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

कर्ममें वैदिकत्वका होना आवश्यक है। कर्म संवैधानिक होना चाहिए। देवर्षि नारद विधि-साध्यमान होना और गुरु-परम्परा प्राप्त होना आवश्यक मानते हैं। अर्थात् अपने आचार्य, महापुरुषके मतानुसार चलना धर्म है।

महर्षि गौतमका मत है कि जीवनमें प्रवृत्ति शुभ होनी चाहिए। जो मोह, राग-द्वेषका निवर्तक हो, वह धर्म है।

महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—'राग-द्वेषादि क्लिष्ट वृत्तियोंके निवर्तक कर्मका नाम धर्म है।'

महर्षि कपिलके मतसे विवेकमें जो सहायक हो वह धर्म है।

यल्लोकहितमत्यन्तं यह व्यासजीके मतमें धर्मकी परिभाषा है।

महर्षि अङ्गिरा भगवदर्पित कर्मको ही धर्म मानते हैं। वैदिकत्व या अवैदिकत्वका प्रश्न नहीं है। प्रश्न यह है कि उसका प्रेरक कौन है और वह अर्पित किसे होता है?

भगवान् यहाँ कह रहे हैं कि—**सर्वान् कामान् विहाय** व्यक्तिगत स्वार्थका सर्वथा त्याग करके 'चरित' व्यवहार करते चलो। '**निस्पृहः**' इतना इकट्ठा हो जाय, यह सफलता मिल ही जाय, ऐसी स्पृहा मत करो। जो एकत्र हो जाय उस संग्रहको अपना मत मानो। उसे समाजका—भगवान्‌का समझो। धन रहे; किन्तु वैसे रहे जैसे ट्रस्टीके पास रहता है। इस त्यागका अहंकार भी मत करो।

एषा ब्राह्मी स्थितिः ज्ञानी, योगी, भक्त, कर्मयोगीकी यह ब्राह्मी स्थिति है। इसमें कर्मका विरोध नहीं है, केवल अज्ञानका विरोध है। यदि जीवनमें अन्तिम क्षण भी यह स्थिति प्राप्त हो जाय तो—

ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।

इस प्रकार गीताके दूसरे अध्यायमें—**एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु**—से कर्म-बन्धनको बुद्धियोगसे काटनेका प्रसङ्ग भगवान्‌ने प्रारम्भ किया था और दूसरे अध्यायके अन्ततक इस बुद्धियोगका ही वर्णन चला है।

तृतीय अध्यायके प्रारम्भमें अर्जुनके प्रश्नका कारण भी यह बुद्धियोगका वर्णन है और कर्मयोगको समझनेके लिए भी इस बुद्धियोगको हृदयंगम कर लेना आवश्यक है।



कर्मयोग

संगति　　　　　　: 1-2 :

मैं जब काशीमें पढ़ता था तो गुरुजी एक बार प्रयाग जा रहे थे। मैं भी उनके साथ गया। वहाँ पहले-पहले मैंने माघ मेलेमें सेठ श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका प्रवचन सुना। उस सभामें लंगोटी लगाये एक अवधूत आया। उसने सेठजीसे कहा—'मैं भी व्याख्यान दूँगा।'

सेठजीने अनुमति दे दी। अवधूत बोला—'गीता कोई शास्त्र नहीं है। यह तो दो मित्रोंकी बातचीत है। इसे इसी दृष्टिसे देखो। श्रीकृष्णसे तुम्हारी मैत्री होगी तो गीता तुम्हारी समझमें आयेगी।'

तीसरे अध्यायके प्रारम्भमें ही बड़ी मैत्रीपूर्ण बात कही गयी है।

दूसरे अध्यायमें बुद्धियोग है। पहले समझदारी, तब काम। काम करना है तो समझकर कीजिये।

दूसरे अध्यायके प्रारम्भमें सांख्ययोग है। यह देह जो आत्मरूपमें प्रतीत हो रहा है, इसमें गिनो—संख्या करो कि इसमें कितनी वस्तुएँ प्रकृतिकी हैं और आत्मा क्या है? संख्या करके प्रकृतिकी वस्तुओंको छोड़कर आत्माको पहचान लो।

अपनेको पहचान लोगे तो जो कर्तापन, भोक्तापन, पापी-पुण्यात्मा होना, सुखी-दुःखी होना और वस्तुओंमें मोह है, वह नहीं रहेगा। कर्म-भोग और संग्रहमें तो देहात्मबुद्धि फँसाती है। इससे तुम पृथक हो, यह पहले सिखा दिया।

इसके बाद बुद्धियोगमें '**जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते**' समझाते हुए कर्म करनेकी वह पद्धति भगवान्ने बतलायी—वह बुद्धियोग समझाया जिससे कर्मका बन्धन न प्राप्त हो।

इस बुद्धियोगको सुनकर ही अर्जुनका प्रश्न बना है।

अर्जनात् अर्जुनः जो उपार्जन करे—साधन-सम्पत्ति एकत्र करनेवाला है, उसका नाम अर्जुन है।

महाभारतके टीकाकार नीलकण्ठजी कहते हैं—**ऋजुत्वादर्जुनः** अर्जुनका अर्थ है सरल। जो ज्ञान प्राप्त करना चाहे उसे सीधा सच्चा होना चाहिए। अर्जुन सरल है, अतः सीधा सरल मार्ग पूछ रहा है।

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥ 1॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥ 2॥

जर्नादन ! यदि आपके मतमें कर्मसे बुद्धि ही श्रेष्ठ है तो हे केशव! मुझे घोर कर्ममें क्यों लगा रहे हो?

मिश्रित जैसे वाक्योंसे मेरी बुद्धिको आप मोहित सी कर रहे हैं। अतः जिससे मैं कल्याण प्राप्त करूँ, वह एक (मार्ग) निश्चित करके कहिये।

'**दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद् धनञ्जय।**' आदि वाक्य श्रीकृष्णने कहे हैं। अर्जुन पूछता है कि—'क्या आपके मतमें कर्म करनेसे बुद्धि श्रेष्ठ है? जब आप बुद्धिको श्रेष्ठ मानते हैं तो मुझे सत्कर्म या सामान्य कर्मको भी छोड़ घोर कर्म-सगे सम्बन्धियोंको मारनेमें क्यों लगाते हैं?'

बुद्धिका अधिकार अन्तरंग है और कर्मका अधिकार बहिरंग है। कर्म न हो तो भी हाथ रहेगा; किन्तु हाथ न हो तो कर्म नहीं होगा। कर्म करनेकी अपेक्षा कर्म करनेवाली इन्द्रिय अन्तरंग है। उन इन्द्रियोंसे संकल्प करनेवाला मन अन्तरंग है। संकल्प होनेपर ही इन्द्रियाँ काम करती हैं। जिसे हम अपने लिए हितकारी समझते हैं, उसे करनेका संकल्प करते हैं। अतः संकल्प करनेवाले मनसे बुद्धि अन्तरंग है।

इस प्रकार जब बुद्धिकी ही प्रधानता है तो युद्धादि निकृष्ट कर्म क्यों किये जायँ? हम अच्छे कर्ममें ही क्यों न लगें?

यहाँ प्रश्नकर्ता भूल गया है कि कर्म कोई अच्छा या बुरा नहीं होता। कर्ममें कर्ताके भाव, उद्देश्य, अधिकारी-अनधिकारीका प्रश्न होता है। सैनिक यदि युद्धिभूमिमें यदि यह कहे—'युद्ध त्याज्य कर्म है' तो वह कर्तव्यच्युत है। गोली मारे जाने योग्य है। कर्म कोई घोर-अघोर नहीं हुआ करता।

अर्जुनने सम्बोधन किया 'जर्नादन! तुम दुष्ट-जनार्दन हो—लोगोंको मारनेमें तुम्हारी रुचि है, कहीं इसीलिए तो मुझे युद्धमें नहीं लगा रहे हो?

जर्नादन—जो अपने जनको दबावे। सत्पुरुषोंका स्वभाव होता है कि परायेके सम्मुख अपनोंको दबाते हैं। घरमें दो साड़ी आयी तो अच्छा व्यक्ति भाभीको उत्तम साड़ी देगा, पत्नीको सामान्य देगा। उत्तम भोजन अतिथिको करा देगा, घरवाले रूखा-सूखा खा लेंगे। भगवान् भी भक्तोंको भो-वञ्चित रखते हैं। संसारियोंको भोगैश्वर्य दे देते हैं। भगवान् कहते हैं—'बाहर संसारमें सुख-भोग नहीं मिलेगा तो मेरे जनका मन मुझमें लगेगा। अर्जुन कहता है—'तुम जर्नादन हो, इसलिए तो कहीं मुझे ठेलठालकर युद्धमें नहीं लगा रहो हो?

जर्नादन—जना=माया+अर्दन=मायानाशक। 'तुम तो माया-विनाशक हो। फिर मेरी बुद्धिको मोहमें क्यों डाल रहे हो? जब तुम्हारा यही निश्चय है कि कर्मकी अपेक्षा बुद्धि 'ज्यायसी—श्रेष्ठा' है तब मुझे घोर कंर्ममें क्यों लगा रहे हो?

'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्।' 'कर्मण्येवाधिकारस्ते।' आदिसे मुझे छोटा अधिकारी क्यों समझते हो? कर्ममें भी लगाओ तो किसी उत्तम कर्ममें तो लगाओ। यज्ञ करनेको कहो। यह युद्ध रूप घोर कर्म ही क्यों?

'केशव! तुम हो तो बहुत सुन्दर, फिर तुम्हारे मुखसे युद्धमें लगनेकी कठोर बात क्या उचित लगती है?'

अंशवः केशसंज्ञिताः।

'तुम तो ज्ञानघन हो—ज्ञानांशु तुमसे निकलती है। तुम क्यों मुझे मोहित कर रहे हो।'

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।

'यह क्या मिली-जुली-सी बातें करते हो? कभी कहते हो—'**दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद् धनञ्जय।**' और कभी कहते हो—'**कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्**' ऐसी द्व्यर्थक बातें मत करो। जिसमें मेरा कल्याण हो वह निश्चय करके एक बात कहो। तुम जो कहोगे वह करूँगा।' यह अर्जुनके मैत्रीकी—मित्रकी प्रेमकी बात है।



भगवान् कहते हैं—'अर्जुन! तुम तो केवल अपने लिए प्रश्न कर रहे हो; किन्तु मुझपर सम्पूर्ण लोकोंका दायित्व है।'

प्रमाणं सर्वलौकिके।

जो बात मैं कहूँगा, वह केवल तुम तक नहीं रहेगे। मेरी बात सब लोकोंमें, सब समय, सबके लिए प्रमाण मानी जायगी। इसलिए अपनी शास्त्ररूपी वाणीसे जो मैं पहले कह चुका हूँ, वही बात यहाँ फिर कह रहा हूँ।'

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ 3 ॥.

निष्पाप अर्जुन! इस लोकमें पहले भी मैंने दो निष्ठाओंका वर्णन किया है। सांख्यमार्गी लोगोंके लिए ज्ञानयोग और कर्मयोगियोंके लिए कर्मयोग।

'अनघ' भगवान् कहते हैं कि 'अर्जुन! तुम्हारे मनमें जो यह प्रश्न है कि बुद्धि श्रेष्ठ या कर्म, यह ठीक है। कर्म शान्त, श्रेष्ठ या घोर यह भी ठीक है। तुम निष्पाप हो।'

कोई उत्तर देनेवाला यह आशा करे कि प्रश्नकर्त्ता निर्दोष प्रश्न करेगा, यह तो दुराशा है। प्रश्नकर्ताकी बुद्धिमें दोष न होता तो वह प्रश्न ही क्यों करता? यदि वह जानकर पूछता है तो परीक्षा लेना चाहता है, यह दोष उसकी बुद्धिमें है। समझनेको पूछता है तो समझता नहीं, तभी तो पूछता है। अतएव सत्पुरुष प्रश्नकर्ताको दोष नहीं देते।

'अनघ'—अर्जुनने कहा था—'तुम मिली-जुली-सी बातें करके मेरी बुद्धिको मोहित-सी कर रहे हो।'

श्रीकृष्ण कहते हैं—'अनघ! मैं जानता हूँ कि तुम्हारा हृदय निष्पाप है।' वाणी पर सत्पुरुष ध्यान नहीं देते।

'**पुरा प्रोक्ता**' का क्या अर्थ ? 'पुरा' पहले अर्थात् दूसरे अध्यायमें अथवा सृष्टिके प्रारम्भमें ही प्रवृत्तिनिष्ठा और निवृत्तिनिष्ठा कही गयी हैं।

श्रीमधुसूदन सरस्वती कहते हैं—'निष्ठा तो एक ही है; किन्तु उसकी विधाएँ दो हैं। एक ही वस्तुको प्राप्त करनेके दो उपाय हैं।'

यदि भगवान्‌को कहना होता कि 'द्वितीय अध्यायमें कहा है' तो 'प्रोक्ता' कहना पर्याप्त था। संस्कृतमें संक्षिप्त बोलनेकी प्रथा है। अतः 'पुरा प्रोक्ता' का अर्थ है कि 'श्रुति-स्मृति-पुराणोंमें जो पहले कहा गया है।'

सांख्यानाम्—सांख्यका अर्थ विवेकी—आत्मा-अनात्माका विवेक करनेवाले। **सम्यक् ख्यातीति सांख्या।**

जो तत्त्वोंकी गिनती करके बतलाता है, वह ज्ञानयोग है।

जो जीवनमें कुछ कर गुजरना चाहते हैं, उनके लिए कर्म-योग है।

पैर मिला है तो उत्तम स्थानपर जाओ। हाथ मिला है तो उत्तम काम करो। जिह्वा मिली है तो शुभ वाणी बोलो।

कर्मयोग व्यस्त जीवनको योग बना देता है। पैरसे चलना, हाथसे काम करना, जीभसे बोलना—सब योग बन जाता है। भक्तिमें तो विक्षेप योग बन जाता है। कीर्तनमें नृत्य, गान सब योग है। केवल एकाग्रतामें ही योग नहीं होता। विक्षेप इसलिए योग बना कि वह भगवान्‌के लिए हुआ। उद्देश्यकी श्रेष्ठतासे कर्मयोग बन गया।

छोटे-छोटे लक्ष्य अनेक और कर्म अनेक पर महालक्ष्य एक है तो कर्मयोग हुआ। छोटे-छोटे लक्ष्य अनेक नहीं, कर्म अनेक, महालक्ष्य एक तो कर्म भक्ति बन गया।

जब कर्मका लक्ष्य समाधि—अक्लिष्टवृत्तिजनकत्व हो तो वह योग है।

ज्ञानमें जिससे अन्तःकरण शुद्धि हो, वह कर्मयोग है।

हमारा कर्मयोग है यदि वह व्यक्तिगत स्वार्थके लिए न होकर समष्टिकी आराधनाके लिए है।

हमारा विचार योग है—यदि वह व्यक्तिगत स्वार्थके लिए न होकर समष्टिकी सेवाके लिए है।

हमारा भाव भक्ति है—यदि वह व्यक्तिगत स्वार्थके लिए न होकर

समष्टिकी तुष्टिके लिए है। हमारी शान्ति भी योग है यदि वह व्यक्तिगत सुखके लिए न होकर ईश्वरके लिए है। कोई भी क्रिया, विचार, चेष्टा या भाव योग हो जाता है, जब वह ईश्वरके लिए होता है।

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा—निष्ठा दो प्रकारकी होती है। कोई बुद्धिसे विचार करके कर्ममें जाते हैं और कोई कर्म करके बुद्धि शुद्ध करते हैं। कर्म करके अनुभव प्राप्त करते हैं। बिना कर्मके बुद्धि निर्बल-अनुभवशून्य रहती है और बिना बुद्धिके कर्म निर्बल रहता है। सोचें बहुत और करें कुछ नहीं तो उनका चिन्तन व्यर्थ और करें बहुत पर बिना सोचे-समझे तो उनका कर्म हानिकर भी हो सकता है। अतः आचरण और ज्ञान दोनों मिलकर शक्तिशाली होते हैं।

प्रश्न है कि अविद्या-निवृत्ति कैसे होगी? किसीको रस्सीमें सर्प दीखता है तो क्या रस्सी सर्प मिटा देगी?

रस्सी सर्प नहीं मिटायेगी; क्योंकि रस्सीने तो सर्प उत्पन्न ही नहीं किया है। रस्सीके अज्ञानसे उसमें सर्पका भ्रम हुआ है, अतः रस्सीका ज्ञान सर्पका भ्रम मिटायेगा।

यह दृश्य-प्रपञ्च न ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ और न ब्रह्म इसे मिटायेगा। ब्रह्मके अज्ञानसे यह उत्पन्न है, अतः ब्रह्मज्ञान इसे मिटायेगा। यह ब्रह्मज्ञान होगा बुद्धिसे। बुद्धिको बलवती बनानेके लिए कर्म आवश्यक है।

श्रीवाचस्पति मिश्रने 'भामती'में कहा—'कर्मसे केवल जिज्ञासा उत्पन्न होती है।'

श्रीसुरेश्वराचार्य—विवरणप्रस्थानकारका मत है कि—'कर्मसे ज्ञान होता है; क्योंकि श्रुति कहती है—'**यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति।**'

वैसे दोनोंके मतसे विज्ञान ही अज्ञानको मिटानेवाला है। अज्ञान अनादि और सान्त है। उसे मिटानेवाला ज्ञान सादि और सान्त है। स्वरूपभूत ज्ञान तो नित्य है।



मातृभक्ति, पितृभक्ति, देशभक्ति आदिको योग नहीं कहा जाता। जो ईश्वरसे मिलावे उस कर्मको योग कहते हैं।

कर्म करना क्यों आवश्यक है ? यह बात पूरे तीन अध्यायोंमें समझायी गयी है।

मैं 'कल्याण'-परिवारमें—गीताप्रेसमें छः-सात वर्ष रहा हूँ। वहाँ सेठ जयदयालजी गोयन्दका कर्मयोगका भारी प्रतिपादन करते थे। कर्मयोगके प्रतिपादकोंमें लोकमान्य तिलकके पश्चात् महात्मा गाँधी, श्रीविनोबाजी और सेठ जयदयाल गोयन्दका इस युगके प्रमुख आचार्य हैं। इन्होंने अपनी टीकाओंमें इन अध्याओंपर बहुत विचार किया है।

मैं एक बालकका यज्ञोपवीत-संस्कार कराने गया। वह बोला—'क्यों पण्डित जी ! अन्तमें मुझे संन्यास लेना है या नहीं ?'

मैं—'यदि वर्णाश्रमानुसार चलो तो अन्तमें संन्यास तो लेना है।'

वह—'जब अन्तमें संन्यास लेकर यज्ञोपवीत त्यागना ही है, चोटी कटवा ही देनी है तो अभी इससे मुझे क्यों जोड़ते हैं ?'

इसीका उत्तर भगवान् दे रहे हैं।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ 4॥

पुरुष कर्म आरम्भ ही न करे, इससे नैष्कर्म्य नहीं पा लेता और केवल त्याग कर देनेसे ही कोई सिद्धि नहीं पाता।

जब पहले यज्ञोपवीत-संस्कार कराके वेदाध्ययन करेगा, अग्निहोत्र करेगा, ब्रह्मचर्यका पालन करके गृहस्थ-वानप्रस्थाश्रमोंका क्रमशः निर्वाह कर लेगा, तब संन्यासकी योग्यता उत्पन्न होगी। यदि कर्मका आरम्भ ही नहीं करेगा तो कर्म-चक्रसे मुक्त हो ही नहीं सकता।

'जब छोड़ना ही है तो क्यों न छोड़ दें' यह तर्क ठीक नहीं है। एक गृहस्थने पूछा—'आज ही संन्यास ले लें तो सिद्धि मिलेगी या नहीं?'

भगवान् कहे हैं—'नहीं मिलेगी।'

जबतक तुमने कर्त्तव्य कर्म पूरे नहीं किये, अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं हुई, सफलता कैसे मिलेगी?

इस श्लोकके पूर्वार्धमें कर्म प्रारम्भ ही न करनेके दोषका और उत्तरार्धमें प्रारम्भ करके अपूर्ण छोड़ देनेके दोषका वर्णन है। कर्म प्रारम्भ ही न किया जाय यह भी अनुचित और आरम्भ करके अपूर्ण छोड़ दिया जाय यह भी अनुचित है।

न च संन्यसनादेव में 'एव' ध्यान देने योग्य है। इस 'एव' का तात्पर्य है कि कर्मत्यागसे सिद्धि मिलती है; किन्तु केवल कर्म-त्यागमात्रसे नहीं मिलती। संन्याससे सिद्धि मिलती है; किन्तु केवल संन्यासमात्रसे सिद्धि नहीं मिलती।

काशीमें महामहोपाध्याय पञ्चानन तर्करत्नके यहाँ धर्मचर्चा चली तो उन्होंने एक कथा सुनायी। 'एक पिताके चार पुत्र थे। पिताने एकको वेदपाठकी शिक्षा दी, एकको सेनामें भर्ती कराया। एकको व्यापारी बनाया। एकको घरके कामकी शिक्षा दी।'

अब वे चारों परस्पर झगड़ने लगे। वेदपाठी कहने लगा—'मैं हथियार चलाऊँगा।'

सैनिक बोला—'सेनामें श्रम बहुत है, मैं व्यापार करूँगा।'

व्यापारी बोला—'मुझे दूकानपर बैठना रुचता नहीं। मैं घरका काम करूँगा।'

घर रहनेवाला बोला—'सब मुझे छोटा समझते हैं। मैं वेद पाठ करूँगा।'

अन्तमें चारोंने निश्चय किया कि 'जो चारोंका कर्तव्य हो उसे मिलकर पहले चारों करें। चारोंने कहा—'पिताजी मरेंगे तो उनको श्मशान ले जाकर फूँक देना चारोंका कर्तव्य है, अतः इसे तो चारोंको मिलकर करना होगा।'

एक बोला—'काल करै सो आज कर।'

अब चारों बाँस, रस्सी, कफन जुटानेमें लग गये। अर्थी बना ली। पिताको बलपूर्वक उसपर लिटाने लगे तो पिताने चारोंको एक-एक चपत लगायी और बोले—'मैंने तुमको उत्पन्न किया, पाला, पढ़ाया और तुम मुझे ही जलाने ले जाना चाहते हो?'

धर्म पिता है और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये उसके पुत्र है। ये अपने-अपने धर्मका पालन करनेको उद्यत नहीं। धर्म-संकर हो रहा है। मानो ये धर्मको ही अर्थीपर बाँधकर जलाने जा रहे हैं। लेकिन धर्म कभी मरता नहीं। वह भले रुष्ट हो अपने पुत्रोंको मार डाले, पर धर्म सनातन है। वह शाश्वत रहता है।

न कर्मणामनारम्भात्—पहले लोग स्वर्गकी प्राप्तिके लिए कर्म करते थे अथवा नरक जानेसे बचनेके लिए।

मोक्षार्थी मोक्षके लिए निष्कामभावसे कर्म करते हैं, जिससे अन्तःकरणकी शुद्धि हो। गीतामें स्वर्ग-प्राप्तिके लिए कर्म करनेका प्रतिपादन नहीं हैं। श्रीकृष्ण स्वर्गार्थीकी खुली निन्दा करते हैं—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥

(गीता 2.42, 43, 44)

आजकल लोग लौकिक उन्नतिके लिए या मोक्षके लिए कर्म करते हैं। कर्म करना ऐसे चाहिए कि लौकिक उन्नति भी हो और मोक्षप्राप्ति भी।

कर्म करते समय यह विचार करना आवश्यक है कि 'यह कर्म मोक्षका साधन है या नहीं?' इसमें दो पक्ष हैं—1. कर्म करना पर फल ईश्वरपर छोड़ देना। 2. कर्म कर्तव्य-बुद्धिसे करना। फलेच्छासे कर्म करना ही नहीं। तात्पर्य यह है कि कर्मयोगके मार्गमें ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी दोनों चल सकते हैं। दोनोंका इसमें अधिकार है।

जैनधर्म वेद, ईश्वर, ब्राह्मण और स्नान नहीं मानता; किन्तु अपने आचार्यके अनुसार कर्मयोग कर सकता है। बौद्ध वेद, ईश्वर, यज्ञ, ब्राह्मण तथा आत्माको भी नहीं मानते; किन्तु वे भी कर्मयोगके अधिकारी हैं।

कर्तव्य कर्मका पालन वर्तमान क्षणमें करो। कर्मका फल तुम्हारे हाथमें नहीं और कर्मको पूरा कर देना भी तुम्हारे हाथमें नहीं, अतः प्रत्येक क्षणको कर्मसे भरते चलो।

लोकमान्य तिलकका मत है—तत्त्वज्ञान होनेपर भी कर्म करना आवश्यक है। आत्मा ही अद्वितीय परमब्रह्म है, इसे जानो; किन्तु जबतक जीवन रहे,कर्म करो।'

अब देखना यह है कि जबतक कर्ता रहेगा, तबतक उसे कर्म-फल लगेगा ही। कर्म करनेके लिए उसे एक देह, इन्द्रिय और मनमें यह अभिमान करना होगा कि 'यह देह, इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण मेरे।' जब इनसे किया जानेवाला कर्म मेरा, तब उस कर्मका भोग भी तो मेरा होगा।

श्रीशंकराचार्यसे लोकमान्य तिलकका विरोध नहीं है। श्रीशंकराचार्य भगवान् कहते हैं—'जब अन्तःकरण शुद्ध होकर मुमुक्षा जागती है, वैराग्य होता है, तब तत्त्वज्ञानका अधिकार होता है।' श्रीशंकराचार्य कर्मका विरोध संन्यासीके लिए करते हैं। वे—'अन्तिम क्षणमें अज्ञानकी निवृत्ति कर्मसे नहीं होती, तत्त्वमस्यादि-जन्य ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानसे होती है।' इतना ही कहते हैं।

कोई तत्त्वज्ञानी गृहस्थ कर्म करे तो श्रीशंकराचार्यके मतमें उसका विरोध कहाँ है?

एक बार हरिद्वारमें साधुसम्मेलन हो रहा था। एकने श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराजसे पूछा—'संन्यासीको राजनीतिमें पड़ना चाहिए या नहीं?'

करपात्रीजी बोले—'तत्त्वज्ञानी कुछ भी कर सकता है। विधि-निषेध तो कर्ताके लिए होता है।'

सर्वापेक्षा यज्ञादिश्रुतेः अश्ववत्। (ब्रह्मसूत्र)

इसकी टीकामें 'भामती'में वाचस्पति मिश्रने स्पष्ट लिखा है—'तत्त्वज्ञको अदृष्ट उत्पन्न करनेके लिए कर्म करना आवश्यक नहीं है। लोकहितके विचारसे उसे कर्म करना चाहिए।'

सेठ श्रीजयदयालजी गोयन्दका कहते थे—'तत्त्वज्ञान होनेके बाद यदि कोई कर्म करे तो कोई उसे रोकनेवाला नहीं है; किन्तु लोकमान्य तिलक जी जो कहते हैं कि 'तत्त्वज्ञ कर्म करे ही' वह हमें मान्य नहीं है। कर्मयोगी तो अवश्य होना चाहिए; किन्तु कर्मयोग मुक्तिका साधन है। मुक्त हो ेपर वह आवश्यक नहीं है।'

भगवान् शंकराचार्यका मत है—'कर्मयोगसे अन्त:करणकी शुद्धि होती है। अन्त:करण शुद्ध होनेपर ज्ञान होता है। उस ज्ञानसे मुक्ति होती है।'

सेठ जयदयालजी गोयन्दकाका मत था—'कर्मयोग और सांख्य-योग स्वतन्त्र मार्ग हैं।'

इस विषयपर उनसे मेरी बरसोंतक बात-चीत होती रही। मेरा कहना था—'कर्मसे मुक्ति कैसे सम्भव है? कर्म सीमित होता है और मुक्ति आत्माका असीम स्वरूप है। वह कर्मके फलसे कैसे मिलेगा?'

सेठजीका कहना था—'जब हम कर्मयोग करते हैं तो उसके दो रूप होते हैं—1. केवल कर्तव्यबुद्धिसे। 2. ईश्वरको प्रसन्न करनेके लिए। यदि कर्मयोग केवल कर्तव्यबुद्धिसे किया गया है तो उससे अन्त:करणकी शुद्धि होगी। शुद्धान्त:करणमें जिज्ञासाका उदय होकर ज्ञान होगा और उस ज्ञानसे मुक्ति होगी। लेकिन जो ईश्वरको प्रसन्न करनेके लिए कर्मयोगमें लगे हैं, उनके कर्मसे ईश्वर प्रसन्न होगा। उन्हें ईश्वर ज्ञान दे देता है।'

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता 10.9,10)

× × ×

..............................अहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(गीता 10.11)

× × ×

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(गीता 12.7)

'ईश्वर प्रसन्न होकर उन्हें बिना संन्यास, बिना वाक्यार्थ-लक्ष्यार्थ विचारके तत्त्व ज्ञान दे देता है।'

बहुत तर्क-वितर्क करनेपर श्रीगोयन्दकाजी कह देते थे—'निर्गुण परमात्माकी प्राप्तिमें ज्ञान ही स्वतन्त्र साधन हैं; किन्तु सगुण ईश्वरकी प्राप्तिमें भक्ति और कर्मयोग स्वतन्त्र साधन हैं।'

सोचना तो यहाँ यह है कि क्या निर्गुण और सगुण ईश्वर दो हैं?

महात्मा गाँधीजीने दर्शनपक्ष नहीं उठाया है। उनका साधन पवित्र हो, इसीपर बल है।

लोकमान्य तिलक 'साधन और साधक दोनों पवित्र होने चाहिए' यह कहते हैं।

श्रीगोयन्दका जीका कहना है—'साध्यकी भी पवित्रता चाहिए।'

'**नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते**' कर्मत्यागका उद्देश्य क्या है? सम्पूर्ण कर्मोंसे मुक्ति पाना, यह उद्देश्य है।

कर्मभ्यो निष्क्रान्तं ब्रह्म तस्य भावो नैष्कर्म्यम्, तत्।

उस ब्रह्मभावकी प्राप्ति उद्देश्य है। मैं एक सज्जनके घर गया। उनका एक सत्रह वर्षका लड़का था। वह न स्वयं स्नान करता था, न स्वयं भोजन करता था, न बोलता था। क्या उसे नैष्कर्म्यकी प्राप्ति हुई थी? नहीं, उसे जड़ता प्राप्त हुई थी। वह जड़ताके घेरेसे निकल नहीं पाया था। उसकी न शिक्षा हो सकी, न वह व्यापार करने योग्य था।

'**न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यम्**' की रीतिसे कर्म करोगे तब मुक्ति होगी।

एक बर्तनमें मैल जमी थी। कहा गया—'इसमें कंकड़, मिट्टी, पानी डालकर हिलाओ।'

वह बर्तनवाला बोला—'इसमें तो पहलेसे मैल जमी है और मैल-मिट्टी डालनेको क्यों कहते हो?'

अरे मैल-मैलमें मेल होगा, घर्षण होगा तो दोनों निकल जायँगी। कर्मसे

ही कर्मका मल छूटता है। कपड़ा मैला है तो सज्जी, सोडा या साबुन लगाओ उसमें। कर्म विधिवत् करनेसे नैष्कर्म्यकी प्राप्ति होती है।

1. कर्म करते समय देखना है कि अपने भीतर कामना है या नहीं? कामना है तो कर्म विहित है या निषिद्ध? संवैधानिक है या असंवैधानिक? यदि कर्म अवैध है तो आप पतित हुए।

2. यदि कामना तो भीतर है पर आप कर्म निषिद्ध नहीं करते हैं, विहित कर्म करते हैं तो आप सत्पुरुष हैं।

3. मनमें कामना तो हैं; किन्तु बाहर आप कोई काम नहीं करते हैं तो मिथ्याचारी-दम्भी हैं। '**मिथ्याचारः स उच्यते**।' (गीता 3.6)

4. आप कर्म करते हैं; किन्तु मनमें कामना नहीं है। भले आप व्यापारमें लगे हों, सैनिक हों या अध्यापक हों। यह निष्काम कर्म है।

इस विषयपर मैंने सेठ जयदयालजी गोयन्दकासे कहा—'जबतक हम आत्माको भोक्ता मानते रहेंगे, तबतक कोई निष्काम कैसे हो सकता है?'

सेठ जी—'आप ठीक कहते हैं। हम तो साधारण लोगोंके लिए साधारण विवेचन कर रहे हैं।'

5. आप बिना कामनाका कर्म करते हैं, यह तो ठीक; किन्तु आपमें कर्तापनका भाव है या नहीं? यदि कर्तापनका भाव है तो निष्काम कर्मसे भी पुण्य होगा और वह कर्ताको लगेगा। जबतक कर्तापनका भाव है, कर्म कर्ताको चिपकेंगे ही।

6. आपमें कर्तापन है; किन्तु आप कर्म नहीं करते, समाधि लगाते हैं, तब आपको सिद्धि मिलेगी। आप चाहें या न चाहें सिद्धियाँ मिलेंगी ही।

7. सांख्यशास्त्रके अनुसार आपने विवेक किया और अकर्ता हो गये। इसमें भी कर्म होते हैं। कर्मका त्याग समाधि नहीं है। समाधि-विक्षेप दोनोंमें समान होना चाहिए। अन्यथा विक्षेपसे दुःख होगा।

एक सज्जन एक स्त्रीमें आसक्त हो गये। उससे मिलनेका समय उन्होंने निश्चित किया। उनके गुरुको पता लग गया। गुरुने उनके गलेकी नस दबाकर उन्हें समाधिमें पहुँचा दिया। समाधि टूटी तो वे पश्चाताप करने लगे—'हाय! हाय! उससे मिलने का समय बीत गया।'

ब्रह्मज्ञानसे समाधि-विक्षेपमें समत्व प्राप्त होता है। एक महात्माने मुझे बताया—चार आसक्तियाँ छोड़ दो।

1. फलासक्ति अमुक कर्मसे अमुक फल मुझे प्राप्त हो।

2. कर्मासक्ति—यह कर्म पूरा ही होना चाहिए।

उस समय मैं 'कल्याण' सम्पादन-विभागमें था। एक महात्माका लेख 'कल्याण' में नहीं छपा तो वे अप्रसन्न हो गये। उन्हें मनानेको मुझे भेजा गया। मैंने उनसे कहा—'हम सब एक अच्छे काममें लगे हैं। लोक-कल्याणार्थ सब निष्काम कर्म करते हैं। इसमें आप असन्तुष्ट क्यों होते हैं?'

वे बोले—'शान्तनु! अच्छा एक बात बतलाओ कि सरकार यदि आज 'कल्याण' बन्द कर दे तो तुम सबको दु:ख होगा या नहीं?'

मैं—'होगा।'

वे—'इसका अर्थ है कि तुम लोगोंमें फलासक्ति तो नहीं है; किन्तु कर्मासक्ति है।'

3. कर्तृत्वासक्ति—सरकारने काम बन्द कर दिया तो दूसरे नामसे नवीन संस्था बना ली। हम कुछ न कुछ करते ही रहेंगे।

4. अकर्तृत्वासक्ति—काम करेंगे ही नहीं। समाधि ही लगाये रहेंगे।

ये चारों आसक्तियाँ छोड़कर जो कर्तव्यरूपसे सामने आये, उसे करते चलो।

कर्म तो ऐसा है जैसे दर्पणमें मैल लगी हो तो उसे छुड़ानेका प्रयत्न किया जाय। बिना अन्त:करण शुद्धिके ज्ञान नहीं होता। अन्त:करण शुद्धिके लिए कर्म करना आवश्यक है।

किसी स्त्रीने एकसे कहा—'मैं तुम्हें तलाक देती हूँ।'

पुरुष—'देवि! मैंने तुमसे विवाह ही कब किया था?'

इसी प्रकार जो पहले कर्मदीक्षा लेकर कर्मानुष्ठान कर ले, उसके लिए नैष्कर्म्य है।

न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।

मैं सन् 31से 33 तक कनखल जाता रहा गर्मियोंमें। वहाँ महामण्डलेश्वर श्रीस्वामी भागवतानन्दजीके यहाँ रुकता था। उस समय मैं तो सफेद वस्त्रोंमें

था; किन्तु युवक संन्यासी मुझसे पञ्चदशी आदि वेदान्त-ग्रन्थ पढ़ते थे। वे अपने हृदयकी बात मुझसे कहते थे। उनमें कई कहते थे—'हम तो आठ, बारह या सोलह वर्षके थे तब हमारे माँ-बाप हमें महन्तजीको दे गये। अब गार्हस्थ्य देखनेकी इच्छा उदित होती है।'

उन दिनों आधे पैसे (अधेले)का गेरू एक व्यक्तिको कपड़े रंग लेनेको पर्याप्त था। इतनेसे कपड़े रंगकर कोई संन्यासी बन गया तो उसका मन बदल जायगा?

उन दिनोंकी बात मैं जानता हूँ—अबका पता नहीं। गर्मियोंमें अनेक लोग दूर-दूरसे ऋषिकेश आकर चोटी काट, जनेऊ फेंक, गेरूसे कपड़ा रंग लेते थे। गर्मियोंमें तीर्थयात्री वहाँ बहुत आते हैं। उनसे पैसा माँगते थे। मौसम जब बीत जाता तो सर्दीके प्रारम्भमें फिर सफेद कपड़े पहन, चोटी रख, जनेऊ गलेमें डाल लेते और वे अपने घर चले जाते।

मैंने देखा है कि कुम्भके मेलेमें मण्डलेश्वरोंके साथ बिना भीड़-भाड़के सुविधासे स्नान करनेके लिए कई गृहस्थ गेरुआ वस्त्र ओढ़कर उन मण्डलेश्वरोंके जुलूसके साथ हो जाते हैं।

भगवान् शंकराचार्य केवल दो प्रकारके संन्यासके पक्षमें हैं—

1. विविदिषु संन्यास, 2. विद्वत्-संन्यास। इसमें भी पुराना मत यही है कि शूद्र, वैश्य और क्षत्रिय संन्यास ग्रहण ही न करें। संन्यासाश्रम केवल ब्राह्मणोंके लिए है।

ब्राह्मणोंमें भी जिनके जीवनमें कोई व्रत, अध्ययन नहीं है, उन्हें भिक्षान्न खानेका कोई अधिकार नहीं है। यह बात धर्मशास्त्रमें बार-बार आयी है।

व्रताध्ययनहीनास्तु यत्र भैक्षचरा द्विजाः।
तं ग्रामं दण्डयेद् राजा चौरभक्तप्रदो हि सः॥

व्रत और अध्ययनसे रहित ब्राह्मण जिस ग्राममें भिक्षाजीवी होकर रहते हों, प्रशासनको चाहिए कि वह पूरे ग्रामको दण्डित करे; क्योंकि वह ग्राम चोरोंको भोजन दे रहा है। उस ग्रामपर सामूहिक अर्थ-दण्ड किया जाना चाहिए।

संन्यासका अधिकार केवल ब्राह्मणको ही है, इस विषयमें यह

स्पष्टीकरण आवश्यक है कि ब्राह्मण एक जन्मसे होते हैं और एक गुणसे। वेदान्तका अधिकार अन्तःकरण-शुद्धिसे प्राप्त होता है, जन्मसे नहीं। अतः यहाँ गुणसे ब्राह्मणको संन्यासका अधिकारी मानना चाहिए। जिसमें शम-दमादि साधन-सम्पत्ति हो, वह संन्यास ग्रहण करे।

यो विद्यागुणसम्पन्नः स संन्यासमापद्येत।

वह चाहे किसी भी वर्णमें उत्पन्न हुआ हो, संन्यासका अधिकारी है। लेकिन जिसमें जिज्ञासा और वैराग्य नहीं है, वह संन्यासका अधिकारी नहीं है।

शूद्रस्य तदनादरश्रवणात्।

ब्रह्मसूत्रके इस सूत्रके भाष्यमें प्रश्न उठा है कि शूद्रको ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति सम्भव है या नहीं ? भाष्यकारने निषेध किया है; किन्तु शूद्र शब्दका अर्थ यहाँ विचारणीय है। यहाँ आया शूद्र शब्द शूद्र वर्णके लिए नहीं है।

शुचा द्रवतीति शूद्रः।

जो शोकसे व्याकुल हो रहा है, वह शूद्र है। जो धन-हरण, जन-मरण या बन्धु-वियोगादिसे शोक-विह्वल हो रहा है, वह ब्रह्म-विद्याका अधिकारी नहीं। पहले उसमें वैराग्य आना चाहिए।

भगवान् श्रीकृष्ण या भगवान् शंकराचार्यके मतमें ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिके लिए संन्यास प्रधान नहीं है। संन्यास तो आश्रम है और उसमें जानेका अधिकार थोड़े लोगोंको है।

श्रीशंकराचार्यजी चारों पुरुषार्थोंके प्रतिपादक हैं। जिन्हें लौकिक-पारलौकिक उन्नति प्रिय है, वे धर्माचरण करें। धनार्थी व्यापार करें। जिन्हें केवल मोक्ष चाहिए, वे संन्यास ग्रहण करें।

भगवान् शंकराचार्य नहीं चाहते कि वैदिक वेदपाठ छोड़ दें, सैनिक बन्दूकें फेंक दें, व्यापारी व्यापार बंद कर दें और सब संन्यासी बन जायें। केवल योग्य अधिकारी लें, यह उनका अभिमत है।

जिसके कर्म और इन्द्रियाँ नियन्त्रित नहीं, भोग और इन्द्रियाँ नियन्त्रित नहीं, वचन और वाणी नियन्त्रित नहीं, इन्द्रियाँ और संग्रह नियन्त्रित नहीं, वह मनुष्य तो पामर है—निकृष्ट है। इन सबमें नियन्त्रण हो तो विषयी होता है। जब इनमें परलोकका सम्बन्ध बनता है तब वह धर्माचरणवाला होता है।

जो कर्म केवल बाहरी वस्तुओंको बनाने-सजानेको किया जाता है, उसका नाम श्रम है। उसका नाम धर्म नहीं है। अन्तःकरण, परलोक या अगला जीवन सुधारनेको जो कर्म किया जाता है, उसका नाम धर्म है।

सम्प्रदाय, आचार्य, ग्रन्थ और साधन अनेक होंगे; किन्तु ईश्वर एक होगा। यह भारतीय संस्कृतिकी विशेषता है कि साधनमें अनेकता और साध्यमें एकता। उपासनामें लक्ष्य एक और वृत्तियाँ अनेक होती हैं। योगमें लक्ष्य और वृत्ति दोनों एक होती है। ज्ञानमें लक्ष्य और वृत्तिमें भेद ही नहीं होता।

मैंने श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजसे पूछा—'श्री शङ्कराचार्यजी निवृत्तिके पक्षपाती हैं?'

बाबा—'नहीं। वे संन्यासीके लिए निवृत्तिके पक्षपाती हैं। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थके लिए नहीं।

मैं—उन्होंने ज्ञानके साथ निवृत्तिका सम्बन्ध जोड़ा है?

बाबा—'नहीं, ज्ञानके साथ निवृत्तिका सम्बन्ध नहीं जोड़ा है।' संन्यासाश्रमके साथ निवृत्तिका सम्बन्ध जोड़ा है।'

मैं—'तब ज्ञानके साथ क्या है?'

बाबा—'**निवृत्तिमपि बध्नाति सम्यग् बोधःप्रवृत्तिवत्।**'

सम्यक् ज्ञान जैसे प्रवृत्तिका मर्दन करता है, वैसे ही निवृत्तिका भी मर्दन करता है। ज्ञानमें प्रवृत्ति-निवृत्तिमें समता है।'

भगवान् शंकराचार्यके मनमें—'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके लिए, ब्रह्मचारी, गृहस्थ एवं वानप्रस्थके लिए प्रवृत्ति उचित है। संन्यासीके लिए निवृत्ति योग्य है। ज्ञानीके लिए प्रवृत्ति-निवृत्तिमें समत्व योग्य है।

न च सन्यसनादेव—एक मनुष्यने संन्यास किया; किन्तु मनमें कामना बनीं रही तो ज्ञान होगा? एक मनुष्य कर्म कर रहा हैऔर उसके मनमें भी कामना है तो उसे तत्त्वज्ञान होगा? मनमें कामना रहे तो कर्म करो या कर्म-त्याग होया अथवा निष्कामतापूर्वक कर्मानुष्ठान होगा, तब उससे अन्तःकरण शुद्धि होगी और तत्त्वज्ञानकी योग्यता आयेगी।

तत्त्वज्ञानके लिए अन्तःकरणकी शुद्धि अपेक्षित है। वह निष्कामतासे अनुवृत्त कर्म-संन्यास अथवा निष्कामतासे अनुवृत्त कर्मानुष्ठान-दोनोंसे होती

है। वस्तुत:निष्कामता ही अन्त:करणकी शुद्धि है और वह प्रत्येक दशामें अपेक्षित है।

महाराष्ट्रके संतोंकी परम्परा विलक्षण ही है। ज्ञान होनेके बाद भी ज्ञानेश्वरजीमें भक्ति गौण और योग तथा ज्ञान प्रधान हैं। श्रीएकनाथ और नामदेवजीमें तत्त्वज्ञानके साथ ऐश्वर्य-प्रधान भक्ति है। तुकारामजीमें तत्त्वज्ञान और माधुर्य-प्रधान भक्ति है, समर्थ रामदासजीमें ज्ञान और धर्मानुष्ठान प्रधान हैं। लोकमान्य तिलकमें ज्ञानके साथ कर्मयोग प्रधान है। सन्त कबीरके समान ही नामदेवजी भी अन्तर्योगी—ध्यानयोग-प्रधान तत्त्वज्ञानी हैं। व्यवहारमें सबमें अन्तर है; किन्तु तत्त्वज्ञानमें सब एक हैं।

परमात्माके मार्गपर चलना है तो यह समझना होगा कि केवल अज्ञानपूर्वक कर्म करते रहनेसे या अज्ञानपूर्वक कर्म-त्याग करनेसे कोई सिद्धि प्राप्त नहीं होगी। जिसमें वैराग्य नहीं, जिज्ञासा नहीं, उसे केवल चोटी काट देने, जनेऊ त्याग देने और कपड़ा रंग लेनेसे इस मार्गमें कोई सफलता नहीं मिलेगी।



न च सन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति। के सन्दर्भमें ही आगे कह रहे हैं कि यह असम्भव प्रयास है। कोई कहे—'हम कर्म करेंगे ही नहीं। कर्म-त्याग कर देते हैं।' तो यह उसका अज्ञान ही है। वह ऐसा सचमुच कर नहीं सकता।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशःकर्म सर्वःप्रकृतिजैर्गुणैः॥ 5॥

कोई एक क्षण भी कभी बिना कर्म किये नहीं रह सकता। प्रकृतिके गुण सबको विवश करके उससे कर्म कराते रहते हैं।

संसारमें कोई भी प्राणी ऐसा नहीं जो एक क्षण भी कार्य रहित रह सके। आप कहते हो—'हम पद्मासन लगाकर नेत्र बंद करके स्थिर बैठ जायँगे।' लेकिन यह भी तो कर्म है। इसमें भी तो कर्तृत्व है। शरीरमें स्वेद होता है, हृदय धड़कता है, रक्ताभिसरण होता है; अन्न पाचन होता है, साँस चलती है, यह सब कर्म ही तो हो रहा है। यह कारखाना चल रहा है। आप यह सब बंद करके समाधि लगा सकते हो, यह ठीक; किन्तु समाधि भी तो कर्म है। बाँसकी या बेंतकी छड़ीके सिरेको पकड़कर आपने मोड़ दिया या रबड़को खींचकर लम्बा किया। छोड़ देनेपर छड़ी सीधी हो जायगी, रबड़ सिकुड़ जायगा। जब आपने छड़ी मोड़ रखी थी या रबड़ खींच रखा था, तब भी छड़ीको सीधा करनेवाली, रबड़को सिकोड़नेवाली शक्ति सक्रिय थी या नहीं? इसी प्रकार समाधिसे उत्थित करनेवाली शक्ति समाधि-दशामें भी सक्रिय रहती है।

स्वप्नमें, सुषुप्तिमें भी कोई कर्म किये बिना नहीं रह सकता। कोई प्राणी ऐसा नहीं जो कर्म किये बिना एक क्षण भी रह सके।

यहाँ कर्म और कर्त्तव्यका भेद समझ लेना ठीक है। यह कर्म हो रहा है—जैसे सांस चल रही है। यह कर्म करना हमारा कर्तव्य है—यह कर्म करना हमारे लिए आवश्यक है। इसमें तीन प्रकारके कर्म हैं—1. सामान्य कर्म 2. निषिद्ध कर्म 3. कर्तव्य कर्म। यहाँ सामान्य कर्मकी चर्चा नहीं है। निषिद्ध कर्म मत करो। कर्तव्य कर्म करो।

गुणैः प्रेरितः सर्वः कर्म करोति।

शरीर प्रकृतिके पराधीन है। प्रकृतिका नियम है कि न खानेपर भूख लगेगी। पानी न पीनेपर प्यास लगेगी। लेटे रहनेपर बैठनेकी इच्छा होगी। जबतक शरीर रहेगा, शरीरकी धातुएँ अपना काम करेंगी ही। इस प्रकार जब काम करना ही है तो व्यवस्थित रूपसे काम करो। व्यवस्थित रूपसे काम नहीं करोगे तो मिथ्याचार रूप दोषकी प्राप्ति होगी। मिथ्याचारी अपने आपको ही धोखा देता है।

धोखा कोई दूसरेको नहीं देता। आपका ज्ञान कहता है कि आपने बेईमानी या चोरी की है। आप कहते हैं कि आप ईमानदार हैं तो आपका ज्ञान भीतर हँसेगा। आपका जीवन आपके ही ज्ञानसे तिरस्कृत हो गया। दम्भी जीवन अपनी ही दृष्टिमें तिरस्कृत होता है।

एक, सज्जन विलायत जा रहे थे। काशीमें वे एक बड़े महापुरुष स्वामी योगत्रयानन्दजीके समीप गये और उनसे अपने लिए कोई उपदेश करनेकी प्रार्थना की। स्वामीजी बोले—'कोई ऐसा काम मत करना कि अपनी दृष्टिमें ही गिर जाओ। यदि तुम्हारे भीतरका जज कह देगा कि 'तुम गिर गये' तो बाहरका कोई तुम्हें उठा नहीं सकता।'

व्यक्ति जब बाहरसे इन्द्रियसंयम करके भीतरसे कामना-पूर्ति चाहता है तो वह मिथ्याचारी हो जाता है। तुम मिथ्याचारी मत बनो।

'**कार्यते ह्यवशः कर्म**' संसारमें सब लोग काम करते हैं, उनमें कर्म करनेकी प्रेरणा कहाँसे आती है? कोई मोह-प्रेरित कर्म करते हैं। यह तमोगुणकी प्रेरणा है। कोई रजोगुणसे प्रेरित और कोई सत्त्वगुणसे प्रेरित होकर कर्म करते हैं।

मोह क्या? भय लगा कि 'यहाँ रहेंगे तो मर जायँगे।' यह देहका मोह

प्रेरणा दे रहा है। 'अमुक लड़कीसे विवाह हो जाय, अमुक शत्रु मर जाय।' यह राग-द्वेष रजोगुणकी प्रेरणा है। अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए भगवान्‌की प्रसन्नताके लिए अथवा समाधि लगानेके लिए जो कर्म होते हैं, वे सत्त्वगुणकी प्रेरणासे होते हैं। इस प्रकार सबके ही जीवनमें ये तीनों गुण होते हैं।

सायंकाल हुआ। एक मन हुआ 'भजन करें या शंकरजीका दर्शन कर आयें। यह सत्त्वगुण था। दूसरा मन हुआ—'मित्रके साथ घूम आयें।' यह रजोगुण आ गया। मनने फिर कहा—'कहाँ भटकोगे, सो रहो।' यह तमोगुण आ गया। इस रीतिसे एक ही मनमें तीनों गुण कार्य करते रहते हैं।

तुम्हारे जीवनमें जो इस जन्म या पूर्वजन्मके संस्कारोंसे स्वभाव (प्रकृति) बन चुका है, वह तुम्हें विवश करता है।

भगवान् बुद्धने दस प्रकारकी प्रकृतिका वर्णन किया है। उस चर्या कहते हैं। तृष्णाचरित, मोहचरित, कामचरित, शान्तचरित आदि दस चर्याका वर्णन उनका है। कोई सबेरे बिछौना समेटकर लाये और पटक दे तो समझना होगा कि उसके मनमें उद्वेग है।

'ह्यवशः' इसमें अपना स्वातन्त्र्य नहीं है; किन्तु स्वभावपर अपनेको छोड़ नहीं देना चाहिए। मैं यदि एक घण्टे प्रवचन न करूँ तो मेरे पास दिनभर एक-एक, दो-दो करके लोग आते रहेंगे और पता नहीं क्या-क्या उनके कारण बोलना पड़ेगा। अतः जब बोलना ही पड़ेगा तो व्यवस्थित रूपमें एक घण्टे बोलते हैं।



अब कहने जा रहे हैं मनमें कामना रखकर कर्म करनेमें दोष है; इसलिए मनमें कामना रहते कर्म छोड़ देना उचित नहीं है।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ 6॥

जो कर्मेन्द्रियोंको रोककर मनसे इन्द्रियोंके विषयोंका स्मरण करता रहता है, वह अत्यन्त मूर्ख-बुद्धि है उसे मिथ्याचार-दम्भी कहा जाता है।

विमूढात्मा—एक मूर्ख बुद्धिहीन ही ऐसा समझता है कि बाहरी इन्द्रियोंसे काम नहीं करेंगे तो कर्म-बन्धन नहीं होगा। इस प्रकार कर्म-त्यागकर बैठनेसे मन शान्त होकर बैठा नहीं करता।

एक राजा दोपहर तक भजन करते थे। उस समय किसीसे मिलते नहीं थे। एक दिन एक साधु सबेरे राजासे मिलने आये। द्वारपालने कहा—'महाराज भजन कर रहे हैं।'

साधु—'तेरा राजा तो बाजारमें जूते खरीद रहा है।'

राजा भजनसे उठे तो द्वारपालने साधुकी बात कह दी। राजा बोले—'सचमुच मनसे उस समय जूते खरीदनेकी बात सोच रहा था।'

इस प्रकार जो मनमें विषय-स्मरण करता है,उसका आत्मा विमूढ है। उसका चित्त विषयोंमें अटक गया—भटक गया है। ईश्वरको न चाहकर देह और दैहिक-भोगोंको चाहना, यही मोहका लक्षण है। जो मोह-ग्रस्त है, वह विमूढात्मा है।

पाषाणखण्डेष्वपि रत्नबुद्धिः कान्तेति धीः शोणितमांसपिण्डे।
पञ्चात्मके वर्त्मणि चात्मबुद्धिर्जयत्यसौ काचन मोहलीला॥

पत्थरके टुकड़ोंको बहुमूल्य रत्न समझा जाता है, रक्त-मांसके लोथड़ेको प्रिया-प्रियतम कहते हैं। और पञ्चभूतोंके समूह शरीरको अपना आपा मान रखा है, यह मोहकी ही कोई अद्भुत लीला है, वही अपना खेल दिखा रहा है।

मनमें कामना भरी है और कर्म नहीं कर रहा है, यह दम्भी है—विमूढात्मा है।



संगति : 7 :

मनमें कामना रखकर कर्म न करना जहाँ दोष है, वहीं कामनाका त्याग करके कर्म करना गुण है। मनमें कामना न हो, तब भी कर्मत्याग न करके कर्म करना उचित है, यह कह रहे हैं।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ 7 ॥

जो इन्द्रियोंको मनसे नियन्त्रणमें करके कर्मेन्द्रियोंसे अनासक्त भावसे कर्मयोग करता है, अर्जुन! वह विशेषता पाता है।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्य—इन्द्रियोंको मनके नियन्त्रणमें रहना चाहिए। जब कहें तब काम करें और जब कहें तब रुक जायँ। जहाँ कहें, जायँ और जहाँ कहें—'मत जाओ!' वहाँ न जायँ।

कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगसक्त आरभते—कोई आसक्ति नहीं है चित्तमें। कोई भोग पाना नहीं है और कोई प्राप्त कष्ट मिटाना नहीं है। अनासक्त-भावसे कर्मयोग आरम्भ करता है। योगी ईश्वरका प्राप्ति-साधन मानकर कर्म करता है।

स विशिष्यते—वह विशेषता पाता है। उसका अन्तःकरण सामान्य लोगों-जैसा नहीं रहता—शुद्ध हो जाता है। समाजमें भी वह विशेष माना जाता है। उसे लोकादर्श समझा जाता है।



यह सब तो ठीक; किन्तु अर्जुनने तो अपने लिए पूछा है—

'तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।'

'मेरा कल्याण जिसमें हो वह एक मार्ग मेरे लिए निश्चय करके बताओ।'

'कोई कैसे दम्भी होता है और कैसे विशेष बनता है,यह विस्तार न करके, मैं क्या करूँ? यह क्यों नहीं बतलाते?'

मानो अर्जुनके इस भावको समझकर अब भगवान् कह रहे हैं।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ 8॥

निश्चित रूपसे (अथवा अपने लिए निश्चित विधानतः प्राप्त) कर्म तुम करो; क्योंकि निठल्ले रहनेसे कर्म करना श्रेष्ठ है। निठल्ले रहनेसे तुम्हारा शरीर-निर्वाह भी तो नहीं हो सकता।

'नियतं कुरु कर्म त्वम्'—जो तुम्हारे लिए कर्म निश्चित कर दिया गया है, वह कर्म निश्चित रूपसे करो। कर्म करनेका नियम करो। कर्म अवश्य करो।

'ऐसा क्यों कहते हो?'

कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः—प्रत्येक दशामें निकम्मे बैठे रहनेसे कर्म करना श्रेष्ठ है।

महाभारत उद्योगपर्वमें एक कथा है—एक राजकुमार युवा था; किन्तु राजकार्य देखनेमें उसकी रुचि नहीं थी। शत्रुने उसके राज्यपर चढ़ाई कर दी। सेना युद्धमें हारने लगी तो राजकुमार युद्ध क्षेत्र त्यागकर लौटा और राजभवनमें आकर सो गया। उसकी माता विदुलाने उसे डाँटा—'कायर! तमोगुणी! तूने मेरे नामको, मेरे दूधको लज्जित किया। मेरे पेटसे तू व्यर्थ उत्पन्न हुआ। तूने मेरा जीवन व्यर्थ कर दिया। उठ! युद्धमें जा और कुछ न कर सके तो मर जा!'

राजकुमार बोला—'माँ! मेरे पास सेना नहीं है। शस्त्र नहीं है। मुझे अकर्मण्य समझकर लोग मेरा साथ नहीं देते।'

माताने कहा—'बड़ोंकी उपेक्षा कर दें उनकी चिन्ता छोड़। देशमें जो पतित हैं नीच हैं, चाण्डाल हैं, वेश्यापुत्र हैं, समाज-बहिष्कृत हैं, उन्हें एकत्र

कर। उसकी सेना एकत्र कर तो पीछे बड़े भी तेरा साथ देंगे। सो रहना तो तमोगुण है। उद्योग कर!'

डरनेसे काम नहीं चला करता। आपको भोजन बनाना नहीं आता और यह काम करना है तो रसोई-घरमें जाओ। रोटी जलेगी या कच्ची रहेगी। दाल-शाकका भी यही हाल होगा। लेकिन धीरे-धीरे भोजन बनाना आ जायगा।

पड़े रहना तो तमोगुण है। निद्रा, आलस्य, प्रमादमें पड़े रहनेकी अपेक्षा किसीसे झगड़ना भी अच्छा है। लड़ना बुरा है, यह बात भी लड़नेसे ही ठीक समझमें आयेगी। **अकारणान्मन्दकरणं श्रेयः।**

सर्वथा कुछ न करनेकी अपेक्षा मंद गतिसे भी करना उत्तम है।

प्रयागमें एक बार एक सभा थी। उसमें श्रीईश्वरीशरणजी वकीलने कहा—'हृदय स्वच्छ न हो तो नाम-स्मरण करनेसे क्या लाभ?'

एक महात्मा बोले—'तुम यह कहते हो कि हृदय पवित्र हो जाय तब नाम-स्मरण करना चाहिए? तब तो नाम-स्मरणका एक भी अधिकारी संसारमें नहीं मिलेगा। नाम-स्मरण हृदयको पवित्र करनेका साधन है! तुम तो उलटा सोच रहे हो।'

'**कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः**'—जो सर्वथा कर्म न करके तमोगुणमें पड़ा है, उससे कहते हैं—'कर्म करो!'

जब कर्म करने लगता है, तब उससे कहते हैं—'बुरा काम मत करो। अच्छा काम करो!'

जब अच्छा काम करने लगता है तो उससे कहा जाता है—'सकाम कर्म मत करो। निष्काम भावसे कर्म करो।'

जब मेरा यज्ञोपवीत हुआ, मैं पाँच वर्षका था। सन्ध्यावन्दन मैंने प्रारम्भ किया तो मेरे बाबा (पितामह)ने कहा—'ग्यारह बार गायत्री जप लिया करो।'

जब उतना जप करने लगा तो वे एक दिन बोले—'कम-से-कम एक माला गायत्री-जप तो सन्ध्याके समय किया करो।'

थोड़ा पढ़-लिखकर मैंने मनुस्मृति देखी तो उसमें लिखा मिला—'एक सहस्र गायत्री जप प्रतिदिन करनेसे हृदय पवित्र होता है।'

जब साधुओंका सङ्ग करने लगा तो एक सन्तने कहा—'चौबीस लाख

गायत्री-जपका पुरश्चरण करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होता है।'

'जैसे संन्ध्यावन्दन निष्काम भावसे होता है, ऐसे ही घरके काम भी कर्तव्यबुद्धिसे करने चाहिए।' एक महात्माने मुझे यह बतलाया।

जब निष्काम भावसे कर्म करने लगा तो वे बोले—'अहंकारका त्याग कर दो।'

मैं—'त्याग दिया।'

महात्मा—'नहीं, अहंकार ऐसे नहीं छूटता। मैंने अहंकार छोड़ दिया, यह भी अहंकार ही है।'

'तब कैसे छूटेगा?'

'जब यह देखेंगे कि कर्म मैं नहीं करता, ईश्वर कर्म कराता है।'

मैं—'ईश्वरको क्या गरज पड़ी कि कर्म कराये?'

महात्मा—'सच बात यह है कि तुम भी कर्ता हो और ईश्वर भी। कर्म तो केवल प्रतीयमान भ्रम है।'

एक विद्वान्ने सुनाया—'मनुष्यमें जितनी बुराइयाँ आती हैं, सब निकम्मेपनमें आती है। निकम्मापन सब बुराइयोंका घर है।'

'खाली दिल शैतानका घर।' अतः अपनेको निकम्मा मत रहने दो।'

शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।

एक कहानी है। एक जामुनके पेड़के नीचे दो आलसी पड़े थे कोई घुड़सवार उधरसे निकला तो एकने उसे पुकारा। वह पास आया तो पुकारनेवाला बोला—'कृपा करके घोड़ेसे उतरकर यहाँ आइये।'

वह घोड़ेसे उतरकर पास आया तो वह आलसी बोला—'मेरे पेटपर पड़ा जामुन मेरे मुखमें डाल दीजिये।'

घुड़सवारको क्रोध आया। उसने उसे कई कोड़े जमा दिये। पास पड़ा दूसरा आलसी बोला—'इसे और मारो। मेरा मुख कुत्ता चाट रहा था तो उसने उसे भगाया तक नहीं।'

भोजन करनेके लिए भी ग्रासको उठाकर मुखमें डालना पड़ेगा, मुख चलाना होगा, भोजनको निगलना पड़ेगा। यह सब कर्म ही तो है। बोलना, चलना, शौच-लघुशंका जाना सब कर्म है। कर्मके बिना शरीर-निर्वाह भी सम्भव नहीं है। ◆

'एक ओर तो यह कहा जाता है कि कर्म ही बन्धनके कारण हैं और दूसरी ओर आप कहते हो कि कर्म अवश्य करो, तो कर्म करके तो बन्धनमें ही पड़ना होगा ?' अर्जुनकी इस मनोगत शङ्काका भगवान् उत्तर दे रहे हैं।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचार॥ 9॥

यज्ञार्थ कर्मको छोड़कर और सब कर्म लोकमें बन्धन है। अतः अर्जुन! आसक्तिरहित होकर यज्ञके लिए भली प्रकार कर्म करो।

अयं लोकः कर्मबन्धनः किन्तु यज्ञार्थात् कर्मणः अन्यत्र। यज्ञार्थं कर्म तु बन्धनं न भवतीत्यर्थः। अतः हे कौन्तेय! तदर्थं यज्ञार्थं कर्म मुक्तसङ्गः समाचर।

'**कौन्तेय**'—कुन्तीनन्दन! तुम पवित्र माताके पुत्र हो। कुन्त—संगीन-जैसी तीक्ष्ण बुद्धिशीला माताके विचार-रूप पुत्र हो। तुम विचारवान् हो, अतः ठीक बात समझ सकते हो।

'**कौन्तेय**'—तुम मेरी बुआ कुन्तीके पुत्र मेरे भाई हो। मैं तुम्हें ठीक ही सम्मति दूँगा।

'**कौन्तेय**'—कुन्तीनन्दन! तुम भूल गये हो कि तुम्हारी माताने जब मैं सन्धिदूत होकर हस्तिनापुर आया था तो क्या सन्देश मेरे द्वारा तुम्हें भेजा था ?

यदर्थं क्षत्रिया सूते स कालोऽयमुपस्थितः।

'क्षत्राणी जिस उद्देश्यसे पुत्र उत्पन्न करती है, उस उद्देश्यको पूरा करनेका यह समय आ गया है।' यदि माताके इस सन्देशको तुम भूलते हो तो माताका तुम्हें उत्पन्न करना व्यर्थ हो जायगा। शोक-मोहसे अभिभूत मत होओ। कर्तव्यका पालन करो।

कर्म करेंगे तो बन्धन होगा, इसमें देखना यह है कि मनुष्य बँधता किससे है ?

कर्म करते समय इन्द्रियोंको विषयोंमें लगाना पड़ता है। फावड़ा नहीं उठायेंगे तो खेती कैसे होगी? दूसरोंसे भी काम लेना हो तो कामको जानना तो पड़ता ही है। जहाँ ज्ञानेन्द्रियाँ विषयोंसे जुड़ती हैं, वहाँ भोग होता है। जहाँ केवल कर्मेन्द्रियाँ विषयोंसे जुड़ती हैं, वहाँ कर्म होता है। यदि हम 'यह भोगे बिना और यह किये बिना नहीं रह सकते' तो हमारी इन्द्रियोंका जड़ विषयोंके साथ बन्धन हो गया।

जड़ विषयोंके साथ जब हम बँधेंगे तो दु:ख अवश्यम्भावी है। लेकिन जहाँ नियमका बन्धन होता है, वहाँ धर्म होता है।

'यज्ञार्थात्'—यज्ञ दो प्रकारके होते हैं—१.अव्यक्त-प्रेरित यज्ञ। जैसे—गंगाकी धार बह रही है। सूर्य प्रकाश और गर्मी देता है, अन्धकार और सर्दी मिटाता है।

यज्ञमें लेना और देना दोनों होता है। वृक्ष खाद-पानी लेता है और फूल, फल, पत्ते, गोंद, गन्ध, छाया, लकड़ी देता है। वृक्ष यज्ञ कर रहा है। इस प्रकार संसारकी सब वस्तुएँ यज्ञमें संलग्न है।

अब देखो कि आप क्या यज्ञ कर रहे हो? आप दूसरोंसे लेते रहते हो। आहार, जल, श्वास सब सुविधा लेते रहते हो, पर संसारको दे क्या रहे हो?

यज्ञ त्याग, ग्रहण और नियम, इन तीनोंकी प्रधानतासे सम्पन्न होता है। यज्ञके लिए शुद्ध श्रद्धा, शुद्ध समय, शुद्ध स्थान, शुद्ध सामग्री, शुद्ध मन और शुद्ध मन्त्र-पाठक चाहिए। विधि न हो, नियम न हो तो केवल क्रियासे यज्ञ नहीं हो जाता। मैंने कुर्सीपर बैठकर ब्राह्मणको यज्ञ कराते देखा है।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥

(गीता 17.28)

अर्जुन! श्रद्धा रहित होकर जो हवन, दान, तप या कर्म किया जाता है, वह असत्कर्म कहा जाता है। उसका परलोकमें या इस लोकमें कोई फल नहीं होता।

महाभारतकी कथा है कि कर्ण कवच पहने ही उत्पन्न हुए थे। उनका

कवच अभेद्य था। अर्जुन इन्द्रके पुत्र हैं। देवराज इन्द्रके मनमें अपने पुत्रके प्रति पक्षपात जागा। पुत्रकी सहायता करनी चाही उन्होंने। वे ब्राह्मण बनकर कर्णके यहाँ पहुँचे।

कर्णका नियम था कि पूजाके पीछे और भोजनके पूर्व जो कोई कुछ माँगेगे, उसे अस्वीकार नहीं करेंगे। ब्राह्मणवेशधारी इन्द्रने कर्णसे उनका कवच माँगा। यद्यपि कवच देनेका अर्थ प्राण देने जैसा ही था, परन्तु कर्णने शस्त्रसे अपने चमड़ेसे लगा कवच काटकर ब्राह्मणको दे दिया।

कवच लेकर इन्द्र चलने लगे तो उनके पैर पृथ्वीमें चिपक गये। कोई ले और दे नहीं तो बन्धनमें पड़ेगा ही। आकाशवाणी हुई—'इन्द्र! जबतक तुम कवचके बदले कर्णको कुछ दोगे नहीं, तबतक तुम्हें गति नहीं मिलेगी।'

इन्द्रने कर्णको अपनी अमोघ शक्ति दी; पर कर्ण केवल एक बार उसका प्रयोग कर सकते थे। अर्जुनको भी मार सके ऐसी शक्ति देनेपर ही इन्द्रको स्वर्ग जानेकी गति मिली। श्रीकृष्णने युद्धमें घटोत्कचको भेजा और उस राक्षसके प्रहारसे कौरव घबड़ा गये, स्वयं कर्ण व्याकुल हो गये। तब उस शक्तिका प्रहार करके उन्होंने घटोत्कचको मार दिया।

हम सब लेना तो चाहते हैं, पर देना नहीं चाहते। हम पृथ्वी पर चलते हैं, मकान बनाते है, खेती करते हैं, खदाने खोदते हैं; किन्तु पृथ्वीकी पूजा नहीं करते।

यज्ञका अर्थ यही है कि जिससे कुछ लो, उसे कुछ दो। गंगाजीमें स्नान करते हो, अपनी मैल धोते हो तो उन्हें दूध-चन्दन-पुष्प भी चढ़ाओ। वायुमें श्वास लेते हो तो धूप भी जलाओ। अग्निमें जाने क्या-क्या डालते हो तो थोड़ा घी, शक्कर डालकर हवन भी करो।

लोग कर्म करके बँध जाते हैं। एकने कारखाना खोला। अब वहाँ दस बजे सबेरे पहुँचो और चार बजे शाम तक रहो—यह बन्धन हो गया। कर्ममें दो प्रकारका बन्धन है—1. फल पाना 2. कर्म पूरा करना।

'यज्ञार्थात्'—एक युक्ति है कि कर्म करो भी और बन्धनमें भी न पड़ो। यज्ञके लिए कर्म करो। यज्ञका अर्थ है आत्मबलि—अपने अहंकी बलि कर देना। यह सर्वमेधयाग है।

शुक्ल यजुर्वेदमें एक सर्वमेधयोगका वर्णन है। उसमें लयके क्रमसे मिट्टीका जलमें, इस प्रकार कार्यका कारणमें लय करना है।

'**यज्ञो वै विष्णुः**'—परमेश्वर विष्णु ही यज्ञ हैं। उनके लिए जो कर्म किया जाता है, वह बन्धनकारक नहीं होता।

पृथ्वी तुम्हें धारण करती है, अन्न देती है। जल तुम्हें तृप्त करता है। सूर्य प्रकाश देता है। इस प्रकार चन्द्र, तारे, आकाश, अग्नि आदि सब यज्ञ कर रहे हैं।

तुमने क्या यज्ञ किया? तुम इन सबके ऋणी हो। तुम बिजलीकी बत्ती और पंखेका बिल चुकाते हो, श्वासका बिल चुकाया है? नलके पानीका बिल देते हो, आकाशकी वर्षाका बिल दिया? यह सब तुमपर ईश्वरका ऋण बढ़ता जा रहा है। इसे चुकानेके लिए जो कर्म करोगे, उसका नाम यज्ञ होगा। तुम्हें यह यज्ञ करना पड़ेगा। ऐसा यज्ञ करोगे तब बन्धनमें नहीं पड़ोगे। यदि तुम्हारे जीवनमें यज्ञ नहीं आयेगा तो तुम बन्धनमें पड़ोगे।

जो कर्म यज्ञके लिए होता है, उसमें आसक्ति नहीं होती। वह बन्धनका हेतु नहीं होता। जो भोग यज्ञके लिए होता है उसमें भी आसक्ति नहीं होती, वह भी बन्धनका हेतु नहीं होता। ऐसा कर्म अवश्य कर्तव्य है। उसका परित्याग नहीं किया जाना चाहिए।

यह लोक—जनता तो कर्म-बन्धनमें बँधी है। 'जिससे स्वार्थ सिद्ध हो, वह करो।' पर वह यदि यज्ञके लिए कर्म करे तो बन्धन नहीं होगा। यज्ञका अर्थ है स्वधर्मपालन। परोपकार सम्बन्धी कर्म। भगवत्प्रीत्यर्थ होने-वाले कर्म।

'**यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र....**' मनुष्य इच्छा पर नियन्त्रण करना चाहे तो यह बात ध्यानमें आनी चाहिए कि इच्छा हो लेगी तब उसका पता लगेगा। तब उसका नियन्त्रण कैसे सम्भव है? इस विषयमें सब आचार्य एक मत हैं—

इच्छाया अनारभ्यत्वात्।

जब हम जानबूझकर इच्छा करते नहीं तो उसे रोकें कैसे? आजके वैज्ञानिक कहते हैं—'इच्छाको रोको मत!'

हमारे महात्माओंने रोकनेका उपाय बतलाया—'मनमें आयी इच्छाको

देखो। यह देखो कि बुद्धिका समर्थन नहीं प्राप्त है तो वह स्वयं दुर्बल हो जायेगी। उसे आगे न होने देनेकी युक्ति आपके पास है; क्योंकि इच्छाका स्वभाव है कि उसके प्रति बुद्धिमें प्रियता या महत्ताका उदय हो तो वह टिकाऊ होती है।'

'यह कर्म करके हम बड़े होंगे' या 'यह कर्म करके हमें सुख मिलेगा।' इस ज्ञानके उदयसे ही इच्छा टिकती है।

'**जानाति इच्छति करोति**' क्रम यह है कि पहले किसी विषयमें जानता है, तब उसकी इच्छा होती है और तब इच्छाके अनुसार कर्म होता है। आपके ज्ञानमें आपकी इच्छा कैसी है? आप उसे पूरी करके महान् या सुखी बनना चाहते हैं?

बहुधा व्यक्ति जानता है कि इस इच्छाको पूरी करके हम महान् नहीं बन सकते। जैसे झूठ बोलकर महापुरुष नहीं बना जा सकता; किन्तु सुखाशा, भोग-प्राप्ति, धन-प्राप्ति, निन्दा या भयसे बचावकी आशा वह करता है।

वर्तमान मनोविज्ञान कहता है—'यदि तुम इच्छाको पूरी नहीं करोगे तो पागल हो जाना सम्भव है।'

इसमें यह सुधार करना आवश्यक है कि 'तुम्हारी बुद्धि जिस इच्छाके साथ सहयोग नहीं करेगी, उस इच्छाको पूरी नहीं करोगे तो पागल नहीं होओगे।'

आपके मनमें अन्याय करनेकी इच्छा हुई। प्रश्न यह है कि अन्याय करनेकी ही इच्छा होगी या अन्याय मिटानेकी भी? आप झूठ बोलना बुरा समझते हैं। झूठ बोलनेकी इच्छा स्वार्थवश आपमें उठती है; किन्तु यह भी इच्छा तो साथ ही रहती है कि झूठ न बोलना ठीक है। अब आजका मनोवैज्ञानिक कहता है—'झूठ बोलनेकी इच्छा रोकोगे तो इच्छावरोधजन्य मनोग्रन्थि बनेगी जो पागल तक कर दे सकती है।' लेकिन झूठ बोलनेपर 'झूठ बोलनेके विरुद्ध जो आपमें धारणा है, उसके अवरोधसे भी तो मानस-ग्रन्थि बनेगी या नहीं?' इसलिए जिस इच्छाके पक्षमें सत्य, धर्म, न्याय, ईश्वर और आपकी बुद्धि हो, उसीको पूरी करना ठीक है।

मनमें जब अनुचित इच्छा होती है तो उसमें इच्छाका द्वन्द्व साथ रहता

है। इसलिए आजके मनोवैज्ञानिककी बात ठीक नहीं है। आप धर्म एवं औचित्य, जिसे आपकी बुद्धि ठीक कहती है, उसीका साथ दें।

इच्छापर नियन्त्रणके लिए एक ओर बुद्धिका सहयोग चाहिए और दूसरी ओर कर्मका सहयोग चाहिए। इच्छा बुद्धि और कर्मके बीचमें होती है। पहले बुद्धिमें आता है—'यह काम करनेसे सुख होगा या भयसे बचेंगे।' फिर इच्छाके अनुसार कर्म होता है। अतः बुद्धिको धर्मानुसारी रहने दो ओर कर्म न्यायानुसार ही करो। ये दोनों शुद्ध हो जायँ तो असत्य, चोरी, बेईमानी, संग्रह, काम, क्रोधादिकी वासना मिटानेमें सहायता मिलेगी।

जब आप बुद्धिके विपरीत कर्म करते हो तो बुद्धि निर्बल पड़ जाती है। जब बुद्धिकी आज्ञा मानी जाती है तो बुद्धि प्रबल हो जाती है। कौरव और पाण्डव पक्षोंमें यही अन्तर है। कौरवोंके पक्षमें विदुर धर्म हैं; किन्तु अधर्मके पक्षमें होनेसे वे सेवक होकर रहते हैं। उन्हें आज्ञा पालन करना पड़ता है। पाण्डवोंका पक्ष धर्मका पक्ष है, अतः वहाँ धर्म युधिष्ठिरके रूपमें शासक हैं।

असुरका लक्षण है कि उसका लक्ष्य अपने सीमित अहंकी पुष्टि करना होता है। सुरपक्ष असीम ईश्वरकी तुष्टि करना चाहता है, अतः भगवान् सुरपक्षमें रहते हैं। सुरपक्षमें रहना, असीम ईश्वरकी सन्तुष्टिके लिए कर्म करना ही यज्ञ है और यथार्थ कर्म बन्धनका कारण नहीं होता।

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर।

यज्ञके लिए अनासक्त होकर कर्म करते चलो। इसमें 'मुक्तसङ्गः' मोक्षका साधन है और 'समाचर' संसारका साधन है। कर्म करनेसे धन, भवन, लौकिक सुख मिलेगा। आसक्ति मत करो, यह मुक्तिद्वार है। इस प्रकार व्यावहारिक जीवनमें ही लौकिक-पारलौकिक, दोनोंकी उन्नति होगी।



वास्तविक यज्ञ तो जीवन है। हवनात्मक यज्ञ तो ठीक है। श्रुतिमें आया है—

कस्मै देवाय हविषा विधेम।

यहाँ '**कस्मै**'का अर्थ है—'**एकस्मै**' एक ईश्वरके लिए—सम्पूर्ण विराट्के लिए—सम्पूर्ण समाजके लिए आप करते हो या अपने लिए? यह धन आप किसके लिए एकत्र करते हो? इसमें यज्ञका स्वरूप स्पष्ट है। आप अपने व्यक्तित्वमें ही लीन हो या दूसरोंकी भी चिन्ता करते हो? जैसे एक बच्चा दूसरे बच्चेकी मिठाई छीनकर अपने मुखमें डाल लेता है, आप भी ऐसी ही छीना-झपटीमें तो नहीं लगे हो?

ईश्वरने संसारकी उन्नति तथा अपने मिलनेके साधनके रूपमें यज्ञको प्रकट किया है। ईश्वरसे और सम्पूर्ण विश्वसे सम्बन्ध जोड़नेका उपाय यज्ञ है।

जीवने ईश्वरसे पूछा—'अपनेको व्यक्तिगत बन्धनोंसे छुड़ानेका उपाय क्या है?'

ईश्वर—'यज्ञ। जब जो चाहोगे, यज्ञसे प्राप्त कर लोगे।'

एकने कहा—'परोपकार करो।'

श्रीरामकृष्ण परमहंस बोले—'परोपकार नहीं, सेवा करो।'

हम अपने सिरके केशोंमें तेल डालते हैं, कंघी करते हैं, यह क्या कोई परोपकार करते हैं? यह तो अपनी सेवा करते हैं। संसारमें किसीकी भी सेवा करना अपनी ही सेवा है। उस सेवासे किसको सुख मिलता है? सेवा करनेकी क्रिया जिसके द्वारा सम्पन्न होती है, उसके अन्तःकरणमें जो सत्-संस्कार बना, उससे सेवा करनेवालेका जितना भला होता है, उतना भला उसका नहीं होता, जिसकी सेवा की जाती है; क्योंकि कर्मका फल कर्ताको ही मिलता है।

आपने एक कोढ़ीके घाव धोकर उनपर मलहम लगाया, पट्टी बाँध दी। उसे सुख मिला; किन्तु कोढ़ीका सुख क्षणिक है और इस सेवासे आपके अन्तःकरणमें जो पवित्रता आयी, वह स्थायी है। एकने पूछा—'ईश्वर हमपर प्रसन्न है या नहीं, यह कैसे जानें?'

सन्त बोले—'आप अपने कर्म, भोग, वाणी, संग्रह और आचरणसे प्रसन्न हैं? यदि आप प्रसन्न हैं तो ईश्वर आपपर प्रसन्न है; किन्तु कहीं स्वयं तो आपका मन अपने कर्म, भोग, वाणी, संग्रह और आचरणसे मलिन नहीं है?'

कारणात्मामें अन्तःकरण नहीं होता। ईश्वरमें अन्तःकरण नहीं है। अतः ईश्वर प्रसन्न-अप्रसन्न नहीं हुआ करता। आपका अन्तःकरण निर्मल है तो ईश्वर प्रसन्न है। इसलिए ईश्वरको प्रसन्न करना है तो यज्ञ करो।

सहयज्ञाःप्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ 10॥

प्रजापति ब्रह्माने यज्ञके साथ प्रजा बनाकर सृष्टिके प्रारम्भमें ही कहा—'इसके द्वारा तुम बढ़ो। यह तुम्हारे लिए अभीष्ट कामनाओंको देनेवाला है।'

प्रजापति ब्रह्मा—हिरण्यगर्भने प्रजा इस ढंगसे बनायी कि उसके साथ यज्ञ लगा रहे। बिना यज्ञके कोई वस्तु ही उत्पन्न नहीं हुई।

मेरे पितामहने बचपनमें मुझे एक श्लोक कण्ठस्थ कराया था—

नामन्त्रमक्षरं किञ्चित् नानौषधिवनस्पतिः।
अयोग्यः पुरुषो नास्ति प्रयोक्ता तत्र दुर्लभः॥

ऐसा कोई अक्षर नहीं, जिसमें मन्त्र-शक्ति न हो। सब अक्षरोंमें मन्त्र-शक्ति है। ऐसी कोई वनस्पति नहीं जिसमें ओषधीय गुण न हो। कोई पुरुष अयोग्य नहीं होता। इनका ठीक-ठीक उपयोग करनेवाला अवश्य दुर्लभ है।

अनेन प्रसविष्यध्वम्—तुम इसीसे बढ़ो। इस यज्ञके द्वारा अपनी उन्नति करो। जो यज्ञ करेगा—देना-लेना चाहेगा, वही उन्नति करेगा।

अपने घर कोई आ जाय तो उसे भोजन करा देना, भोजन न हो तो पानी पिला देना, पानी भी न हो तो आदरसे बैठाना और मधुर वाणी बोलना यज्ञ है। सामनेवालेको तृप्त करके भेजो, यह यज्ञ है।

हम लोगोंकी ओर यह नियम था कि 'पहली और अन्तिम रोटी न खाये। उसे गौ, कुत्ते, कौवे आदिको दे दे।'

एकने पूछा—'जिसके यहाँ दो ही रोटी बने?'

स्पष्ट है कि वह बहुत गरीब है। इतने गरीबके लिए यह नियम नहीं है; किन्तु वह भी एक टुकड़ा रोटी किसी प्राणीको दे दे, यह उत्तम है।

शास्त्रने कहा—'तुम्हारे पास कुछ देनेको न हो तो जल या मिट्टी ही दे दो। इससे देनेका स्वभाव बना रहेगा तो कल अन्न भी दोगे।'

दूसरेसे मधुर बोलना, उसे आदर देना, ऊँचे आसनपर बैठाना भी यज्ञ है। किसीको प्रणाम करना, आगे करके चलना भी यज्ञ है। यह सब ईश्वरकी ही आराधना है। जैसे मन्दिरमें फूल चढ़ाना ईश्वरकी पूजा है, वैसे ही सामनेवाले व्यक्तिसे शिष्टता-सम्मानका व्यवहार करना भी ईश्वरकी पूजा है।

मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षताम्।

मैत्रीपूर्ण दृष्टिसे समस्त प्राणियोंको देखो। यह यज्ञ है। दूसरेको सुखी देखकर प्रसन्न होना, दूसरेको दुःखी देखकर दया करना, किसीको सत्कर्म करते देखकर प्रमुदित होना यज्ञ है।

एक सज्जन मेरी जन्मभूमिके समीपके गाँवमें रहते थे। उनके परिवारमें 75 सदस्य थे। मैंने उनसे पूछा—'आपमें ऐसी क्या विशेषता है कि आपके इतने बड़े परिवारके सब लोग आपका सम्मान करते हैं और आपकी बात मानते हैं?'

वे बोले—'बाबाजी! जब तक घरके सब लोग भोजन न कर लें तब तक मैं भोजन नहीं करता। यह मेरा नियम है।'

यह नियम यज्ञ हुआ। जब आप भोजनको यज्ञ मानेंगे तो गंदे पदार्थोंकी आहुति नहीं डालेंगे। अपने पेटको आप श्मशान क्यों बनाते हैं? संन्यासीके लिए अग्निमें हवन करना मना है। वह भोजनके प्रारम्भमें पाँच ग्रास '**प्राणाय स्वाहा, अपानाय स्वाहा, उदानाय स्वाहा, व्यानाय स्वाहा, समानाय स्वाहा**' बोलकर खाता है। उदरमें भगवान् ही तो जठराग्निके रूपमें हैं।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणपानसमायुक्तो पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥

(गीता 15.14)

भगवान् कहते हैं—मैं प्राणियोंके शरीरमें वैश्वानर अग्नि होकर स्थित हूँ और प्राण-अपानवायुके साथ मिलकर उनके खाये चारों प्रकारके भोजनको पचाता हूँ।

आप जो खाते हो उसे भगवान्‌को पचाना पड़ता है। जैसे आप यज्ञमें सावधान रहते हैं, ठीक समयपर, ठीक स्थानपर, ठीक सामग्रीके ठीक ब्राह्मण द्वारा ठीक मन्त्रोच्चारण करवाके आहुति डालते हैं, वैसे ही भोजनके विषयमें भी सावधानी रखिये कि ठीक समयपर, ठीक स्थानपर, ठीक रीतिसे, ठीक-शुद्ध पदार्थ ही मुखमें डाले जाँय।

यह समस्त सृष्टि यज्ञशाला है। वर्तमान काल ही यज्ञकाल है। इसमें जो आप क्रिया कर रहे हैं, वही यज्ञ है। इस यज्ञसे आपको परमेश्वरकी आराधना करनी है। यह दृष्टि बनी रहे तो आपको पृथक्‌से यज्ञ करनेकी आवश्यकता नहीं है।

शास्त्रमें प्रश्न उठाया है—'पुरुष यज्ञोपवीत करके, ब्रह्मचर्य ग्रहण करता है, गुरु तथा अग्निकी सेवा करता है; किन्तु लड़की यह सब नहीं करती। ऐसी अवस्थामें लड़कीको इनका पुण्य होगा या नहीं?'

प्रश्न उठाकर इसका उत्तर भी मनुस्मृतिमें ही दिया हुआ है—

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया॥

(मनु०-2.67)

स्त्रीको विवाहसे यज्ञोपवीतका पुण्य प्राप्त होता है। गुरुसेवाका पुण्य पतिसेवासे मिलता है। रोटी बनानेसे अग्निहोत्रका पुण्य प्राप्त होता है। घर ही उसकी यज्ञशाला है। पुण्यमें भेद नहीं होता। इसमें अन्याय नहीं है। उलटे स्त्रियोंके साथ पक्षपात भले कह सकते हैं, क्योंकि घरमें रहते ही उसे वे सब पुण्य प्राप्त होते हैं।

लौकिक राज्य स्त्री-पुरुषके अधिकार भेदमें कारण नहीं होता; किन्तु

शरीरगत विशेषताके कारण स्त्री पुरुषके यज्ञीय कर्ममें भेद होता है। त्यागप्रधान पुरुष-धर्म है और तपस्या-सेवा-प्रधान स्त्रीधर्म है। जहाँ स्त्री-पुरुषोंके धर्मका विचार है, वहाँ कहा गया है—

सौरप्रधानः पुंधर्मः सोमप्रधाना नार्यः।

बुद्धि दैवत+शरीर दैवत कर्मोंमें पुरुषकी प्रधानता है। पुरुष सूर्यतत्त्वप्रधान है। स्त्रीमें चन्द्र तत्त्वकी प्रधानता है, अतः मनः दैवत+शरीरदैवत कर्मोंमें स्त्रियोंकी प्रधानता है। इस प्रकार दोनोंके जीवनमें यज्ञका पार्थक्य है।

चार आश्रम ग्रहण कर पुरुषको अंतमें संन्यासी होनेपर जो फल प्राप्त होता है, स्त्रीको घर रहते वही फल प्राप्त होता है। सत्ता दोनोंमें एक है। पुरुष-देह चित्प्रधान और स्त्री-देह आनन्द प्रधान है। इस भेदसे दोनोंके धर्ममें भेद होता है। हमारे प्राचीन महात्माओंने धर्मके सम्बन्धमें गम्भीर विचार करके यह निर्णय किया है—अध्यात्मप्रधान धर्म पुरुषका होता है और स्त्रीका धर्म अधिदैवप्रधान होता है।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा—जब परमेश्वरने आपकी सृष्टि की तब परमेश्वरने कर्म किया या नहीं? तुम्हारा जन्म लेना ही ईश्वरका कर्म है! जब ईश्वर स्वयं कर्म करके तुम्हारे व्यक्तित्वकी सृष्टि करता है, तुम्हारे व्यक्तित्व-निर्माणमें ईश्वरका कर्म है, तब कर्मसे बने हम कर्म नहीं करेंगे, यह सोचना ही ठीक नहीं है। कर्म हमारा सहभागी, सच्चा साथी, सच्चा सहायक है।

ईश्वरने हमें जब संसारमें भेजा तो भेजते समय सोचा—'यह हमारा नित्य दास, नित्य सखा, नित्य पुत्र संसारमें जा रहा है। इसे बिना सहायकके नहीं भेजना चाहिए।' अतः उसने हमारे साथ यज्ञको भेज दिया।

ईश्वरने कहा—'मैंने तुम्हें बनाया है। अब तुम अपने कर्मके द्वारा जो चाहो सो कर लेना। यही कर्म तुम्हें बनानेके लिए भी है और छुड़ानेके लिए भी। आसक्त होकर करोगे तो संसार बनेगा और अनासक्त होकर करोगे तो छूट जाओगे।'

इस यज्ञसे—कर्मसे क्या-क्या मिलेगा? '**एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।**'

भगवान्‌ने ब्राह्मण बनाये तो उन्हें कामधेनु दे दी। देवताओंको कल्पवृक्ष

दे दिया; लेकिन कामधेनुको घास देनी पड़ती है और कल्पवृक्षको सींचते रहना पड़ता है। यज्ञका निवास मनुष्यके हाथमें कर दिया, यह '**इष्टकामधुक्**' है। यज्ञ करके जो चाहोगे, सब इससे मिलेगा।

उपनिषदोंमें अनेक यज्ञोंका वर्णन है। सन्तानोत्पत्ति-क्रिया भी यज्ञ कही गयी है। यहींसे यज्ञका प्रारम्भ होता है। यज्ञबुद्धिसे सन्तानोत्पादन-क्रिया होगी तो संयम स्वतः रहेगा; क्योंकि शास्त्रोक्त रीतिसे स्त्री-पुरुष सहवासके अवसर बहुत कम होते हैं। इसी प्रकार पृथ्वी यज्ञकुण्ड है, सूर्य यजमान है, बादल स्रुवा हैं, जल आहुति है, खेती यज्ञ है।

प्रतिदिन शास्त्रीय ग्रन्थोंको थोड़ा पढ़ना, यह ऋषियज्ञ है। हवन करना देवयज्ञ है। मनुष्योंको भोजन देना अतिथियज्ञ है। अपने पिता-पितामहके प्रति कृतज्ञ रहना, उनका प्रतिदिन स्मरण-तर्पण करना पितृयज्ञ है। कौवे-कुत्ते-चींटी आदिको अन्न देना प्राणियज्ञ है। ये पंच महायज्ञ जीवनके नित्यकर्म हैं। इन्हें शास्त्रने प्रतिदिन करणीय कहा है।

यज्ञके साथ तुम्हारी उत्पत्ति हुई है। यज्ञ तुम्हारे लिए कामधेनु है। अतः काम खूब करो, पर उसे यज्ञरूप बनाकर करो।



यज्ञ किस प्रकार मनुष्यके लिए कामधेनु बनता है, यह प्रक्रिया भगवान् बतलाते हैं।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥ 11॥

इस यज्ञके द्वारा तुम देवताओंको पुष्ट करो और देवता तुम्हें पुष्ट करें। इस प्रकार परस्पर एक दूसरेका पोषण करते हुए परम कल्याण पाओगे।

एक प्राचीन गीताकी टीकामें इस श्लोकका ऐसा अर्थ है—यज्ञ करनेसे करणेश्वरी (इन्द्रियाधिष्ठातृदेवता) शक्तिशाली होती हैं। अग्निके सामने बैठकर हवन करोगे तो त्वचा शक्तिशाली होगी। सूर्यको अर्घ्य देनेसे नेत्र-शक्ति बढ़ेगी। वेदपाठसे वाक् शक्ति मिलेगी।

अथर्ववेदमें शान्ति-सूक्तके तीन मन्त्र हैं—

येनैवासृजत घोरं तेनैव शान्तिरस्तु वः।

जिस कर्मसे तुम्हारे जीवनमें अशान्ति आयी है, उस कर्मको ही ठीक करो तो शान्ति मिलेगी।

जिस वाणीसे तुम्हारे जीवनमें अशान्ति आयी है उस वाणीको ठीक करो तो शान्ति मिलेगी।

जिस मनोवृत्तिसे तुम्हारे जीवनमें अशान्ति आयी है, उस मनोवृत्तिको ठीक कर लो तो शन्ति मिल जायगी।

यज्ञसे इन्द्रियोंको शक्तिशाली बनाओ। शक्तिशाली इन्द्रिय तुमको शक्तिशाली बनायेगी। इस प्रकार जो चाहोगे बन सकोगे।

तुम्हारा मन तो अभी मच्छर-जैसा बना दूसरोंको काटता है। मधुमक्खी-सा फूलोंका रस ढूँढता है। तुमने अपने आपको देश-कीट बना रखा है।

'देवान् भावयतानेन'—इसे व्यष्टि-बुद्धिसे न देखें; समष्टि-बुद्धिसे देखें—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तदु वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते॥ —श्रुति

वह परमात्मा ही अग्नि है। वही सूर्य, वायु, चन्द्र और शुक्र है। वह ब्रह्म ही अमृत कहा जाता है।

अतः कर्मके द्वारा व्यष्टिकी नहीं, समष्टिकी सेवा करो। समष्टिकी सेवा करनेसे व्यष्टिकी संकीर्णता मिट जायगी। व्यष्टि समष्टिसे एक हो जायगा। तब आप पापी-पुण्यात्मा, सुखी-दुःखी, स्वर्ग-नरक जानेवाले, एवं परिच्छिन्न नहीं रहोगे।

भगवान् नृसिंहने प्रह्लादसे वरदान माँगनेको कहा तो प्रह्लाद बोले—

नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एकः। (भाग 7.9.44)

'भगवन्! संसारके इन दीन-दुःखी जीवोंको छोड़कर मैं अकेला मुक्त नहीं होना चाहता। आप इन सबको वैकुण्ठ ले चलें।'

भगवान्—'जो चलना चाहें उन्हें ले चलें या सबको बलपूर्वक ले चलें?'

प्रह्लाद—'भला ऐसा कौन होगा जो वैकुण्ठ न चलना चाहे?'

भगवान्—'तुम पूछ लो। जो चलना चाहें, उन्हें साथ ले चलो।'

अब प्रह्लादजी लोगोंसे पूछने निकले। ब्राह्मणोंने कह दिया—'अभी यजमानका यज्ञ करना है। पुत्र गुरुकुल गया है। लौटकर आये तो उसका विवाह करना है।'

संन्यासियोंने कहा—'हम तो मुक्त ही हैं; किन्तु शिष्योंको तत्त्वज्ञान नहीं हुआ। उन्हें अभी उपदेश करना है।'

इस प्रकार राजाओंको राज्यकी उलझने थीं, व्यापारियोंको व्यापारकी, सेवकोंको, घर-परिवारकी। मनुष्य तो क्या पशु-पक्षी भी अपने परिवारमें व्यस्त थे। कोई वैकुण्ठ जानेको तत्काल उद्यत नहीं था, वैसे जाना सब चाहते थे, पर संसारकी अपनी सब व्यवस्था बन जानेके पश्चात्। प्रह्लादजी अन्तमें एक शूकरके पास गये, तो उसने पूछा—'वैकुण्ठमें क्या है?'

प्रह्लाद—'वहाँ सुख-ही-सुख है।'

शूकर—'शूकरीसे पूछ लें। अकेले तो मैं जा नहीं सकता।'

प्रह्लाद—'उन्हें भी लें चलो और बच्चोंको भी।'

शूकरीने सुनते ही पूछा—'हमारा भोजन वहाँ मिलेगा या नहीं?'

प्रह्लाद—'वहाँ भूख ही नहीं लगती।'

शूकरी—'जहाँ भूख ही न लगे, ऐसे स्थानमें जाकर क्या रोगी होना है हमें?'

प्रह्लाद—'वहाँ रोग नहीं होते।'

शूकरी—'जहाँ हमको अपना भोजन न मिले, वहाँ कुछ भी हो, हमें नहीं जाना है।'

ये संसारके विषयी लोग सोच ही नहीं पाते कि इन्द्रिय-तृप्ति ही जीवन नहीं है।

एक मनुष्यके पास बहुत उत्तम मशीन है। वह उससे अच्छी वस्तुएँ बना सकता है; किन्तु वह मशीनसे काम न लेकर दिन भर उसे तेल ही देता और स्वच्छ करता, सजाता रहता है। यह मनुष्य आप ही हो या नहीं? यह शरीर यन्त्र है। इससे होने योग्य काम लो। यह यन्त्र किसलिए है, इसपर विचार करो।

'देवान् भावयतानेन'—आपके नेत्रके देवता सूर्य हैं और संसारमें जितना रंग है, सूर्यसे आया है। नेत्रमें बैठे सूर्य संसारमें रंग-रूप अर्थात् अपनी कृति देख-देखकर प्रसन्न होते हैं। आप जैसे अपने नेत्रमें बैठे सूर्यको सन्तुष्ट करते—सूर्यकी पूजा करते हैं, वैसे ही सबके नेत्रोंमें बैठे सूर्यकी पूजा करें। सृष्टिमें कुरूपता कहीं मत उत्पन्न करें, जिससे किसीके नेत्रमें बैठे सूर्यको बुरा लगे।

आप मधुर स्वरसे गाते हैं तो वाणीमें बैठे अग्निदेव गाते हैं। मधुर स्वरसे कानमें बैठे दिग्देवता तुष्ट होते हैं। दूसरोंकी वाणीमें भी अग्निदेवता एवं कर्णमें दिग्देवता है; उनका भी ध्यान रखें। संसारमें कभी कहीं कठोर, कर्कश स्वर निकालकर उनका तिरस्कार न करें।

यज्ञका यही अर्थ है कि सबको इन्द्रियोंमें बैठे देवताओंका आपको पूजन करना है। जब हम इन्द्रियोंका सम्बन्ध पापसे कर देते हैं तो देवताको दुःख होता है। जब हम इन्द्रियोंका सम्बन्ध स्वच्छता, पवित्रता, धर्म और ईश्वराराधनासे करते हैं तो उन इन्द्रियोंमें बैठे देवता प्रसन्न होते हैं।

जब आप अपने कर्म,भोग, वाणी और संग्रहके द्वारा सबके इन्द्रिय एवं

अन्तःकरणमें बैठे देवताओंकी पूजा करेंगे तो सबकी इन्द्रियों एवं अन्तःकरणमें बैठे देवता आपका सम्मान करेंगे।

एकने—सांख्यने कहा—'द्रष्टा ईश्वर है।'

दूसरेने—द्वैतवादीने कहा—'समग्र दृश्य ईश्वर है।'

वेदान्तने कहा—'द्रष्टा और दृश्य दोनों ईश्वर हैं।' इस समग्र ईश्वरकी सेवा यज्ञ है।

'देवान् भावयतानेन'—एक अर्थ इसका ऐसा भी किया जाता है—'हे अशिक्षित लोगो! तुम अपने कर्मोंसे विद्वानोंकी सेवा करो। तुम्हारी सेवासे प्रसन्न होकर वे अपनी विद्या-बुद्धिसे तुम्हारी सेवा करेंगे।

यह 'अन्ध-पङ्गु न्याय' चलता है। एक अन्धा था और एक पंगु। अन्धा देख नहीं सकता था। पंगु चल नहीं सकता था। दोनोंके मनमें बद्रीनाथ-यात्राकी इच्छा हुई। दोनोंने परस्पर सलाह की। अंधेने पंगुको कंधेपर बैठा लिया। अब पंगु मार्ग बतलाता जाता था और अंधा चलता जाता था। इस प्रकार दोनोंकी यात्रा हो गयी। जिनके पास बुद्धि-विद्या नहीं है, वे अंधेके समान है। जिनके पास क्रियाशीलताका बल नहीं वे पंगु हैं। कर्मशील लोग विद्वानोंकी सहायता-सेवा करें और विद्वान उनका मार्गदर्शन करें।

हमारे शरीरमें कर्मेन्द्रियाँ अंधी हैं। न पैर देख सकता और न हाथ। ज्ञानेन्द्रियाँ पंगु हैं। नेत्र या नासिका स्वयं रूप या गन्धके पास नहीं जा सकती। नेत्र मार्ग बतलाते हैं और पैर चलकर जाते हैं। ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियोंके सहयोगसे जीवन चलता है।

अर्जुनने अध्यायके आरम्भमें पूछा था—'आपके मतमें बुद्धि ही श्रेष्ठ है?'

भगवान् उसीका उत्तर दे रहे हैं—'कर्म और बुद्धिके सहयोगसे ही जीवनमें पूर्णता आती है। जब तुम्हारे विचार सक्रिय होंगे, कर्म बुद्धिपूर्वक होंगे तब तुम परमश्रेय प्राप्त करोगे। इसलिए अपने कर्मसे यज्ञ करो— देवताओंको सन्तुष्ट करो और वे देवता तुम्हें सद्विवेकशाली रखें।'



संगति **: 12 :**

यज्ञके द्वारा भावित—सन्तुष्ट किये गये देवता किस प्रकार हमारी सहायता करेंगे और देवताओंको संतुष्ट न करनेमें क्या दोष है? इसे बतला रहे हैं।

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥ 12॥

यज्ञके द्वारा सन्तुष्ट हुए देवता तुम्हें अभीष्ट भोग देंगे। उनके दिये हुएका उन्हें दिये बिना जो उपयोग करता है, वह चोर ही है।

'यज्ञभाविताः देवाः'—यज्ञके द्वारा भावित विद्वान् कर्माधिष्ठाता देवता, स्वर्गके देवता या ईश्वर जो सबका अन्तर्यामी है, तुम्हारी आराधना, विश्व-सेवासे सन्तुष्ट रहेगा, तब तुम सुखी रह सकोगे।

सुखी होनेमें भी अन्तर है। तुम आम खाते हो तो आममें सुख है या जिह्वामें? अथवा आम और जिह्वाके योगमें या दोनोंकी अच्छाई में? यदि तुम्हारे मनमें तृप्तिका उदय नहीं हुआ तो तुमने आम नष्ट किया। सुख तो आत्म तृप्तिमें है।

जब हम वासनाक्रान्त होते हैं तो कोई हमें सुख नहीं दे सकता। जब हमारी वासनाएँ शान्त—शिथिल रहती हैं, तब जहाँ जो कुछ खाओ-पिओगे, सुख-ही-सुख होगा।

एक बार मैं पहाड़ गया। कई साथी थे। वहाँ काली कमलीवालेकी धर्मशालाके मैनेजरको उनके कार्यालयकी चिट्ठी दिखायी। मैनेजर बिगड़ा—'वे लोग वहाँसे सामान तो भेजते नहीं, चिट्ठी भेज देते हैं। अब मैं आप लोगोंको क्या खिलाऊँ?'

उसके पास मक्केका आटा था और वह भी पुराना। उसीकी रोटियाँ बनीं। जंगली अंजीर उबालकर उसमें नमक डाला गया। हम लोग थके थे, भूखे थे, अतः वे रोटियाँ बहुत स्वादिष्ट लगीं। स्वाद तो वस्तुमें नहीं, मनमें होता है। आप भगवान्‌को मनमें लेकर काम करेंगे तो सारी सृष्टिमें आपको तृप्ति ही तृप्ति मिलेगी।

'तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।'

एक महात्मा कहते थे—'जिसकी कृपासे वस्तु मिली, हम उसीको भूल गये?'

जिन दियो जनम ताहि बिसरायो ऐसे नमकहरामी।

हम आप चाहते हैं कि हम चाहे जितनी चोरी-बेईमानी करें; किन्तु संसारका दूसरा कोई हमारी चोरी न करे। हमारे साथ बेईमानी न करे। हम भले सबसे झूठ बोल लें, पर दूसरा हमसे झूठ न बोले। आप अकेले झूठे, चोर, बेईमान रहना चाहते हो और पूरे संसारको सच्चा, ईमानदार, साहुकार रखना चाहते हो। इसीलिए आज जितनी माँग ईमानदारी, साहुकारी, सच्चाईकी है, उतनी कभी नहीं थी। पहले इससे उलटी स्थिति थी। लोग सोचते थे—'हमें सच्चा, ईमानदार रहना चाहिए, संसार चाहे जैसा रहे।' इस प्रकार सोचते-सोचते सब अपनेको सच्चा और ईमानदार बना लेते थे। आज सब दूसरोंको सच्चा-ईमानदार बनाना चाहते हैं, अतः कोई बन नहीं पाता।

धर्मके सम्बन्धमें आत्मदृष्टि-सम्पन्न होना बहुत आवश्यक है। संसारमें दूसरे ईमानदार न हों तो आपको रोटी न मिले। अतः आपका कर्त्तव्य है कि जिन सैनिकोंसे आपकी रक्षा होती है, जिन साधु-संतों—सत्पुरुषोंके उपदेशसे लोग ईमानदार बनते हैं, उनको भी आप रोटी दें, चाहे वे खेती करें या न करें। व्यापार करें या न करें।

इसी प्रकार जो आपको घर बैठे रोटी पहुँचा देता है, उसे रोटी देना कर्त्तव्य है या नहीं? ये पृथ्वी, जल, वायु अग्नि, आकाश—देश, काल आपकी सेवा करते हैं। इनकी सहायताके बिना आपका जीवन चलेगा? तब इनकी सेवा-पूजा आपका कर्त्तव्य नहीं है?

जिस ईश्वरकी कृपासे जीवन मिला, जिनसे आपको विद्या

मिली, जिनसे सदाचार-व्यवहारके संस्कार मिले उनकी पूजा आपका कर्त्तव्य है।

जिनकी सहायतासे हम जीवित रहते हैं, जिनका खाते हैं उनकी सेवा न करना चोरी है।

आप समझते हैं कि सहस्र मील दूर हिमालयमें बैठा साधु हमारी क्या सहायता करता है?

जो धन-भवन-परिवार त्यागकर, संग्रह-परिग्रह किये बिना हिमालयमें बैठा है, उसके वहाँ बैठे रहनेपर भी यहाँके लोगोंको उसके जीवनसे त्याग-वैराग्यकी प्रेरणा मिलती है।

इसलिए साधुओं, विद्वानों, देवताओं, ईश्वर और अपने पालक-रक्षककी सेवा करनी चाहिए। इनको दिये बिना खाना चोरी है।

जो लोग उत्पादन करनेमें असमर्थ हैं, कोढ़ी, अंधे, अपंग, वृद्ध, पागल, रोगी—इन सबके पालनका दायित्व आपपर है।

जो एकान्तमें बैठे साधना करते हैं, उनका संकल्प पूरे संसारको प्रभावित करता है। वे सभीके सेव्य हैं।

संकल्पका चमत्कार मैंने देखा है। एक बार मैं स्वर्गाश्रम ठहरा था। वहाँसे ब्रह्मपुरी चला गया, जहाँ पहले स्वामी रामतीर्थ तप करते थे। वहाँ दस-ग्यारह बजेतक तो भजनमें मन लगा। फिर लगी भूख। चिन्ता हुई कि यहाँ रोटी कहाँसे आयेगी। कोई आता दिखायी पड़े तो मनमें आये कि यह भोजन करनेको कहेगा। बारह बजेतक कोई नहीं आया तो मैं उठा स्वर्गाश्रम लौटनेके लिए। मार्गमें एक महात्मा मिले। वे बोले—'चलो गरुड़ चट्टी चलें!'

मैं बोला—'मुझे तो भूख लगी है और आप गरुड़चट्टी चलनेकी बात करते हैं।'

वे बोले—'अच्छा!' फिर जोरसे बोले—'चल! तू मेरे साथ चल।'

हम दोनों एक फर्लांग भी नहीं चले होंगे कि पीछेसे एक व्यक्ति पुकारता आया—'महात्माजी! ठहरो!' हम रुक गये। साथके महात्माने पूछा—'क्या बात है?'

वह—'हमारे मन्दिरमें भोजन बना है; करके जाओ।'

महात्मा—'हमलोग अन्न नहीं खाते, फलाहार करते हैं।'

वह—'आज एकादशी है। मन्दिरमें फलाहार ही बना है। जिन्हें बुलाया गया था, वे नहीं आये। पुजारीने आप लोगोंको देखकर मुझे बुलाने भेजा है।'

इस प्रकार कभी संकल्प सिद्ध होता है और कभी स्वयं भगवान् सहायता करते हैं। मैं और 'चक्र' जो ब्रह्मपुरम् (आन्ध्र)से आ रहे थे। वजीराबाद तकको पैसा था—वहाँ तकका टिकट ले लिया। आगे बिना टिकट रेलसे चलना नहीं था, पैदल चले। एक दिन एक पुजारीने बुलाकर खिला दिया। दूसरे दिन पैदल 28 मील चलना पड़ा। न खानेका डौल लगा, न सोनेको ठौर मिला। बाख्तियारपुर—राजगृह लाइनमें हरनौत स्टेशनके मुसाफिरखानेमें रात्रि ग्यारह बजे पहुँचे और चद्दर बिछाकर लेट गये। रात्रिमें वहाँ कोई ट्रेन नहीं आती थी। सुनसान था। अचानक दो स्वच्छ वस्त्रधारी बालक आये। उन्होंने पूछा—'कुछ खाओगे?'

हम दोनों दिनभर भूखे थे। दो दोनेमें वे खोवा लाये। हमने पूछा—'कहाँ रहते हो?'

वे—'यहीं।'

दूसरे दिन सबेरे ढूँढा। कोई नहीं मिला। इस प्रकार कभी-कभी ईश्वर कृपा करता है।

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजको जहाँ आवश्यकता होती थी, वहीं भोजन आ जाता था। मैंने आठ वर्ष उनके साथ निरन्तर रहकर यह देखा।

जिनका न ईश्वरपर विश्वास है, न प्रारब्धपर, न अपने संकल्पपर, न प्रकृतिकी व्यवस्थापर, वे रोटीके लिए दीन हो जाते हैं।



दूसरोंको खिलाकर खाओ। देवताओं, प्राणियोंको देकर खाओ। इसमें असीम तृप्ति है। ऐसा न करना चोरी है।

मेरे गाँवके पास एक ऐसे उदार पुरुष रहते थे। पञ्चम जार्ज जब प्रिंस ऑफ वेल्सके रूपमें भारत आये थे तो उनसे वे हाथ मिला आये थे। दिन भर पड़े-पड़े हुक्का गुड़गुड़ाया करते थे, कोई उनके द्वारके सामनेसे दूसरे गाँवका निकले तो उसे बिना खिलाये जाने नहीं देते थे। उनकी सब सम्पत्ति इस सत्कारमें बिक गयी। प्रसिद्ध था कि कोई उनके घर रात्रिमें आ गया। भोजन बनानेको लकड़ी नहीं थी। तो पलंग तुड़वा दिया उन्होंने। अपना बर्तन बनियेके पास रखकर अतिथिके लिए सामान लाकर खिलाते थे। मैंने उनसे पूछा—'खिलाकर खानेमें क्या आनन्द है?'

वे बोले—'खिलाकर खानेमें आनन्द नहीं है सच्चा आनन्द तो खिलाकर भूखे रह जानेमें है। जिस दिन अतिथिको खिलाकर स्वयं भी भोजनको मिल जाता है, उस दिन वह आनन्द नहीं आता जो आनन्द उस दिन आता है, जब अतिथिको खिला देनेपर अपने भोजनको कुछ न बचे और भूखे सो जाना पड़े।'

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वधं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥13॥

यज्ञसे बचे हुएको खानेवाले संत हैं, वे सब पापोंसे छूट जाते हैं और वे पापी पाप खाते हैं जो अपने लिए ही पकाते हैं।

'**यज्ञशिष्टाशिनः सन्तः**'—भागवत वैष्णव-ग्रन्थ है; किन्तु उसमें कहीं यह वर्णन नहीं है कि भक्तको तिलक कैसा लगाना चाहिए? वस्त्र लाल पहनना चाहिए या पीला? माला रुद्राक्षकी रखे या तुलसीकी? जटा रखे या सिर घुटाये? बाहरी चिह्नसे कोई भक्त या संत नहीं होता। यह तो एक दृष्टि है।

अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्

(याज्ञवल्क्यस्मृति आवारा0 8)

योग साधन करके आत्मदर्शन कर लेना, यही परम धर्म है। भक्तकी दृष्टि है—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे। (भागवत 1.2.6)

अन्तर्यामी भगवान्‌में भक्ति हो, यही पुरुषका परम धर्म है। प्रह्लादने कहा—

एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत् सर्वत्र तदीक्षणम्। (भागवत 7.7.55)

सर्वत्र भगवान् गोविन्दको देखना, यही उनकी ऐकान्तिक-अनन्य भक्ति है।

यह सर्वत्र भगवद्-दृष्टि प्राप्त हो गयी तो आप संत हैं। वेशसे कोई संत नहीं होता।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तः—श्री उड़ियाबाबाजी महाराजकी विशेषता थी कि जब आश्रममें आया प्रत्येक व्यक्ति भोजन कर लेता था, तब वे भोजन करते थे।

खिलाकर खाना यज्ञशिष्ट भोजन है। पहले बचपनमें मुझे मेरे बाबा (पितामह) ने बतलाया था कि भोजन करते समय थालीमें कुछ छोड़ देना चाहिए। उठते समय मन्त्र बोला जाता है—

लेपभागभुजस्तृप्यन्ताम्।

जो प्राणी उच्छिष्टमें हिस्सेदार हैं, वे इस उच्छिष्टसे तृप्त हों। तात्पर्य यह है कि कुत्ते-कौवे तथा कीड़ोंको भी कुछ मिलना चाहिए।

मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः—चाहे जितनी सावधानी रखी जाय, कमाईमें कुछ-न-कुछ पाप होता ही है। खेतीमें खेत जोतने, सींचने, निराने, काटने, दाने निकालने, कूटने-पीसने, पकानेमें कीड़े मरते ही हैं। स्नान करनेमें, पानी पीनेमें भी कुछ-न-कुछ हिंसा होती है। पैसा बेईमानीसे आया है तो उसमें तो पाप स्पष्ट है। जब हम सबको बाँटकर खाते हैं तो निष्पाप हो जाते हैं।

आपके घर वेतन आता है तो जो बेकार हैं, उन्हें कष्ट नहीं होता? आप व्यापारकी कमाई करते हैं तो उसमें दूसरोंका श्रम—स्वत्व नहीं है? इस दोषकी निवृत्ति होनी चाहिए। वह बाँटकर खानेसे होगी।

भुञ्जते ते त्वघं पापाः—अपने ही लिये जो पकाते हैं वे पापिष्ठ पाप खाते

हैं। आजकलका अर्थशास्त्र सिखलाता है कि कमाना कैसे चाहिए; किन्तु यह नहीं सिखलाता कि खर्च कैसे करना चाहिए? इसे न सिखलानेका ही फल होता है कि पैसा सेठोंके घर इकट्ठा हो गया है।

सेठ जी धर्मात्मा हैं। मिट्टीसे हाथ धोते हैं। अपरसका वस्त्र पहनकर पूजा करते हैं। ब्राह्मणको छोड़कर दूसरेके हाथकी रोटी नहीं खाते; किन्तु उनके लड़के जुआ खेलते हैं। होटलोंमें भोजन करते और शराब पीते हैं। परस्त्रीसे अनाचार करते हैं। पितामें इतना धर्म और पुत्रमें यह असंयम कहाँसे आया? यह इसलिए आया कि सेठने धन एकत्र करना तो सीखा, उनका उचित वितरण नहीं सीखा।

किसी सरोवरमें जल आता ही आता हो, उससे निकलता न हो तो उस सरोवरका जल सड़ जायगा या उसकी मेड़ टूट जायगी। इसी प्रकार जिनके घर धन आता ही आता है, उसके निकलनेका धर्म-मार्ग नहीं है, तब उस घरकी मर्यादा टूट जाती है। उसमें अनाचार प्रवेश करता है।

जो अपने लिए ही पकाते हैं, वे स्वयं ही पक रहे हैं। चाहे वातानुकूलित गृहमें रहो या धूपमें श्रम करो; किन्तु तुम स्वयं ही पकाये जा रहे हो।

यक्षने युधिष्ठिरसे पूछा—'संसारमें समाचार क्या है?' धर्मराज युधिष्ठिरने उत्तर दिया—

मासर्तुदर्वीपरिवर्तनेन सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन।
अस्मिन् महामोहमये कटाहे भूतानि कालः पचतीति वार्ता॥

(महाभारत)

'महाकालने महामोहके कड़ाहेमें प्राणियोंको डाल रखा है। रात्रि-दिनका ईंधन बनाकर सूर्यकी अग्निसे उन्हें मास-ऋतुकी कलछीसे उलट-पलटकर पका रहा है—बस यह समाचार है।'

पकाया नहीं गया तो बच्चा युवा कैसे हो गया? जवान बूढ़ा कैसे बना? काले केश श्वेत कैसे हुए?

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तः—यहाँ संत कहनेका क्या तात्पर्य है? मुसलमानोंमें मौलवी होते हैं। वे कुरानके अनुसार लोगोंको धर्माचरण बतलाते हैं। हिन्दुओंमें पुरोहित, आचार्य होते हैं, ये अपने-अपने सम्प्रदायके अनुसार धर्माचरण

सिखलाते हैं। ऐसे ही ईसाइयोंमें पादरी होते हैं। ये कोई अपने सम्प्रदायसे बाहर नहीं जाते। पादरी मौलवी नहीं और मौलवी पादरी नहीं। पादरी या मौलवी पुरोहित नहीं। संत इन साम्प्रदायिक बन्धनोंसे पृथक् होते हैं। जो सन्मात्र परमात्मासे एक है, वह संत है। उसके लिए—'सब संसार मेरा। सब सम्प्रदाय मेरे।'

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तः—का तात्पर्य है कि किसीको भोजन देते समय वह किस जाति, सम्प्रदाय आदिका है, इसका विचार न करे।

सर्वभूतानि मनसा प्रणमेद् साधु मानयन्।

सब प्राणियोंमें एक ही परमात्माका निवास है, अतः सबका अच्छी प्रकार आदर करते हुए मनसे सबको प्रणाम करे। ऋग्वेदके धन्नान्नदान-सूक्तमें मन्त्र है—

केवलाघो भवति केवलादी।

जो अपने और अपने परिवारके लिए ही उपार्जन करता है, उसे केवल पाप ही मिलता है। अतः ईश्वरके लिए काम करो।



यज्ञकी इतनी महिमा क्यों?

इसलिए कि यज्ञ अविद्यामें भी उपकारी है और विद्यामें भी। अविद्यामें कैसे उपकारी है? यह बात अगले श्लोकमें कह रहे हैं।

यज्ञसे बचा जो खाता है वह संत, यह कहा तो प्रश्न उठा कि—यज्ञ क्या?

यज्ञ अविद्या और विद्या दोनोंकी धुरी है। यदि आप अविद्या-मूलक जगद्व्यवहार चलाना चाहते हो तो भी आपके लिए यज्ञ आवश्यक है और विद्याके द्वारा अविद्याकी निवृत्ति करना चाहते हो तो भी यज्ञ आवश्यक है।

यज्ञसे जो पर्जन्य होता है, वही भोक्ता है। जहाँ जीवोंके कर्मबीजकी धारा है, वह कर्म ब्रह्म हैं। जहाँ आत्मा अविच्छिन्न संविद् रूप होनेपर भी भोग कर रहा है, वह यज्ञ ब्रह्म है। यज्ञब्रह्म ही सुख-भोगका हेतु होता है। तब उसमें पर्जन्य भोक्ता रूपसे प्रकट होता है। उसका अन्न है देश, काल, वस्तु, पंचभूत। इसमें प्राणिशरीर भूत अर्थात् अपने-अपने भागका भोग लेनेमें समर्थ हैं।

अक्षर नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ब्रह्म है। ब्रह्म शब्द सगुण ईश्वर वाचक है। कर्म आनन्दमयावस्था, यज्ञ विज्ञानमयावस्था, पर्जन्य मनोमयावस्था एवं प्राणमयावस्था तथा भूत अन्नमयावस्था है।

तैत्तरीयोपनिषद्में विज्ञानको ही यज्ञ कहा है—

विज्ञानं यज्ञं तनुते।

इस विज्ञानके मूलमें कर्म-संस्कार और कर्म-संस्कारोंके मूलमें ईश्वर है।

इस प्रकार देखते हैं कि यदि हम यज्ञसे भोग चाहें तो यज्ञ हमें पर्जन्य बनायेगा। यदि हम उससे अन्न चाहें तो सारी सृष्टि हमारी भोग्य हो जायगी। यदि हम उससे दिव्य देह या मनुष्य-देह चाहें तो वह भी प्राप्त हो जायगा।

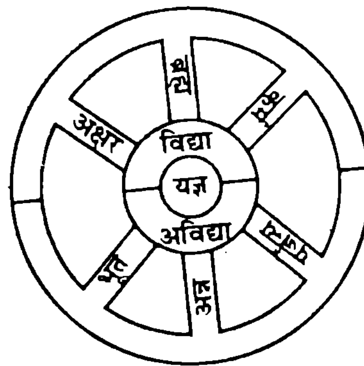
यह सब कैसे होगा? इसे समझा रहे हैं—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ 14॥

अन्नसे सब प्राणी होते हैं। अन्न पर्जन्यसे उत्पन्न होता है। यज्ञसे पर्जन्य होता है और यज्ञ कर्मसे होता है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं आगे कहेंगे। यज्ञ एक चक्र है, जैसे रथका पहिया होता है। चक्रमें नाभि, और अरे होते हैं। यज्ञमें तीन अरे अविद्याके नीचे और तीन विद्याके ऊपर हैं। बीचमें यज्ञ-रूप नाभि है।

भूत, अन्न और पर्जन्य ये तीन अरे अविद्याके अंग हैं। कर्म, ब्रह्म और अक्षर ये तीन विद्याके अंग हैं—



कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ 15॥

कर्मको ब्रह्मसे उत्पन्न समझो। ब्रह्म अक्षरसे उत्पन्न है। इसलिए सर्वव्यापी ब्रह्म नित्य यज्ञमें प्रतिष्ठित है।

सर्व, सर्वगत ब्रह्म भी है। इसका तात्पर्य है कि यज्ञसे संसारका अभ्युदय एवं निःश्रेयस भी सिद्ध है।

यज्ञसे पर्जन्य, पर्जन्यसे अन्न, अन्नसे भूत (प्राणी) यह एक पद्धति—बाहरी पद्धति है। यज्ञ-कर्म यज्ञका कारण ब्रह्म और ब्रह्मका कारण अक्षर तीन अन्तः अरे हैं। इस प्रकार एक ही यज्ञमें प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों परिपूर्ण हैं। इसीसे मीमांसक कहते हैं कि यज्ञका ही नाम धर्म है।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि—संसारमें जो भी प्राणी उत्पन्न होते हैं, वे अन्नसे होते हैं। अन्न वह तत्त्व है जो हमारे जीवन-धारणमें सहायक होता है। अतः यहाँ देश, काल, आकाश, वायु, जल, पृथ्वी, अग्नि आदिका अन्नसे ग्रहण होता है।

किसी स्थानपर, किसी समय, किसी उपादानसे प्राणी उत्पन्न होकर पञ्चभूतोंसे अपना भोग ग्रहण करता है। अतः जौ-गेहूँ-चावल आदि अन्न नहीं हैं। ये तो भूत हैं। अन्न वह है जिसे ये खाते हैं।

आपके घर एक पौधा उत्पन्न होता है। वह प्राणी न होता तो बढ़ता? उसमें प्राण है, श्वास है। बीजमें प्राण न हो तो बोनेपर वह फटा कैसे? उसमें-से अंकुर कैसे निकलकर बढ़ चला? इन वनस्पतियोंमें मनुस्मृतिके अनुसार मनोमय कोष भी है।

अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखावगाहिनः।

इनमें अन्तःबोध होता है और ये सुख-दुःखका अनुभव करते हैं। इसीसे लाजवन्ती छूनेपर सिकुड़ जाती है। विज्ञानने सिद्ध किया है कि इनमें स्त्री-पुरुषके भेद होते हैं। पपीतेके बगीचेमें पुरुष जातिके पपीतेका कोई पौधा न हो तो दूसरे पपीतेंमें फल नहीं आयेगा। अतः ये वनस्पति तो प्राणी हैं, इनका भी अन्न है। मिट्टी, पानी, गर्मी, वायु, आकाश, चाँदनी, समय और दिशाएँ ही इनका अन्न हैं।

पर्जन्य कौन है? यह भोक्ता है।

देश, काल और पंचभूत अन्न हैं। वनस्पति तथा देवधारी प्राणी हैं। इनमें जो अखण्ड संविदात्मा आत्मदेव हैं, वही अन्न और भूत दोनोंके भोक्ता हैं। ये शरीरको उपकरण बनाते हैं और अपनी संविद्दृष्टिसे अपना उपभोग्य बनाते हैं।

निर्गुणं गुणभोक्तृ च इसके भाष्यमें भगवान् शंकराचार्यजीने कहा है—

भोक्तृत्वं नाम उपलब्धृत्वम्।

उपलब्धृत्वको ही भोक्तृत्व कहा जाता है। केवल उपलब्धि—जानना ही भोग है, भोग और कुछ नहीं। चटनी, सब्जी, खीर, रोटी पेटमें जानेपर सब एक जैसे हैं। इनके जीभपर भोगका क्या भेद है? इनके स्वादका पृथक्-पृथक् ज्ञान।

न हि उपलब्धेरन्यो भोगो नाम कश्चित्।

ज्ञानके अतिरिक्त भोग नामकी कोई वस्तु नहीं। पृथक्-पृथक् संविद्का नाम ही पृथक्-पृथक् भोग है।

एक स्त्री, एक बालक, एक पण्डित और एक साधुको आपने देखा। इनको देखनेसे आपके मनमें प्रेरणाएँ भिन्न-भिन्न आयीं। प्रेरक भेदसे-प्रेरणाओंमें भेद हुआ; किन्तु वस्तुभेदसे ज्ञानमें भेद नहीं होता। क्रियाभेदसे ज्ञानमें भेद नहीं होता। गुणभेदसे ज्ञानमें भेद नहीं होता।

जैसे एक ही प्रकाशमें भिन्न-भिन्न वस्तुएँ दीखती हैं, वैसे ही एक ही अखण्ड संविद् सबको प्रकाशित करती है। वह संविदात्मा भोक्ता है। यहाँ उसीको भगवान्ने पर्जन्य कहा है। इसीके भोगसे प्राणियोंकी उत्पत्ति हो रही है। यही भोक्ता अन्नके द्वारा भिन्न-भिन्न प्राणी उत्पन्न कर रहा है। वस्तुतः सब सृष्टि आत्मदृष्टि है।

पर्जन्य भोक्ता कैसे बन गया?

भूत, अन्न और पर्जन्य ये तीन अरे संसारकी ओर और कर्म, ब्रह्म, अक्षर ये तीन अरे परमात्माकी ओर ले जाते हैं—यह ध्यानमें रखिये।

वैसे इस श्लोकका एक सामान्य अर्थ भी है। मनुस्मृतिमें आया है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

(मनु० 3.76)

अग्निमें भली प्रकार दी गयी आहुति सूर्यके पास पहुँचती है। सूर्यसे वर्षा होती है। वर्षासे अन्न होता है। उस अन्नसे प्रजा होती है।

इस प्रकार यज्ञसे वर्षा, वर्षासे अन्न और अन्नसे प्राणियोंका पोषण तो प्रत्यक्ष ही है। यज्ञ कर्मसे वह यज्ञीय कर्म ब्रह्म अर्थात् वेदसे होता है और वेदकी स्थिति अक्षर-परमात्मासे है। यह सामान्य प्रचलित अर्थ इन श्लोकोंका है।

'यज्ञः कर्मसमुद्भवः'—अतः यदि हम यज्ञसे कर्म-वासना पहचानना चाहेंगे तो पहचान सकेंगे।

'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि'—इसलिए यज्ञरूप कर्मसे हम सगुण ईश्वरको पाना चाहेंगे तो पा सकेंगे।

'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्'—अतः यज्ञके द्वारा अन्तःकरण-शुद्धि करके परमात्माका साक्षात्कार करना चाहेंगे तो वह भी कर सकेंगे।

यज्ञ ही धर्म है। यही हमारे अभ्युदय-निःश्रेयसका साधन है।

उन्नतिं निखिला जीवा धर्मेणैव क्रमादिह।

विदधानाः सावधाना लभन्ते परमं पदम्॥

सभी प्राणी सावधानीपूर्वक धर्माचरण करते हुए ही इस संसारमें क्रमशः उन्नति करते हुए परम पदको प्राप्त करते हैं।

धर्म आत्मोन्मुख करता है और कर्म संसारोन्मुख होता है। कर्मके दो रूप होते हैं—उच्छृङ्खल कर्म और नियन्त्रित कर्म। इनमें उच्छृङ्खल कर्म संसारका हेतु है और नियन्त्रित कर्म संसारसे निवृत्तिका हेतु है।

नियन्त्रित कर्ममें भी क्रम है। पहले बुरे-बुरे कर्म, बुरे भोग, बुरे वचन छोड़ देना। यह यज्ञ धर्म है। जो अनुचित भोग है, उसे स्वीकार मत करो। जो लोगोंको दुःख देनेवाला कर्म है, उसे स्वीकार मत करो। जो अनुचित वाणी है, उसे मत बोलो। जो अनुचित भाव हैं, उन्हें मनमें मत आने दो। यह अशुभ-प्रवृत्तिका त्याग धर्म है।

यह यज्ञ—यह लोकहित कर्म है, इसीसे आपका कल्याण होगा। जहाँ उच्छृङ्खल ऐन्द्रिय जीवन होता है, वहाँ दुःख होता है।

आपको क्या प्यारा लगता है—रसगुल्ला? आपकी गति किस ओर है? आपका मन—इन्द्रियाँ ऐसी स्थितिमें पहुँच जायँ जहाँ आप रसगुल्ला हो जायँ तब अपने इष्टसे तादात्म्यापन्न होंगे। प्रत्येक अपने इष्टसे मिलना चाहता है। रसगुल्लेसे आप अपनी जीभ और मन मिलाना चाहते हो तब ईश्वरने कहा—'लाओ, तुम्हारी इन्द्रिय और मनको हम रसगुल्लेसे मिला देते हैं। तुम रसगुल्ला हो जाओ।'

आप चेतनको चाहते हो या जड़को? जड़को चाहते हो तो ईश्वर आपको जड़से मिला देगा। यों कहो कि जड़का चिन्तन करते-करते स्वयं जड़भावापन्न हो जाओगे।

चेतनका चिन्तन करो तो व्यक्तित्व, स्थूलसमष्टि, सूक्ष्म समष्टिका चिन्तन क्रमशः छूटेगा। अपने स्वरूपमें स्थित हो जाओगे।

मूल प्रश्न यह है कि आप शान्तिसे—आनन्दसे रहना चाहते हो या किसी पदार्थको चाहते हो? जड़-पदार्थको चाहकर उससे तादात्म्यापन्न

होना चाहते हो? जड़को चाहोगे तो जड़से और चेतनको चाहोगे तो चेतनसे एक हो जाओगे। जहाँ आप अपना प्यार, स्मृति, चिन्तन, आपा दोगे, उसीसे आपको एक होना पड़ेगा। यज्ञका स्वरूप ही यह है कि उससे जो चाहोगे, मिलेगा।

'**अन्नाद् भवन्ति भूतानि**'—प्राणियोंके शरीरका भूत-स्थूल तत्त्व अन्न-समष्टि है। जिस पञ्चभूतसे यह शरीर एक देशमें, एक कालमें, एक उपादानसे, एक निमित्तसे उत्पन्न हुआ, वही इसका अन्न है।

बृहदारण्यक उपनिषद्में प्राणियोंके सात अन्न कहे गये हैं। ये अन्न कहाँसे उत्पन्न हुए? पर्जन्यसे। '**जनेभ्यः हितो जन्यः पर्जन्यः**।' जो तृप्तिरूप हो और लोगोंको हितकारी हो, उसका नाम पर्जन्य।

जो रसवर्षी हो 'प्रार्जयिता' हो वह पर्जन्य। निरुक्तमें इस शब्दकी व्युत्पत्ति है—'पराय जनयति' दूसरोंके लिए जो उत्तम-उत्तम वस्तुएँ उत्पन्न करता है, वह पर्जन्य।

अर्जन और उपार्जन ये दो शब्द भी पर्जन्य—जैसे ही हैं। अपने पास जो सम्पत्ति नहीं थी, उसे यदि अपने प्रयत्नसे उत्पन्न किया तो यह अर्जन हुआ। सम्पत्ति अपने पिता-पितामहके समयसे थी। उसमें अपने प्रयत्नसे वृद्धि की तो यह उपार्जन कहलायेगा। लेकिन अर्जन और उपार्जन अपने लिए होता है। पर्जन्य दूसरेके लिए सुख-सम्पत्तिका जनयिता है।

पर्जन्य अविच्छिन्न संविद् रूप है। इसके बिना न अन्नकी सिद्धि होती है, न भूतकी।

गर्भमें मनुष्य-शरीरके हाथ-पैर, नेत्र-कर्णादि कैसे प्रकट होते हैं? इस विषयमें शास्त्र कहता है कि गर्भस्थ पिण्डमें देखने, सुनने, छूने, सूँघने और चखनेकी पाँच प्रकारकी भोगेच्छा है और करने, चलने, बोलने, मलोत्सर्ग एवं मूत्रत्यागकी पाँच प्रकारकी कर्मेच्छा है। नयी-नयी वस्तु जानने, सोचने और प्यार करनेकी इच्छा छिपी होती है। इन छिपी वासनाओंसे सम्पृक्त होकर पञ्चभूत शरीराकार परिणामको प्राप्त होता है। पंचभूत तो सर्वत्र एक-से हैं। उनमें इतने प्रकारके शरीर बने, इसके मूलमें सूक्ष्म वासनाको स्वीकार करना ही पड़ेगा।

सूक्ष्म वासनाएँ सहस्रों होती हैं। उनसे सुख-दुःख भोगनेवाला एक होता है। उसीके भीतर तृप्तिकी इच्छा और तृप्ति होती है।

यह पर्जन्य अपनी तृप्तिकी वर्षा कर रहा है, इसीसे इसे पर्जन्य कहते हैं। यह हृदयमें बैठा भोक्ता है। संविद्रूप होनेसे यही समग्र भोगकी सृष्टिका कर्ता है। यह अपनी भोगवृत्तिसे अन्नकी सृष्टि करता है।

इस पर्जन्यका जो अन्न है, उसके भोगायतनके रूपमें किस अन्नका भोग किसके द्वारा हो, इस भेदसे शरीर-भेद उत्पन्न होता है। मांस खानेके लिए गीध, व्याघ्र, भेड़िये आदि उत्पन्न होते हैं। किसे क्या खाना है, सृष्टिमें इसके अनुसार उस प्राणीका शरीर बनता है।

यह मनुष्य अपने अन्नके अनुसार उत्पन्न होता है। अन्न हमारे पूर्व जन्मोंकी भोगवासनाके अनुसार उत्पन्न होता है। पर्जन्य अर्थात् भोक्ताके भावानुसार अन्नकी उत्पत्ति होती है और अन्नके अनुसार शरीर बनता है। भोक्तृत्व भी कर्मानुसार ही बनता है—

पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति।

जो पुण्य करता है, उसे पुण्य-शरीरकी प्राप्ति होती है और जो पाप करता है, उसे पाप-देहकी प्राप्ति होती है।

अब प्रश्न है कि भोक्तामें वासना कहाँसे आयी?

यज्ञः कर्मसमुद्भवः।

पूर्व-पूर्व कर्म-परम्पराके अनुसार ही मनुष्यके भोग होते हैं। पर्जन्य तो तृप्तिकी संविद् है। वह कर्म—कारणकी संविद् है। कर्ममें कारणता—हमको भोग कैसा चाहिए, यह कैसे आती है? यह अभ्यास तथा संगसे आती है। जैसा कर्म करने लगते हैं, जैसा संग करते हैं, जिन बातोंको देखते-सुनते हैं, जिनपर श्रद्धा करते हैं और जैसा बनना चाहते हैं, वैसे कर्म-संस्कार बनते हैं।

हम कैसा बनना चाहते हैं? एक व्यक्ति धनी बनना चाहता है। इस जन्ममें नहीं तो आगे किसी जन्ममें वह धनी बनेगा। इसलिए अपनी कामना स्थिरके लिए करो। जो धन, पदको चाहते हैं, वे नश्वर वस्तु चाहते हैं। धन नश्वर है। पद अस्थायी हैं। विद्या, बुद्धि और ईश्वरकी अनुरक्ति स्थायी हैं।

विद्या और बुद्धिकी बात आप समझते हैं। ईश्वरकी अनुरक्तिके लिए

ईश्वरको समझें। भोग-क्रिया आती है यज्ञसे अर्थात् शुभ कर्मसे। शुभ कर्म आता है कर्म-समष्टिसे। कर्म समष्टि कर्ताको कैसे पहचानती है कि अमुक कर्मका फल अमुक कर्ताको ही मिला है? इसके लिए ईश्वरकी आवश्यकता है। ईश्वर अनन्त अपरिच्छिन्न अनवच्छिन्न शक्तिसे संवलित सत् है। वह समस्त सुखोंका आकार—आनन्द है। समस्त चिद्बुद्धियाँ जिससे निकलती हैं, वह चित् है। वह सच्चिदानन्द है। वह शक्तिसंवलित है, अतः उसके सदंशसे आकार (शरीर) चिदंशसे बुद्धि-वृत्तियाँ और आनन्दांशसे तृप्ति सृष्टिमें है।

देश, काल, वस्तुसे अनवच्छिन्न, जगत्का मूल तत्त्व, जहाँ जगत्के कर्म और भोगसे चैतन्यका सर्वथा सम्बन्ध नहीं है, वह शान्त, अद्वय, निरामय अक्षर तत्त्व है।

अद्वैतवादी वेदान्ती अक्षरतत्त्व-प्रधान होते हैं। भक्त ईश्वरको प्रधान मानते हैं। प्रकृतिवादी, परमाणुवादी, कर्मवादी कर्मतत्त्वको प्रधानता देते हैं और भोगवादियोंके लिए पर्जन्य-तत्त्व प्रधान है।

तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।

इसलिए सर्वगत ब्रह्म यज्ञमें प्रतिष्ठित है। जैसे अग्निमें घी डाला तो सुगन्ध फैली। आदान-प्रदानका यही क्रम यज्ञ है। हमारे जीवनमें कर्म हो; किन्तु वासना न हो, इसीका नाम यज्ञ है।

पर्जन्योन्मुख कर्म न हो। अन्नोन्मुख कर्म न हो। भूतोन्मुख कर्म न हो। हमारा कर्म ब्रह्मोन्मुख हो। हमारा कर्म सम्पूर्ण जगत्की सेवाके लिए हो। हमारा यज्ञ ऐसा हो कि उससे चींटीको भी आटे और शक्करके कण मिलें। वृक्षको भी उससे खाद मिले।

खुर्जाके एक सेठने आमका बगीचा लगाया। वे उन वृक्षोंको दूधसे सिंचवाते थे। उन वृक्षोंके फलोंमें दूधका स्वाद है। सेठने आमोंको पाँच छः वर्ष दूध पिलाया। आम चालीस वर्षसे दूध-मिश्रित फल दे रहे हैं। यही यज्ञ है। जो दोगे, वह पाओगे।



यज्ञमें सातकी संख्या श्रेष्ठ मानी जाती है। छः अरे और एक नाभि, ये सात—

सप्तसक्तुर्यज्ञः।

प्राणियोंका शरीर (मिट्टी, पानी, ऊष्मा, वायु, आकाश) यह अन्न है। यह अन्न भोक्तृ-संविद्से उत्पन्न हुआ। भोक्तृत्व उत्पन्न हुआ यज्ञसे। यज्ञ उत्पन्न हुआ कर्मसे। कर्म सगुण ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ। सगुण ब्रह्म व्यक्त हुआ निर्गुण ब्रह्मसे। इन छः में-से निर्गुण ब्रह्म, सगुण ब्रह्म और स्वाभाविक कर्म-समष्टि—ये तीन यज्ञके ऊपरी अरे हैं। धर्मबुद्धिसे अनुष्ठीयमान यज्ञ, भोक्तृत्व, भोक्तृत्व-भोगसे शरीर—ये तीन नीचेके अरे हैं। इनकी सम्पूर्ण समष्टिको लेकर यह सप्ताङ्ग यज्ञ है।

सृष्टि-विवेचनमें दूसरे शास्त्रोंसे गीतामें एक विलक्षणता है। दूसरे शास्त्र प्रायः क्षर और अक्षर दो तत्त्वोंका ही प्रतिपादन करते हैं। सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीर क्षर-वर्गमें और कारण या जीवात्मा अक्षर-वर्गमें है।

यदि योग या सांख्यके अनुसार साधन करना है तो दृश्य क्षर है। दृश्यमें विकार-परिवर्तन, विनाश होता है। मैं द्रष्टा, कूटस्थ, निर्विकार, एकरस अक्षर पुरुष हूँ बस इतना पर्याप्त है।

गीता क्षर-अक्षरसे विलक्षण एक पुरुषोत्तम-तत्त्वका प्रतिपादन करती है। उपनिषद्में बीजरूपमें इसका निरूपण है—

अक्षरात् परतः परः।

अक्षरसे परे परमतत्त्व है। गीतामें उसीको पुरुषोत्तम कहा गया।

जिसमें ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोगका अन्तर्भाव हो जाय उस बुद्धिका नाम गीता है। ग्रन्थ या कागजका नाम गीता नहीं है।

गीतामें चार प्रकारकी बुद्धिको अनर्थदायिनी और चार प्रकारकी बुद्धिको परमार्थदायिनी माना गया है। इसमें कर्म और ज्ञानका झगड़ा नहीं है। आपमें बुद्धि होनी चाहिए। गीता समाधिके लिए भी बुद्धिका तिरस्कार करनेके पक्षमें नहीं है।

अनुभववादी, समाधिवादी बुद्धिका तिरस्कार करते हैं। एक अनुभवको अन्तिम मानता है तो दूसरे समाधिमें वृत्तियोंका लय करना। धर्मवादी और भक्त भी बुद्धिका तिरस्कार करते हैं; किन्तु गीता बुद्धिके तिरस्कारके पक्षमें नहीं है।

बुद्धिके बिना कोई काम नहीं हो सकता। न ज्ञान, न योग, न भक्ति, न धर्म।

अनर्थदायिनी बुद्धियाँ ये हैं—

1. देहाश्रित भाव। मैं ब्राह्मण, मैं संन्यासी या मैं मनुष्य। इस प्रकार देहाश्रित भावके वशीभूत प्राणी दूसरोंकी हिंसा एवं उनका तिरस्कार करता है। 'मैं देह हूँ' यह भाव सीधे किसीको नहीं होता। मैं ब्राह्मणादि अमुक हूँ, ऐसा ही भाव होता है।

2. संसारमें कोई घृणा-योग्य अथवा कोई समर्थन-योग्य है। घृणा-योग्य किसीको मानोगे तो उससे द्वेष होगा और समर्थन-योग्य जिसे मानोगे उसमें राग होगा।

3. मैं पापी-पुण्यात्मा, सुखी-दुखी, स्वर्ग-नरक आने-जानेवाला, संसारी परिच्छिन्न हूँ।

4. अखण्ड तत्त्वको न जानना। यह दुर्बुद्धिकी, सूक्ष्मताकी पराकाष्ठा है।

इन अनर्थदायिनी दुर्बुद्धियोंको दूर करनेवाली परमार्थदायिनी सद्बुद्धिकी चार कक्षाएँ हैं।

धर्माधर्मसे परे जो परमात्मा है, वह सत् है।

अस्तित्वेनोपलब्धव्यः तत्त्वभावेन भारत।
अस्तित्वेनोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति॥

नाम नहीं, रूप नहीं, गुण नहीं, वह सन्मात्र है। सन्मात्र होनेसे तत्त्व अद्वितीय है। आत्मासे अभिन्न होनेसे चेतन है; क्योंकि अद्वितीयताको छोड़कर अपना आपा परिच्छिन्न हो जायगा और अपना आपा छोड़ दें तो

अद्वितीयता जड़ हो जायगी। अत: अद्वितीय सत्-स्वरूप चैतन्य है। इस धर्माधर्मसे परे अविनाशी, अद्वितीय, प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्मके लिए शास्त्र नहीं होता।

जो धर्माधर्म-स्वरूप सगुण ब्रह्म है, उसके लिए भी शास्त्र नहीं होता। न अक्षरके लिए शास्त्र है, न सगुण ब्रह्मके लिए।

सहज भावसे प्रकृतिमें जो कर्म हो रहे हैं, उनके लिए भी शास्त्र नहीं है। वायु चले या नहीं, सूर्य उगे या नहीं, सर्दी पड़े या नहीं, इन सबके लिए शास्त्र नहीं है।

इस प्रकार धर्माधर्मातीतके लिए शास्त्र नहीं है। धर्माधर्म-स्वरूपके लिए शास्त्र नहीं है। धर्माधर्म-विभागरहित निसर्गके लिए शास्त्र नहीं है।

जहाँ आत्मा परिच्छिन्न हो बैठा है, वहीं शास्त्र है। इसमें चार प्रकारके विचार—चार बुद्धि आवश्यक मानी गयी हैं—

1. शरीरसे कैसे कर्म करना।
2. कैसे कर्मोंको छोड़ देना।
3. प्रेम कहाँ करना।
4. अपने आप कहाँ बैठना।

अनर्थदायिनी बुद्धियोंके निवारणार्थ चार परमार्थ-दायिनी बुद्धियाँ हैं—

1. देहाभिनिवेशको दूर करनेके लिए धर्मानुष्ठान करना चाहिए। न्यायशास्त्र इसे प्रेत्यभाव अर्थात् शरीरके बिना भी आत्माके अस्तित्वकी बुद्धि बतलाता है। इससे देहभाव नष्ट होगा। धर्मविषयक बुद्धि यह है कि यह जन्म कर्मानुसार हुआ है। इस जन्मके कर्मोंके अनुसार अगला जन्म होगा। यह बुद्धि 'मैं देह या मैं ब्राह्मण, संन्यासी-आदि भावको नष्ट करेगी।' देहभावकी तृप्तिके लिए ही हम अन्यायकर्म एवं अन्यायपूर्वक भोग करते हैं। अन्याय सोचते हैं। अन्याय बोलते हैं। अन्यायपूर्वक संग्रह करते हैं। देहमें-से 'मैं' को निकालनेका साधन है धर्म।

स्वर्ग-नरक मानना, पुनर्जन्म मानना तथा पितृतर्पण आदि करना देहमें-से अहं-बुद्धि दूर करनेके लिए हैं। अर्जुनको यह धर्मबुद्धि प्राप्त है। इसीसे वह कहता है—

पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः। (गीता 1.42)

× × ×

नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुमः। (गीता 1.44)

2. दूसरी दुर्बुद्धि है राग-द्वेष। वस्तु, व्यक्ति या क्रियासे राग-द्वेष होता है। इसे दूर करनेके लिए वैराग्य-बुद्धि चाहिए। आपका राग-द्वेष आपकी मुट्ठीमें नहीं है तो आप मनुष्य कैसे हैं? आप राग-द्वेष तो करते हैं; किन्तु इन्हें त्यागना नहीं जानते, यह तो पशुत्व है। विवेकजन्य वैराग्यसे राग-द्वेष छूटता है।

3. 'हम धर्मात्मा हैं और वैराग्यवान् हैं, मैं पुण्यात्मा हूँ' इस अभिमानसे परिच्छेदक बुद्धि उत्पन्न हुई। आपने अपनेको परिच्छिन्न कर लिया।

'ये लोग राग-द्वेषमें फँसे पापी हैं, मैं पुण्यात्मा हूँ' यह अस्मिता है। विद्या, धन, गुण, प्रशंसा, पद, तप आदि कारणसे अपनेमें वैशिष्ट्यका आरोप कर लेना अस्मिता है। इसे दूर करनेके लिए भक्ति चाहिए।

सूर्य अभिमान करे कि—'मैं प्रकाश देता हूँ' तो झूठा।

गङ्गा अभिमान करें कि—'मैं बहती हूँ'—'तृप्ति देती हूँ' तो झूठी।

पृथ्वी अभिमान करे—'मैं सबको धारण करती हूँ' तो झूठी।

वायु अभिमान करे—'मैं सबको श्वास देता हूँ' तो झूठा।

यह सबकी सब शक्तियाँ ईश्वरकी प्रेरणा हैं। अनन्त समष्टि शक्तिमें यह सब अपने आप हो रहा है। इसमें अभिमान व्यर्थ है। अभिमान दूर करनेके लिए ईश्वरके ऐश्वर्यका अनुसन्धान करना चाहिए।

4. सम्पूर्ण नामरूपात्मक प्रपञ्च एक अद्वितीय सत्तामें बिना हुए ही भास रहे हैं। वह अद्वितीय सत्ता मेरी आत्मसत्तासे अभिन्न है। यह बोध बुद्धिका बोध है। यह अविद्या—अज्ञानका नाशक है। इसमें कहीं भी व्यवहारका नाश नहीं है।

ये चार बुद्धियोगके अङ्ग हैं। विश्वमें धर्मबुद्धि, तेजस्‌में वैराग्य-बुद्धि, प्राज्ञमें ईश्वर-बुद्धि और तुरीयमें स्थित होकर इनका त्याग, ये चार स्थितियाँ हैं। यही तात्त्विक रूपसे चार वर्ण और चार आश्रम हैं।

गीतामें बुद्धिके कर्मको भी कर्म माना गया है। शरीरसे जो किया जाता

है, सामान्य व्यवहारमें उसे कर्म कहते हैं। लेकिन मनसे जो किया जाता है वह मनोयोग और बुद्धिसे जो करते हैं, वह विचार भी कर्म ही है। इस प्रकार बुद्धिसे होनेवाला तत्त्वज्ञान भी कर्म है।

जहाँ कुछ-न-कुछ परिवर्तन करना है, भले वह अज्ञानकी निवृत्ति ही हो, वहाँ किञ्चित् कर्मांश तो है ही। ब्रह्माकारवृत्ति भी एक बौद्ध-व्यापार है। इस प्रकार कर्मकी व्याप्ति बहुत बड़ी है। जबतक कर्ता नहीं मरेगा, कर्म रहेगा ही। ऐसी स्थितिमें आप जो कर्म-त्याग करने जा रहे हैं, यह तो यज्ञका त्याग कर रहे हैं। जब आप यज्ञका त्याग कर रहे हैं तो आपके जीवनमें न अविद्या-विभाग ठीक रहेगा, न विद्या-विभाग। आपका इससे व्यवहार और परमार्थ दोनों बिगड़ जायेगा। अतः यज्ञमें स्थित रहना आवश्यक है।

भगवान् यहाँ दूसरे ढंगसे बोल रहे हैं। बोलनेका एक ढंग है—'तुम सन्ध्या-वन्दन करोगे तो तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध होगा।' दूसरा ढंग बोलनेका है—'तुम सन्ध्या-वन्दन नहीं करोगे तो पाप लगेगा। हृदय मलिन होगा।'

जैसे कोई कहे—'यह काम करोगे तो सरकार प्रसन्न होगी।'

यही बात दूसरे ढंगसे कहे—'यह काम नहीं करोगे तो पुलिस पकड़कर जेलमें बंद कर देगी।'

इस दूसरे ढंगसे भगवान् बोलते हैं—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥ 16॥

अर्जुन! इस प्रकार प्रवर्तित यज्ञ-चक्रके अनुसार जो व्यवहार नहीं करता वह पापी है, इन्द्रियाराम है और व्यर्थ ही जीवन-धारण करता है।

तुम दूसरोंको सुख दोगे तो घूम-फिरकर तुम्हारे पास सुख आयेगा। तुम दूसरोंको दुःख दोगे तो घूम-फिरकर तुम्हारे पास दुःख आयेगा। तुम दूसरोंकी उन्नतिमें सहायक होगे तो सारी सृष्टि तुम्हारी उन्नतिमें सहायक बन जायगी। इसीका नाम यज्ञचक्र है।

जो इसका अनुवर्तन नहीं करता, उसके जीवनमें तीन दोष हैं। 1. वह अघायु है—उसका जीवन पापमय बीत रहा है। 2. वह इन्द्रियाराम है—वह भोग-परायण हो गया है। 3. उसका जीवन व्यर्थ है।

यज्ञ ही धर्म है, जो अन्तःकरण शुद्ध करके परमात्मासे मिलाता है। यज्ञका अर्थ दूसरोंका भला।

'**एवं प्रवर्तितं चक्रम्**'—यज्ञ-चक्रमें सदा उन्नति ही होती है। लोकमें जो पहिया होता है, वह ऊपर-नीचे घूमता रहता है; किन्तु यह यज्ञ-चक्र भगवान्‌के द्वारा चलाया गया है। यह हमें संसारसे उठाकर भगवान्‌से मिलाता है। इसका जो अनुवर्तन नहीं करते अर्थात् जो धर्मद्वारा, वैराग्यद्वारा, परमात्म-चिन्तनद्वारा और स्वरूपस्थितिद्वारा इस धर्म-चक्रका अनुष्ठान नहीं करते, उनके जीवनकी तीन स्थिति होती है—

1. उन्होंने अपना जीवन व्यर्थ बिता दिया। जब मनुष्य पागल हो जाता है तो उसे दवा देकर सुला देते हैं। उसका जीवन व्यर्थ हो गया।

2. अघायु—कर्म करने लगेगा तो बुरे काम करेगा। जीवन पापमय हो गया। उपार्जनकी इच्छा होगी तो बुरे कामसे कमाई करेगा।

3. यदि अघायु न हुआ तो इन्द्रियाराम हो गया। भोग-परायण जीवन बन गया।

इस प्रकार रजोगुणी-तमोगुणी होकर उसका जीवन अधोगामी हो गया। यदि इस यज्ञ-चक्रका अनुवर्तन करता रहेगा तो जीवन ऊर्ध्वगामी होगा।

काममें अवधानी अर्थात् सावधान होना आवश्यक है। अनवधान बुद्धिका संतुलन खो देना है। आपकी बुद्धि राग या द्वेषमें पड़ेगी तो बुद्धिका संतुलन नष्ट हो जायगा। वाणीका संतुलन बोलनेमें, मनका संतुलन संकल्प-विकल्प करनेमें, बुद्धिका संतुलन सोचनेमें नष्ट नहीं होना चाहिए।

एकके घर साधु आये। उन सज्जनकी पत्नी दूध ऐसे ढंगसे परसने लगीं कि मलाई पतिके कटोरेमें गिर गयी। यहाँ रागने उस स्त्रीके मनका संतुलन नष्ट कर दिया।

'**एवं प्रवर्तितं चक्रम्**'—भगवान् कह रहे हैं—'यज्ञ-कर्म करनेमें गुण है और न करनेमें बहुत दोष हैं।'

इस यज्ञ-चक्रको ईश्वरने चला दिया है। जीव इसमें सम्मिलित हो गया। अर्जुनके सामने उसका अपना कर्त्तव्य अनेक दृष्टियोंसे उपस्थित है। धर्म-

दृष्टिसे उसे धर्म-रक्षार्थ प्रयास करना चाहिए। उसके प्रयाससे पूरे राष्ट्रमें धर्म-राज्य-स्थापन होना है।

स्वयं श्रीकृष्ण अर्जुनके सारथि हैं और बहुत त्याग करके उसने श्रीकृष्णका वरण किया है। दुर्योधन जब द्वारिका रण-निमन्त्रण देने गये तो श्रीकृष्ण सो रहे थे। दुर्योधनने सोचा—'मैं राजा हूँ।' वे भगवान्के सिरहाने बैठ गये। पीछे अर्जुन पहुँचे और भगवान्के पैरके समीप बैठ गये। यहाँ भक्त अभक्तका भेद स्पष्ट हो गया। अभक्त अभिमानके कारण ईश्वरके भी सिरपर बैठना चाहता है। भक्तके जीवनमें विनय स्वाभाविक है। भक्तिमें अभिमान बाधक है। अभिमान ही व्यक्तिको वञ्चित करता है।

भगवान्का स्वभाव है कि अभक्तको प्रभाव, बल-पौरुष दे सकते हैं; किन्तु स्वयं वे भक्तके हैं। दुर्योधनको एक अक्षौहिणी नारायणी सेना मिली; किन्तु श्रीकृष्णको अर्जुनने लिया। अर्जुन श्रीकृष्णकी महिमा जानते थे। उन्होंने श्रीकृष्णको सारथि बनाया अर्थात् जीवनका सम्पूर्ण दिशा-निर्देश श्रीकृष्णके हाथमें दे दिया। यह सम्पूर्ण समर्पण है। इतनेपर भी अर्जुनके मनमें धर्माधर्म-विवेक जागता है। उन्हें लगता है—'युद्ध नहीं करना चाहिए।'

जब श्रीकृष्णको सहायक-दिशानिर्देशक बनाया तो उनकी बात माननी थी। अर्जुनको युद्धसे निवृत्त होनेका अधिकार नहीं है। अर्जुन सोच-समझकर, ऋषियों तथा बड़ोंकी सम्मतिसे युद्ध-भूमिमें आये हैं। यह युद्धसे विरक्ति शोक-मोहवश जागी है। इसलिए श्रीकृष्णने कहा—'तुम अब यह जो युद्ध न करनेका निश्चय करते हो, वह ठीक नहीं है।'

प्रकृतिका कोई स्तर संघर्षहीन नहीं है। मुर्दे शरीरमें भी कीटाणु संघर्ष-रत रहते हैं। एक ओर चलोगे तो सामनेसे रुकावट आयेगी ही। जब हम एक निश्चय करते हैं तो विरोधमें तर्क देनेका काम दूसरे करते हैं।

एक मनुष्य कहीं जाना चाहता था। मैंने कहा—'मत जाओ।'

उसने अनेक कारण बतलाकर सिद्ध किया—'मुझे जाना ही चाहिए।'

दूसरी बार वैसा ही अवसर फिर आया तो मैंने कहा—'चले जाओ!'

उसने कहा—'जानेमें द्विविधा है। कदाचित् ऐसा हो जाय!'

ईश्वरकी ओरसे जीवनमें यज्ञ-तत्त्व प्राप्त है। हमें दूसरोंकी सहायता करनेको हाथ मिले हैं। वाणी दूसरोंको प्रसन्न करनेको मिली है।

एक राजाने भोजनके लिए ब्राह्मणोंको बुलवाया। उनके हाथोंमें लंबी लकड़ियाँ बँधवा दीं और फिर उनके सामने उत्तम भोजन सामग्री परस दी गयी। ब्राह्मणोंमें एक वृद्ध थे। वे बोले—'अपने सामनेवाले व्यक्तिके मुखमें ग्रास डालो!'

संसारमें आप इसी प्रकार दूसरोंकी सेवा करो तो दूसरे आपकी सेवा करेंगे। यह यज्ञ-चक्र परोपकार रूप है।

आप काम करो, पर दूसरेके मुखमें ग्रास डालो-दूसरोंकी सेवा-सहायता करो। ऐसा नहीं करोगे तो दूसरोंको कष्ट दोगे।

हमने कर्मपर विचार किया है कि कोई कर्म ऐसा नहीं, जिसमें कोई न कोई दोष न हो।

सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।

कोई कर्म निर्दोष नहीं है। चलने, बोलने, भोजन करने और जल पीने आदि सबमें हिंसा है। अतः शोक, मोह तथा हिंसा-भयसे ग्रस्त हो अपने कर्मका परित्याग नहीं करना चाहिए।

जो पाप तो करता है—अघायु है और इन्द्रियाराम है—अपनी इन्द्रियोंके लिए भोग लेता है; किन्तु यज्ञ—परोपकार नहीं करता, वह व्यर्थ जीता है। उसे पृथ्वी पर जीवित रहनेका अधिकार नहीं है।

आपको पाप करते भय नहीं लगता, भोग करनेमें भय नहीं लगता और यज्ञ करनेमें आपको भय लगता है?



तब क्या जो कर्म नहीं करते, उन सबका जीवन व्यर्थ जा रहा है?

नहीं! जो पाप और भोगमें लगे हैं, उनके लिए कर्म-करना आवश्यक है; किन्तु जो पाप एवं भोगमें नहीं लगे हैं, निवृत्ति-निरत हैं, उनके लिए कर्म करना अनिवार्य नहीं है।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ 17॥

लेकिन जो मनुष्य आत्मरति है, आत्मतृप्त है, आत्मामें ही सन्तुष्ट है, उसका कोई कर्तव्य नहीं है।

'यस्तु'में 'तु' पहले वर्णित लोगोंसे आत्मतृप्तकी विलक्षणता सूचित करनेके लिए आया है।

एक प्रकारके ऐसे लोग होते हैं, जिनके लिए कर्मकी अवश्य कर्तव्यता नहीं है। वे इससे मुक्त हैं। ऐसे कौन लोग हैं? वे हैं आत्मरति, आत्मतृप्ति और आत्मतुष्टिसे सम्पन्न लोग।

रति, तृप्ति और तुष्टि—ये तीन तृप्तिके रूप हैं। स्त्री-पुरुषका सहवास रति है। यह वंश चलानेके लिए है, इन्द्रिय-तृप्तिके लिए नहीं। अन्नादि भोजनसे तृप्ति होती है। यह जिह्वाकी सन्तुष्टिके लिए नहीं है, यह शरीरके पोषणके लिए है। धनादिके मिलनेसे तुष्टि होती है। यह अहंकार बढ़ानेके लिए नहीं है। यह जीविका चलानेके लिए है।

जो बिना धनके तुष्ट रह सकते हैं, बिना विशेष पदार्थ खाये तृप्त रह सकते हैं, बिना स्त्री-पुरुष संसर्ग बनाये जिनके हृदयमें रति रहती है, उनको आत्मतुष्ट, आत्मतृप्त, आत्मरत कहते हैं। यही जीवनकी पूर्णता है। यहाँ कुछ करणीय नहीं रह जाता।

आजकल आत्मलीन शब्द व्यक्तिनिष्ठके अर्थमें निन्दात्मक माना जाता है। जो अपने व्यक्तित्वमें ही निष्ठावान् है, अन्यका विचार नहीं करता। लोग कहते हैं—'वे अपना कल्याण करने गुफामें जाकर बैठे हैं और घरके लोग भूखों मरते हैं। ये बाबा लोग इतने स्वार्थी, इतने व्यक्तिनिष्ठ होते हैं कि इन्हें दूसरोंके सुख-दुःखकी चिन्ता ही नहीं होती। घरके लोग भले भूखों मरें, गाँवमें आग लगी हो, पर ये तो अपने लिए भजन, ध्यान, समाधि लगाने गये हैं।'

बात सर्वथा निर्मूल नहीं है। एक बहुत प्रसिद्ध आश्रम है। उसमें साधक भजन-ध्यान करते हैं। उस आश्रमके समीप रेल-दुर्घटना हो गयी। एकने आश्रमके सञ्चालक महात्माजीसे पूछा—

'कह दें कि ये साधक घायलोंकी सेवा-सहायता करें।'

महात्माजीसे कहा—'नहीं। इन्हें ध्यान करने दो। विघ्न मत डालो।'

अब लोगोंका मन तो ध्यानमें लगे नहीं। एक दूसरे व्यक्तिने महात्माजीसे कहा—'आप यह क्या करा रहे हैं? वहाँ लोग घायल पड़े चिल्ला रहे हैं। कम-से-कम छुट्टी तो दे दो कि जिनकी रुचि सेवामें हो, वे जाकर सेवा करें।'

तब जाकर महात्माने आज्ञा दी। भला ऐसी भी क्या ध्यान, पूजा और समाधि कि दूसरोंके कष्टका ध्यान ही न हो। वैसे नियम यह है—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥

एक व्यक्तिका त्याग कुलके हितमें हो तो उसका त्याग कर दे। ग्रामके हितके लिए कुलका और राष्ट्रके हितके लिए ग्रामका त्याग कर दे। आत्माके लिए आवश्यक हो तो पूरी पृथ्वीका त्याग कर दे।

एक व्यक्तिसे कुल, कुलसे ग्राम, ग्रामसे राष्ट्र, राष्ट्रसे पृथ्वी बड़ी है, किन्तु जब आत्माके लिए पृथ्वीके त्यागकी बात कही गयी तो आत्मा पृथ्वीसे बड़ा है। हम देहमें किसी रक्ताश्रित चेतनाको आत्मा नहीं कहते। हम आत्मा उसे कहते हैं, जो ब्रह्म है। जहाँ सर्वात्म-बोध है, वह वस्तु, व्यक्ति, कुल, ग्राम, राष्ट्र या पृथ्वीसे छोटी नहीं है। इसमें शरीर तो बहुत पीछे छूट गया।

दृष्टिकोण व्यापक चाहिए। राष्ट्रीय स्वार्थके लिए प्रान्तीय स्वार्थका परित्याग करना चाहिए। नगरके स्वार्थके लिए एक मुहल्लेका स्वार्थ त्यागना

चाहिए। सारी जातिके हितके लिए एक व्यक्तिका हित बलिदान होता हो तो होने देना चाहिए। सम्पूर्ण मानवताके लिए एक वर्गकी उपेक्षा की जानी चाहिए। लेकिन आत्मा इतनी बड़ी वस्तु है कि कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड इसमें न होते हुए भास रहे हैं। देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न, अद्वयतत्त्व जिसकी दृष्टिमें है वह सबसे बड़ा हित है।

हृदयमें आत्मरति होनी चाहिए। निर्जन एकान्तमें पति-पत्नी मिलते हैं, फिर भी दोनों रोते हैं, भाई-बन्धुओंके लिए, माँ-बापके लिए, धन-दौलतके लिए। उनको परस्पर-मिलनमें तृप्ति नहीं है। उनकी तृप्ति परिवार और धनमें है।

हमारा परमसुख तो यह है कि हम ईश्वरसे मिले हैं। हमारे सोते-जागते, खाते-पीते, चलते-बैठते और स्वप्नमें भी ईश्वर हमारे साथ हैं। ईश्वरके प्रेमरसमें जो मग्न हैं, संसारकी दूसरी कोई वस्तु उन्हें स्मरण नहीं आती।

ऐसे अभागे लोग हैं जो भोजन करते जा रहे हैं और रोते जा रहे हैं—'कल क्या खायेंगे!'

आत्मरति—आत्मप्रीतिका स्वभाव है वर्तमानमें तुष्टि। प्रीति कल्पना या स्वप्न नहीं है। प्रीतिका अर्थ है वर्तमानमें रसानुभूति। प्रीतिका लाभ मरनेपर नहीं होता। प्रीतिमें तो झगड़ेमें भी प्रेम और सुख होता है। जैसे नदीमें तरंगे उठती हैं, ऐसे नृत्य करती वृत्ति-नाचता ज्ञान प्रीति है।

आत्मतृप्ति है हृदय-सरोवरमें तृप्तिका उच्छलित रस। 'आत्मतृप्तश्च' जैसे खायी वस्तुकी डकार आती है और मीठा खाया हो तो डकारसे मुख फिर मीठा हो जाता है, वैसे ही भीतर जो प्यार भरा है, उसका स्वाद फिर मुखमें आ गया। यह बाहरसे खाकर भीतर जानेवाला स्वाद नहीं है। भीतर भरेका जीवनमें आनेवाला स्वाद है।

आपको तृप्ति कहाँसे मिलती है—भीतर बैठे प्रियतमसे? तब आत्मतृप्त हो। संसारमें जितना धर्म-कर्म, योग-उपासना-ज्ञान है, सबका फल यह है कि रति आपके भीतरसे निकले। तुष्टि आपको भीतरसे मिले। तृप्ति आपकी अपने भीतर हो।

एक व्यक्ति बाजार जा रहा है, क्यों? इसलिए कि वह वस्तु खरीदनी है।

'क्यों खरीदनी है ?'

'मित्रको उपहार देना है ?'

'मित्रको उपहार क्यों देना है ?'

'मेरे स्वयं जाकर खरीद लाने और देनेसे मित्रको प्रसन्नता होगी।'

'मित्रको क्यों प्रसन्न करना चाहते हो ?'

'इससे मुझे प्रसन्नता होगी।'

इसीका नाम आत्मरति है। प्रसन्नता आपका स्वभाव है। वह अपना विस्तार करना चाहता है। प्रसन्नता घेरेमें आबद्ध नहीं रहना चाहती। यदि प्रसन्नताको देहके घेरेमें आबद्ध करोगे तो वह अस्थिर रहेगी। सच्ची प्रसन्नता तब मिलेगी, जब अनन्तसे एक होओगे।

एक सेठने एकबार मुझे बतलाया था—'छोटा आदमी अपनेको बेच देता है।'

यदि तुम्हारा 'मैं' छोटा होगा तो तुम अपनेको संसारके हाथों बेच दोगे।

यस्त्वात्मरतिरेव स्याद् जो आत्मरति ही है, आत्मतृप्त ही है, आत्मामें ही सन्तुष्ट है, उसके लिए संसारमें कोई कर्तव्य शेष नहीं है।

लोग कर्म क्यों करते हैं ?

1. इसी लोकमें हमारा मंगल हो इसलिए।
2. परलोकमें हमारा मंगल हो इसलिए।
3. अन्य जन्ममें हमारा मंगल हो इसलिए।
4. ऐसा कर्म करो जिसमें बन्धन कटें।

नाटकके समान लीलावत् कर्म हो।

संसारमें कोई वस्तु स्वरूपसे न व्यर्थ है, न सगुण है, न विगुण है। उसका मनुष्य जैसा उपयोग करे, वह वस्तु वैसी होती है। आपके घरमें स्वर्ण है तो उसे दान कर सकते हैं, उससे किसीकी सेवा या रक्षा कर सकते हैं और उसे दूसरेको सतानेके काममें भी ले सकते हैं। घूसा दिखाना चोर—भगानेके लिए अच्छा है, बड़ोंके सम्मुख बुरा है। हाथ जोड़ना बड़ोंके सम्मुख अच्छा है, अन्यायीके सामने बरा है।

मुख्य बात यह है कि आपका भाव अच्छा है या बुरा। वैदिक धर्ममें भावकी भी प्रधानता नहीं है। बहनमें पत्नीका भाव बनाना सर्वथा अनुचित होगा। भाव भी संवैधानिक रीतिसे ही ठीक होता है।

जजने एकको प्राणदण्ड सुनाया। उसे आज फाँसी लगनी थी। एक व्यक्तिने सोचा—'इसे फाँसी लगनेसे कष्ट होगा। मारना ही तो इसे है। मैं इसका सिर काटे देता हूँ।'

उस व्यक्तिका भाव शुद्ध था। वह जजके निर्णयका भी आदर करता था; किन्तु उसे सिर काटनेपर दण्ड मिलेगा। लेकिन यदि जल्लादको दया आ जाय और अपराधीको फाँसी लगाना अस्वीकार कर दे तो जल्लादको भी दण्ड मिलेगा। यह संविधानका रहस्य वेदवादी भली प्रकार समझते हैं कि संसारमें वस्तु, क्रिया, भाव सब निर्गुण हैं। गुण-दोष तो उनमें संविधानकी दृष्टिसे आरोपित हैं। देश-काल-परिस्थितिके अनुसार वे गुण-दोष बदलते रहते हैं।

जब हम कर्तृत्वपूर्वक कर्म करते हैं कि—'हम यह करते हैं, इससे यह हमको मिले तो कर्तृत्वकी भूलसे ही कर्म-बन्धन, पाप-पुण्य हमें होता है। जिस कर्ममें अपेक्षा नहीं और कर्तृत्व नहीं, वह शुद्ध ही होता है। यदि चोर अपनी चोरीका समर्थन करनेको ब्रह्मवादका सहारा ले तो वह झूठा है। एक कुलटा स्त्रीको किसीने डाँटा तो वह बोली—

ब्रह्मैव सर्वमिति वेदविदो वदन्ति
तस्मान्न मे सखि परापरभेदबुद्धिः।
जारे तथा निजपतौ सदृशोऽनुरागः
लोकाः किमर्थमसतीति कदर्थयन्ति॥

सखि! वेदवेत्ता लोग कहते हैं—'सब ब्रह्म ही है।' इसलिए मेरे मनमें अपने-परायेकी भेदबुद्धि नहीं है। अपने स्वपति और परपतिमें मेरा समान प्रेम है। लोग क्यों कुलटा कहकर मेरा अपमान करते हैं।'

भावकी यह दुहाई व्यर्थ है। भावमें यदि नियन्त्रण नहीं है, मर्यादा नहीं है, विधानानुरूपता नहीं है तो भावशुद्धि सचमुच हो तो भी उससे व्यवहारशुद्धि नहीं हो सकती।

जहाँ वस्तु एक है, परमात्मा एक है, चेतन एक है और मन भी तत्त्वतः एक ही है, वहाँ नियन्त्रण केवल संविधान-द्वारा ही शक्य है। वहाँ शास्त्रातिरिक्त गुण-दोषका नियन्ता कोई दूसरा नहीं हो सकता।

आज लोग कहते हैं—'लोगोंके सद्‌भावपर व्यवस्था छोड़ दो।'

प्राचीन ग्रन्थोंमें यह वर्णन भी है—

न दण्ड्यो न च दाण्डिकः।

सृष्टिमें एक अवसर ऐसा था जब कोई दण्डनीय और कोई दण्डदाता नहीं था; किन्तु तब समाज नहीं बना था। समाजको सबके सद्भावपर नहीं छोड़ा जा सकता।

आप ईमानदारीसे देखो कि आप अपनेको कर्ता समझते हो या नहीं? अपनेको कर्ता समझकर तो कर्म कर रहे हो उसका उत्तम फल भोगना चाहते हो और उसमें-से दुःख-अपमान निकले तो अपनेको अकर्ता-अभोक्ता बनाना चाहते हो, यह 'मीठा-मीठा गप्प, कड़वा-कड़वा थू।' नहीं चलेगा।

एक सेठके बगीचेमें गाय घुस आयी। सेठने दौडकर डंडा मार दिया। डंडा मर्मस्थलपर लग गया। गाय मर गयी। गो-हत्या आयी तो सेठने कहा—'मैंने गाय नहीं मारी, डंडेने मारी है। उसे लगो।'

गो-हत्या डंडेके पास गयी तो वह बोला—'मुझे तो हाथने चलाया है।'

हाथकी बारी आयी तो उसने कहा—'मेरे देवता तो इन्द्र हैं। मैं उनकी शक्तिसे चलता हूँ।'

देवराज इन्द्रके पास गो-हत्या गयी तो वे कहने लगे—'मुझे हाथका देवता भगवान् विष्णुने बनाया। मुझमें उन्हींकी शक्ति है।'

गो-हत्या भगवान् विष्णुके पास गयी तो वे उसे लेकर ब्राह्मण बनकर सेठके पास आये और सेठसे बोले—'यह बगीचा आपने लगवाया है? बड़ा सुन्दर बगीचा है।'

सेठ—'आपकी कृपा है। इस दासने यह बड़े परिश्रमसे लगवाया है। चलिये दिखा दूँ आपको।'

अब सेठ ब्राह्मणको दिखाने लगे, बतलाने लगे कि कौन-सा वृक्ष-लता या पुष्प कहाँसे कैसे उन्होंने मँगवाया।' इसी घूमनेमें ब्राह्मणके पूछने पर उन्होंने

बतलाया कि 'कुआँ उन्होंने बनवाया, धर्मशाला उन्होंने बनवाया, अन्न क्षेत्र वे चलाते हैं।' घूमते-घूमते ब्राह्मण मरी गायके पास पहुँचे और चौंकतेसे बोले—'यह गाय कैसे मर गयी।'

सेठ—'यह तो अपने आप मर गयी।'

ब्राह्मण—'वाह सेठजी! बगीचा आपने लगवाया, कुआँ आपने बनवाया, धर्मशाला आपने बनवायी, अन्न-क्षेत्र आप चलाते हैं और गाय अपने आप मर गयी? गाय भी आपने मारी है—समझे? यह गो-हत्या आपको लगेगी ही।'

मर्यादा न निर्गुण ब्रह्ममें है, न सगुण ब्रह्ममें और न प्रकृतिमें। मर्यादा स्थापित होती है संविधान द्वारा। संविधानके विरुद्ध जो आचरण करता है, उसमें प्रबल कर्तृत्व है। संविधान शाश्वत है। लोक और परलोकको दृष्टिमें रखकर शास्त्रीय संविधान बना है। अदृष्ट भय अनजान लोगोंको दुष्कर्मसे रोकता है। भगवान् शङ्कराचार्य कहते हैं—'जो ठीक-ठीक सत्कर्म करेगा, उसका लोक-परलोक दोनों बनेगा। जो बाहरी—लौकिक स्वार्थ न देखकर केवल अन्त:करणकी शुद्धिके लिए कर्म करेगा, वह अन्त:करणशुद्धिके द्वारा नि:श्रेयस प्राप्त करेगा।'

आप शास्त्रानुसारी हैं या वासनानुसारी? यदि वासनानुसारी हैं तो कर्मबन्धनमें पड़ेंगे ही। यदि शास्त्रानुसारी हैं तो कर्म-संकोच, कर्ममें नियन्त्रण रहेगा। अब यह दृष्टि रखो कि अन्त:करण शुद्ध हो रहा है या नहीं?

आप कर्तापन लेकर कर्म करते हैं तो परमार्थ सत्यके, ईश्वरीय सत्यके, प्रकृति-सत्यके, स्वभाव-सत्यके विरोधमें होते हैं। यह ब्रह्मसत्य, ईश्वरीय-सत्य, प्रकृति-सत्य, स्वभाव-सत्यका विरोध ही कर्तृत्व बनकर मनुष्यके कर्म-बन्धनका हेतु बनता है। जहाँ कर्तृत्व है वहाँ अपेक्षा-बुद्धि अवश्य होगी। आप रोटी बनाते हैं तो क्यों बनाते हैं? अपने खानेके लिए या इसलिए कि समष्टिकी आत्मा ईश्वरको भोग लगावेंगे?

यह विश्व-वृक्ष ईश्वरका वास्तविक रूप है। इसकी सेवा कर्तव्य है। इसमें आपके अङ्गोंके अधिदेवता, पितर, सहायक, सेवक, अन्य प्राणी तथा अतिथि हैं। इन सबका भाग जब आप दोगे, तब आपका रोटी बनाना सफल होगा।

हमारा आत्मा पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, आकाश, प्रकृतिसे भी बड़ा है। सर्वात्मा ही हमारा आत्मा है। जब यह स्थिति प्राप्त हो जाती है, तब मनुष्य कहीं सुख-स्वार्थके सम्मुख झुकता नहीं है। यह स्थिति 'आत्मतृप्तश्च' मानवको प्राप्त होती है।

मानवमें दो तत्त्व हैं। मानवकी माता श्रद्धा है और पिता मनन है। मानव वह है जिसके जीवनमें श्रद्धा और विचार दोनों हैं। जब लक्ष्यके प्रति अतिशय आस्थावान् होकर उसके स्वरूप और साधनके सम्बन्धमें विचार करता है, तब मानव-मानव होता है। विचार-हीन तो पशु है, भले ही उसकी आकृति कैसी भी हो।

प्रत्येक मानव ईश्वर-प्राप्तिका अधिकारी है। देखना यह है कि उसने अपनी रति, तृप्ति और तुष्टि कहाँ रखी है? ये उसके स्वाधीन हैं, या पराधीन? एक मनुष्यको स्वाधीन रहनेका अधिकार प्राप्त है; किन्तु स्वाधीन कौन रह सकता है? जो मोह, राग और द्वेषके वशमें न हो।

मोह, राग और द्वेष इन तीनोंमें संसारके सब दोष आ जाते हैं। मोह विकासका अवरोध करके मूढ़ बना देता है। द्वेष जलाता है। राग रंग देता है। जब रति अपनेमें है तो राग नहीं रहेगा, तुष्टि अपनेमें है तो द्वेष नहीं रहेगा और तृप्ति अपनेमें है तो मोह नहीं रहेगा। जब हमारी रति, तृप्ति, तुष्टि स्वाधीन होंगी तो अपेक्षाबुद्धि या कर्तृत्व जीवनमें नहीं रहेगा। जिसमें कर्तृत्व नहीं, उसके लिए कर्तव्य कहाँसे होंगे? लेकिन कर्म उसमें होंगे; क्योंकि कर्म न होना तो शक्य ही नहीं है।

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।



आत्मरति, आत्मतृप्ति, आत्मतुष्टि जिसमें है, उसका कोई कर्त्तव्य भले न रह जाता हो; किन्तु जब उसके द्वारा कर्म होंगे तो उन कर्मोंका पाप-पुण्य उसे होगा या नहीं ?

नाटकमें कोई किसीको गाली दे या लाठी मारे तो उसे पाप-पुण्य होता है ?

इसी बातको अब स्पष्ट करते हैं—

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥ 18॥

उसका कुछ करनेमें कोई प्रयोजन नहीं है और न-न करनेमें ही कोई प्रयोजन है। समस्त प्राणियोंमें भी उसके किसी प्रयोजनकी बात अटकी—बिगड़ती नहीं है।

संसारके किसी प्राणीके पास उसका कोई स्वार्थ नहीं है। श्री सुरेश्वराचार्य नैष्कर्म्य-सिद्धिमें कहते हैं—**सर्वमेवाभिजानाति सर्वमेव निषेधति।**

वह तो सबको अनुज्ञा देता है—चाँदनी मिटती है तो मिटने दो। आग बुझती है तो बुझ जाने दो। सूर्य उगता है तो उगे। समुद्र उमड़ता है तो उमड़े।

उसको कुछ करके अपने लिए कुछ लेना-बनाना तो है नहीं। आपने वस्त्र बनाया या अन्न उत्पन्न किया तो उसे अपनी ओर खींचना है या राष्ट्रको देना है ?

एक विलक्षण महात्मा थे। गाली बहुत देते थे, किन्तु हम उनके पास सत्संग करने जाते थे। उनके दर्शन करने पण्डित मदनमोहन मालवीय, श्रीजवाहरलाल नेहरू, महामहोपाध्याय डाक्टर गोपीनाथ कविराज भी गये

थे। उनके यहाँ सब घासपर या स्वच्छ भूमिपर ही बैठते थे। कोई बैठे बैठे घास नोचता तो उसे चार गाली देकर कहते—'यह घास गाय या बकरी चर जाती तो उसका दूध बनती। वह दूध यदि मनुष्य पीता तो यह घास उसके शरीरमें पहुँचकर मनुष्य बनती। तुमने इसे नोचकर फिर मिट्टी बननेको बाध्य किया।'

'आप घास काटते हो तो क्यों काटते हो? उसे मनुष्य बनानेके लिए या मिट्टीमें मिलानेके लिए? यह बेचारी विकास करते-करते अनेक वर्षोंमें तो मिट्टीसे घास बनी। अब तुम उसे फिर मिट्टी बनाने चले हो?'

वे कहते थे—'विश्वमें दो ही रोजगार हैं। एक मिट्टीसे अन्न या वस्त्र बनाना, जो किसान करते हैं। शेष सब मनुष्य तो अन्नसे मिट्टी बनाते हैं।'

यह मनुष्य-जीवन वस्तुओंके विकासमें सहायक होना चाहिए या विकासका बाधक?

मनुष्य गायसे दूध दुहते हैं, बैल हलमें जोतते हैं। किससे क्या काम लें, यह विचार तो करते हैं; किन्तु व्यक्तिगत स्वार्थको लेकर ही औरोंसे सम्बन्ध बनाते हैं। लेकिन जिसकी स्थिति तत्त्वज्ञानसे शुद्ध हो गयी है, वह व्यक्तिगत सुख, व्यक्तिगत स्वार्थसे मुक्त हो जाता है। उसे कुछ करनेसे अपना कोई लाभ नहीं और कुछ न करनेसे अपनी कोई हानि नहीं। किसीसे उसे कुछ लेना-देना नहीं; किन्तु उसके शरीरसे भी कर्म होते हैं।

कर्तव्यदुःखमार्तण्डज्वालादग्धान्तरात्मना ।
कुतः प्रशमपीयूषधारासारमृते सुखम्॥

अमुक कर्त्तव्य, अमुक कर्त्तव्य रूपी-प्रचण्ड सूर्यकी ज्वालासे जिनका अन्तः-करण जल रहा है उन्हें शान्तिरूपी अमृत-निर्झरके बिना किससे सुख मिल सकता है।

जब मैं 'कल्याण-परिवारमें था तो एक मित्र और थे वहाँ। उनके सम्बन्धमें किसीने सेठ जयदयालजी गोयन्दकासे कहा कि वे 'कल्याण'के कामको कम समय देते हैं। सेठजीने उनसे पूछा—'पंडितजी! आप 'कल्याण'के कामको प्रतिदिन कितना समय देते हैं?'

उस समय वे लोटेमें पानी लेकर शौच जा रहे थे। लोटा उन्होंने रख दिया

और आकर सो गये। तीन-चार घण्टे सोकर उठे तो त्यागपत्र दे दिया। उनका कहना था—'कल्याण कैसे उत्तम बने, यह रात्रिमें नींद टूटे, तब भी हम सोचते हैं। टहलने जाते, शौच-लघुशंकाको जाते, तब भी यही सोचते हैं। हमसे पूछा जाता है कि हम कितने घण्टे 'कल्याण'के कामको समय देते हैं, यह हमारी विद्या-बुद्धि-प्रतिभाका तिरस्कार है।'

वे वहाँसे गये तो अन्यत्र उच्च पदपर नियुक्त हो गये। इसका तात्पर्य यह है कि आप अपने शरीरमें आबद्ध हो—देह एवं दैहिक सम्बन्धार्थ ही काम करते हो या आपका देह एवं दैहिक सम्बन्ध सृष्टिके उपयोगमें आ रहा है?

जब तक सारी कमाई आप अपनी ही ओर खींचते हो, तबतक प्रतिभा छोटी रहती है। जब कमाई विश्वके लिए वितरित करना प्रारम्भ करते हो तो प्रतिभा बड़ी हो जाती है। जहाँ परमात्मा पर दृष्टि रखकर प्रसन्न होना आया, आत्मरति हो गयी।



पहली बात यह कि ऐसे आत्मरत, आत्मतृप्त, आत्मतुष्ट लोग कर्म करते हैं या नहीं ?

दूसरी बात—बड़े-बड़े महापुरुष भी कर्म करते देखे जाते हैं।

शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।

'**शारीरं शरीरनिर्वर्त्यं**' जो कर्म सहजभावसे शरीरसे होते हैं, जैसे मलोत्सर्ग, मूत्रोत्सर्ग, इनमें भी विधि-निषेध है कि कहाँ करना, कहाँ नहीं? क्योंकि इन पर व्यक्तिका नियन्त्रण है। जिन कर्मोंमें विधि-निषेध लगे हैं, वे कर्तृतन्त्र कर्ताके अधीन होते हैं।

जो कर्म कर्त्ताके अधीन हैं, ऐसे तत्त्वज्ञानीके शरीरसे होनेवाले कर्म भी होते ही हैं। इसके अतिरिक्त प्राचीन टीकाकारोंने '**शरीरं कर्म**' का अर्थ '**शरीरनिर्वाहकं कर्म**' भी किया है। शरीरके निर्वाहके लिए जितना कर्म अपेक्षित है, उतना ही तत्त्वज्ञानी द्वारा होता है।

जब तत्त्वज्ञानीकी स्थिति यह है कि बिना कर्म किये वह भी नहीं रह पाता तो व्यवहारमें लगे लोग और साधक बिना कर्म किये कैसे रह सकते हैं? उनके लिए कर्म करनेकी ऐसी रीति चाहिए, जिससे उन्हें कर्म-बन्धन न हो।

प्रत्येक मनुष्यमें एक योग्यता और एक आकांक्षा होती है। एक मनुष्य परमात्मामें स्थित होनेका प्रयत्न करता है, पर हो नहीं पाता। जब ध्यान करने लगता है तो सिरमें तनाव होता है। इसका अर्थ यह है कि वह ऐसी वस्तु पाना चाहता है जो उसकी योग्यतासे बाहर है। उसे दूकानपर बैठा दें, वह स्वाभाविक ढंगसे काम करेगा। उसके अन्तःकरणकी योग्यता—उसका अधिकार दूकानपर बैठनेका है, परमात्माके ध्यानका नहीं है।

जहाँ योग्यता और आकांक्षामें मेल होता है, वहाँ जीवनमें तनाव नहीं उत्पन्न होता। लेकिन योग्यता दूसरी और आकांक्षा दूसरी होनेपर जीवनमें तनाव उत्पन्न होता है।

एक व्यक्तिको आग्रह करके कर्ममें लगाते हैं तो लगा नहीं पाते, किन्तु वेदान्त-चिन्तन, भजन करनेपर उसे शान्ति मिलती है। महात्मा कहते हैं—'पूर्व

जन्मके साधन-अभ्याससे इस जन्ममें योग्यता (अधिकार) आता है।' इसीलिए कहा जाता है कि अपने मनसे साधन नहीं करना चाहिए। जो तुम्हारा पूर्वजन्म समझ सके, जो तुम्हारी उत्तर फल-प्राप्ति भी समझ सकता हो, उससे पूछकर साधन-भजन करना चाहिए। तुमने जितना पहले जन्ममें किया है, उससे आगेमें वह तुम्हें लगा दे, जिससे तुम आगे बढ़ना प्रारम्भ करो। अपने मनसे, प्रशंसा सुनकर कि 'वेदान्त श्रेष्ठ है या भक्ति उत्तम है', साधनमें स्थिति नहीं होती।

एक व्यक्ति परिच्छिन्न 'अहं'में बैठा है। उसे परिच्छिन्न विषय चाहिए। उसे अहंकार छोड़ने—विषयसे वैराग्य करनेकी बात कहोगे तो वह सुन लेगा, 'हाँ' करता रहेगा; किन्तु उसकी वृत्ति वहाँ पहुँचेगी नहीं। घूम-फिर वह वहीं जायगा, जहाँ धन, भोग, प्रशंसा मिले। फिर वह शिकायत करेगा—'आपका बतलाया साधन इतना किया; किन्तु उसमें मेरी स्थिति नहीं हुई।'

साधन स्थिति प्राप्त करनेको नहीं होता, स्थितिकी अपेक्षा निवृत्त करनेको—साधनसे परे हो जानेके लिए होता है। जितने अध्यारोप हैं, सब अपवाद करनेके लिए होते हैं, वह मूल सिद्धान्त है।

एक व्यक्तिको हम कहेंगे—'साधन करो!'

उसीसे बिड़लाजी कहेंगे—'व्यापार करो।'

वह हमारी नहीं मानेगा। बिड़लाजीकी बात मानेगा। ऐसा वह इसलिए करेगा; क्योंकि उसके अन्तःकरणमें पैसेकी रुचि बलवती है।

हम लोगोंके लिए यह बात आश्चर्यकी नहीं होती कि 'एक व्यक्ति लगातार व्यापार करते-करते वेदान्तमें आगया और एक वेदान्त सुनते-सुनते व्यापार करने लगा।'

कर्म तो ज्ञानी, साधक, जिज्ञासु, संसारी सबको करना है। कर्म किये बिना तो कोई रह सकता नहीं। तब कर्म करनेकी कोई ऐसी विधि होनी चाहिए कि कर्म तो करें, पर कर्म-बन्धन न हो। वह विधि क्या है? बतलाते हैं—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥ 19॥

'कार्यं कर्म समाचर'—कार्य और कर्म ये दो तत्त्व हैं। ब्रह्मात्मैक्यबोध-

प्राप्तके जीवनमें कार्य नहीं होता। उसको किसी कर्त्तव्यका बन्धन नहीं है। परन्तु कर्म उससे होता है। वह चलता-बोलता है। अपने हृदयका ज्ञान विस्तीर्ण करता है। कारागारमें बंदी भी रहता है और कारागारका सुपरिण्टेण्डेण्ट भी; किन्तु दोनोंके कारागारमें जानेमें अन्तर है। तत्त्वज्ञानीका कर्म सुपरिण्टेण्डेण्टके समान है और संसारी लोगोंका कर्म बंदीके समान है। तत्त्वज्ञानी मुक्त-भावसे कर्म करता है।

'**तस्मादसक्तः**'—कहीं सटो—चिपको मत। चिड़ीमार गोंद लगी एक तिपाई रखकर उसपर कुछ दाने डाल देते हैं। पक्षी दाने चुगने जाकर गोंदसे चिपक जाते हैं। इस प्रकार किसी भावसे चिपको मत, तो देखोगे कि 'आपके भीतर नारायण काम कर रहे हैं।' किसी भावमें चिपकोगे तो एक घेरेमें आ जाओगे। समस्त अध्यात्म-शास्त्रका उद्देश्य घेरोंको तोड़ना है। घेरे बनाना अध्यात्म-शास्त्रका उद्देश्य नहीं है।

'**त्वं कर्म समाचर**'—तुम भली-भाँति कर्म करो। कर्ममें त्रुटि मत आने दो। तन्मय होकर कर्म करो। तुम्हारे लिए कर्मका निषेध नहीं है; किन्तु 'कार्यं कर्म समाचर' कर्त्तव्य कर्म करो।

उपेक्षा-भाव रखकर कर्म करनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि हो सकती है, परमात्मज्ञान हो सकता है, पर जिस उद्देश्यसे कर्म किया जा रहा है, उस उद्देश्यकी पूर्तिमें बाधा पड़ना सम्भव है। अतः सांसारिक उद्देश्यकी पूर्तिके लिए उपेक्षा-भाव रखकर कर्म नहीं करना चाहिए।

'**कार्यं कर्म समाचर**'—कर्म तो बहुतसे सामने आते रहते हैं। उनमें-से कर्त्तव्य कर्म करो।

सिक्ख गुरुओंमें एकके पुत्र भी थे और शिष्य भी। गुरुने पुत्र तथा शिष्य दोनोंको पृथक्-पृथक् चबूतरे बनानेको कहा। दोनोंने बनाया। देखकर दोनोंको गुरुने कहा—'यह चबूतरा ठीक नहीं बना। इसे तोड़कर दूसरा बनाओ।'

दोनोंने अपने चबूतरे तोड़े और दूसरे बनाये। कई दिन यह क्रम चला। वे बनाते और गुरु उसे तोड़कर फिर बनानेकी आज्ञा दे देते। इस प्रकार कई दिन हो गये तो पुत्र बोला—'आपको मेरा बनाया चबूतरा कभी पसन्द नहीं आयेगा। मुझे कोई दूसरा काम बतलाइये।'

शिष्य चबूतरा बनानेमें लगा रहा। गुरुने उससे पूछा—'तुम क्यों बनानेमें लगे हो?'

शिष्य—'मुझे तो जीवनभर आपकी आज्ञाका ही पालन करना है। आप क्या आज्ञा देते हैं; इससे मुझे क्या करना है? आपने चबूतरा बनानेकी आज्ञा दी है, इसलिए बना रहा हूँ।'

गुरुने उस शिष्यको अपना उत्तराधिकारी बनाया। पुत्रको अपनी गद्दी नहीं दी।

लोगोंके हृदयका रोग यह है कि वे वर्तमान समयमें, वर्तमान काममें, सम्मुखके व्यक्तिसे सन्तुष्ट नहीं होते। सच यह है कि वर्तमान समय ही सर्वश्रेष्ठ समय है। वर्तमान काम ही सर्वोत्तम कार्य है। जो व्यक्ति सम्मुख है, उसके रूपमें साक्षात् परमात्मा सामने हैं। यदि आप इसमें सन्तुष्ट हैं तो भविष्यमें भी सर्वोत्तम कार्य कर सकेंगे।

एक स्त्री बहुत दुःखी थी। कोई संत भगवान्‌के समीप जा रहे थे। उसने उनसे प्रार्थना की 'भगवान्‌से पूछ आइये कि—'मेरा हृदय दुःखसे क्यों जलता रहता है?

महात्मा भगवान्‌के समीप गये। पूछनेपर भगवान्‌ने बतलाया—'वह स्त्री रोटी बना चुकनेपर भी तवेको चूल्हेपर ही छोड़ देती है। तवा व्यर्थ जलता रहता है। उस तवेकी जलन उसके हृदयमें आ गयी है।'

यहाँ तवेकी जलनसे उसके हृदयकी जलनका सम्बन्ध यह है कि उसके जीवनमें असावधानी—प्रमाद आ गया है। उसकी बुद्धि जाग्रत् नहीं है।

किसी महात्माने देखा कि एक स्त्रीके पिछले भागसे पट्टा चिपका है। वह बहुत दुःखी है। दया आगयी। भगवान्‌के समीप जाकर पूछा। भगवान्‌ने कहा—'इसके श्वसुर थे, बड़े घरमें आते थे, तब भी यह उठकर उनका आदर नहीं करती थी। पट्टेपर जमी बैठी रहती थी।'

'**समाचर**'—जो काम करो, ठीक रीतिसे करो।

'**कार्यं कर्म समाचर**'—कर्त्तव्य कर्म करो और कर्म करनेमें सावधानी रखो। कर्मके चुनावमें भी सावधानी रखो।

'**सततं समाचर**'—चौबीस घंटेमें एक घंटे सावधानीपूर्वक कर्त्तव्य-पालनको नहीं कहा जा रहा है। 'सततं' बराबर सावधानी रखो।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।

कर्त्तामें यह सावधानी अपेक्षित है कि कहीं सटे नहीं। सटना राग है और हटना द्वेष है। राग-द्वेष मूलक प्रवृत्ति धर्माधर्मकी जननी होती है।

न्याय और वैशेषिक दर्शन धर्माधर्म-निर्णयमें सहायक है। पदार्थोपपादन-प्रधान वैशेषिक दर्शन है और प्रमाणोपपादन-प्रधान न्याय-दर्शन है।

धर्मकी उत्पत्ति कैसे होती है और धर्मको समझते कैसे हैं?

धर्मकी उत्पत्ति कर्मसे होती है और धर्मको समझनेके लिए अनुशासनयुक्त प्रमाण चाहिए। आप्तोदेश चाहिए।

मनुष्य दुःखी क्यों है? जब शरीर धारण किया है तो कुछ अनुकूल और कुछ प्रतिकूल प्राप्त होगा ही।

अब प्रश्न उठा—देह ही क्यों मिला?

देह मिला—प्रवृत्तिसे। प्रवृत्तिसे धर्माधर्म हुआ और उस धर्माधर्मके अनुसार शरीर मिला। प्रवृत्ति हुई राग-द्वेषसे। जहाँ हमारे कर्मके मूलमें राग-द्वेष मूलक प्रवृत्ति नहीं होती, वहाँ धर्माधर्मरूप कर्मकी अनुवृत्ति नहीं है। राग-द्वेषमूलक प्रवृत्तिमें ही गुण-दोषकी अनुवृत्ति होती है।

सिक्ख गुरुओंने एकके शिष्यका विवाह हो रहा था। कन्यादानमात्र शेष था कि एक व्यक्तिने आकर सन्देश दिया—'तुमको गुरुने बुलाया है।'

शिष्य तत्काल उठे और चल पड़े। गुरुजी दूर थे। मार्गमें एक सरायमें रात्रिको रुकना पड़ा। वहाँ एक वेश्या भी ठहरी थी। उसको देखकर इनका मन विचलित हो गया। यह रात्रिमें उसके कमरेमें जाने लगे तो एक मनुष्यने डंडा लेकर रोक दिया। दो-तीन बार इन्होंने वेश्याके कमरेमें जानेकी चेष्टा की; किन्तु प्रत्येक बार उस डंडेवालेने रोक दिया। सबेरा हो गया। चल पड़े और गुरुजीके पास पहुँचे। प्रणाम करके गुरुजीसे बतलाया—'आपकी आज्ञा मिलते ही मैं विवाह-मण्डपसे तत्काल उठकर चल पड़ा और सीधे आ रहा हूँ।'

गुरुजी हँसकर बोले—'तू आज्ञाकारी बहुत है; किन्तु तेरी इस आज्ञाकारिताका फल है कि मुझे हाथमें डण्डा लेकर रातभर वेश्याके द्वारपर बैठना पड़ा।'

'असक्तो ह्याचरन्कर्म'—अपनी ओरसे सटो मत, हटो मत। राग-द्वेष मत करो। अनासक्तिपूर्वक कर्म करो।

'परमाप्नोति पूरुषः'—यह बात भगवान्‌की ओरसे है अनासक्त होकर कर्त्तव्य कर्मका सतत ठीक-ठीक आचरण मनुष्य करता है तो उसे **'परं सुखमाप्नोति, परं ज्ञानमाप्नोति, परं सदाप्नोति'** परमसुख, परमज्ञान और परमसत्ता प्राप्त होती है। इसमें 'आप्नोति' विलक्षण है—

यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य संततो भावः स आत्मेति निगद्यते॥

'आप्नोति इति आत्मा' सुषुप्तिमें जो यह अपने स्वरूपको प्राप्त करता है, **'अतति इति आत्मा'** स्वप्नमें जो कल्पना-साम्राज्यका विस्तार करता है, **'अत्ति आदत्ते, इति आत्मा'** जाग्रत्-अवस्थामें जो जागरित-गृहीत संस्कारोंको ग्रहण करके उनका उपभोग करता है, वह आत्मा है। यह जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिमें, स्वर्ग-संसार-समाधिसे, कहीं आसक्त नहीं होता।

मनुष्य जब व्यवहारसे थककर सोने लगता है तो जागर्तिसे उसे आसक्ति नहीं रहती। जब सुषुप्ति त्यागकर जागता है तो सुषुप्तिसे आसक्ति नहीं रह जाती। जागर्तिकी आसक्ति त्यागकर सुषुप्तिमें हम जाते हैं और सुषुप्तिकी आसक्ति त्यागकर जागते हैं। ऐसी ही अनासक्ति जीवनमें चाहिए। कामको करते समय भी उसमें अनासक्त रहना चाहिए। जो परम सत् है, वही परम ज्ञान है। जो परम ज्ञान है, वही परम सुख है। सर्वोपरि परमानन्द घनचित्-सत्ताका साक्षात्कार अनासक्त-भावसे कर्म करते-करते होगा।

'परमाप्नोति पूरुषः'—कर्मका अधिकारी पुरुष ही है। धर्माधर्मकी उत्पत्ति केवल मनुष्यमें ही होती है। प्राणी तो सब हैं; किन्तु मक्खी-मच्छर, चींटी-दीमक, खटमल-मेढक, शेर-सर्प आदि पशु, पक्षी और कीड़ोंको पाप नहीं लगता। ये सब भोगयोनिके प्राणी हैं।

मनुष्यमें नित्य नूतन आविष्कार करनेवाली बुद्धि है। पशु-पक्षी कोई आविष्कार नहीं कर सकते। ये शताब्दियों पूर्वसे जैसे रहते आये हैं, वैसे ही रहते है। पुष्पोंसे इत्र निकालना, रसोई बनाना, चित्र एवं मूर्तिकला, चिन्तन-शक्ति आदि सब क्षेत्रोंमें मनुष्य ही आविष्कार कर सकता है।

मनुष्य-शरीरसे आप क्या नहीं पा सकते? आप स्वयं अपने भाग्य निर्माता हैं। प्रकृतिपर आप आधिपत्य प्राप्त कर सकते हैं। परमात्माको प्राप्त कर सकते हैं।

पूर्णात् पूरुषः, पुरि शयनात् पूरुषः, पुरूणि स्यति इति पूरुषः।

पुरुषको पूर्ण होनेसे पुरुष कहते हैं। शरीररूपी पुरीमें सोनेके कारण पुरुष कहते हैं। भेद मिटाकर अभेदकी स्थापना करनेवाला होनेसे पुरुष कहते हैं।

मानुषे तु महाराज धर्माधर्मौ प्रवर्ततः।

ऐतिहासिक लोग आचार-परम्पराको ही धर्म मानते हैं। चार्वाक लौकिक सुखके लिए लौकिक कर्मको ही कर्त्तव्य कहते हैं। इनके मतमें कर्त्तव्य धर्म शब्दका पर्याय है। जैन उस कर्मको धर्म कहते हैं, जिससे पुण्यात्मक परमाणु हमारे शरीरमें उत्पन्न होकर हमारे जीवनका सुधार करें। बौद्ध एक विज्ञानसे दूसरे विज्ञानमें जो वासना संक्रान्त होती है, उसे धर्म कहते हैं। वैशेषिक अभ्युदय-निःश्रेयस जिससे सिद्ध हो उसे धर्म कहते हैं। न्यायके मतमें शुभप्रवृत्ति धर्म है। योग अक्लिष्टवृत्तिका जिससे उदय हो उसे धर्म कहता है। अन्य सम्प्रदाय उसे धर्म कहते हैं जो उन-उन सम्प्रदायोंके महापुरुषोंकी आज्ञासे सिद्ध हो। यह सब धर्म मनुष्य-जीवनमें ही सिद्ध हो सकते हैं। मनुष्य ही संस्कार-वासनाका विचार कर सकता है।

'**असक्तः कर्म समाचर**'— श्रुतिने कहा—'**चरन् वै मधु विन्दति**' चलता रहे, फँसकर रुके नहीं।

कर्मके दो विभाग हैं—एक आचरणरूप और दूसरा अनासक्ति रूप। अनासक्तिमें बुद्धि है और आचरणमें श्रम है। जहाँ बुद्धि और आचरणमें मेल रहेगा, वहाँ मनुष्य सावधान रहेगा। यह कर्मयोग है। जहाँ बुद्धिका आचरणसे मेल नहीं है, वहाँ केवल कर्म रहेगा, योग नहीं। बुद्धिमें उद्देश्य प्रधान होता है।

प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते।

प्रयोजन निश्चत किये बिना मूर्ख भी काममें नहीं लगता।

आप किसलिए काम कर रहे हैं? उद्देश्य श्रेष्ठ है तो फ़ल भी श्रेष्ठ होगा। देहके प्रति मोह, अभिमान, मित्रादिसे राग, शत्रुसे द्वेष होनेपर बुद्धि खो जाती है। बुद्धिको खोकर काम मत करो।



भगवान् अब सदाचार बतलाते हैं। सदाचारके सम्बन्धमें मनुस्मृति है—

येनास्य पितरो याताः येन मातापितामहः।
तेन यायात् सतां मार्गात् तेन गच्छन्न रिष्यति॥

(मनु. 4.178)

सज्जनोंके उसी मार्गसे चलो। उससे जानेवाला कष्ट नहीं पाता।

यन्मनुरवदत्तद् भेषजम्। मनुने जो कहा है वह हमारे भ्रम, प्रमाद, मूर्च्छा—अज्ञानकी औषधि है। अतः साधारण प्रयोजनसे परस्परा-प्राप्त मार्गका त्याग मत करो।

एक व्यक्ति पूछता है—'सन्ध्या क्यों करें?' लेकिन उचित तर्कका मार्ग यह नहीं है। तर्कका उचित मार्ग है—'सन्ध्या क्यों न करें?' आपके पिता-पितामह सन्ध्या करते थे। आपको उसमें क्या हानि दीखती है कि उसे छोड़ना चाहते हो?

लोग कहते हैं—'उस समय ताश-शतरञ्ज खेलनेमें बाधा पड़ती है। यह अलाभकर काम है। इससे पैसा नहीं मिलता।'

आप केवल वही काम करना चाहते हो, जिससे पैसा मिले? जिसमें अपने दोष दूर करनेकी प्रार्थना है, संयम है, उसे आप अलाभकर मानते हो? बिना स्वार्थके भी तो कुछ करना सीखो। तर्क करनेका मार्ग 'क्यों करें?' नहीं है। मार्ग है 'क्यों न करें?' इसे सोचिये। परम्परागत सदाचारपर दृष्टि रखना आवश्यक है।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि॥ 20॥

जनकादिने कर्मके द्वारा ही संसिद्धि प्राप्त की है। लोकसंग्रहको देखते हुए भी तुम्हें कर्म करना चाहिए।

अश्वपति, अम्बरीष, प्रह्लाद, ध्रुव, पृथु, जनक आदिने निकम्मे रहकर सिद्धि नहीं पायी है। न्याय दर्शनका कहना है—'जीवनमें सुप्रवृत्ति आवश्यक है। क्योंकि सुखका कारण देह है। देहका कारण प्रवृत्ति है। प्रवृत्तिमें धर्माधर्म दोनों रहते हैं। इसलिए कर्म करना चाहिए। शरीरको स्वस्थ रखने तथा जीवनमें सुखकी प्राप्तिके लिए जीवनमें धर्माचरण आवश्यक है।'

वैशेषिकदर्शन अभ्युदय निःश्रेयससिद्धिके लिए धर्माचरण आवश्यक मानता है और सांख्यदर्शन विवेकको जागनेके लिए। अन्तःकरणकी शान्त और चञ्चल दोनों अवस्थाओंसे अपनेको विविक्त करना आवश्यक है। योगदर्शनको अक्लिष्ट वृत्ति-जनक कर्म चित्त-वृत्ति-निरोधके लिए अभीष्ट है। पूर्वमीमांसा-दर्शन वैदिक विधिमें अपनेको नियन्त्रित करनेको कहता है। भक्त कहते हैं—'और सब धर्म श्रममात्र हैं। जिनसे भगवत्प्रीति-सम्पादन हो, वही धर्म है।'

धर्मः स्वनुष्ठितं पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः।
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥

(भागवत 1.2.8)

सामान्य वेदान्तके मतमें—**आत्मप्रसादकत्वं धर्मलक्षणम्।**

अन्तःकरण जिस कर्मसे निर्मल हो वह धर्म है।

वाचस्पति मिश्र (भामतीप्रस्थान)के मतसे—

विविदिषाजनकत्वं धर्मलक्षणम्।

जिससे जिज्ञासा उत्पन्न हो वह धर्म है।

विवरण-प्रस्थानकारका मत है—'जिस कर्मके करनेसे ज्ञानका उदय हो, वह धर्म है।'

आप धन चाहते हों, भोग चाहते हों, पद-प्रतिष्ठा चाहते हों अथवा भगवान्को चाहते हों, अपनी चाहके अनुसार कर्म कीजिये, वह मिलेगा। कोई भी संसिद्धि प्राप्त करना हो, कर्म करना होगा। बिना गुरूपसदनके ज्ञान भी नहीं होता। जहाँ मान-परित्यागमें रुचि है, वहाँ ज्ञान होता है। यह कर्मके बिना कैसे होगा? बिना कर्मके न मैल हटता, न दोषापहरण होता, न गुणाधान होता और न दृष्टिकोणमें परिवर्तन ही होता है।

युधिष्ठिरका राज्य बड़ा सम्पन्न था, किन्तु यज्ञ करना हुआ तो राजाके पास धन नहीं था। वैसे राजकीय कोष भरा था; किन्तु वह तो प्रजासे कर लेकर आया था अथवा अपराधियोंपर अर्थदण्ड करनेसे एकत्र हुआ था। यह दोनों प्रकारका धन प्रजाका धन है। यह राजाके निजी काममें नहीं आ सकता। जो धन दुष्टोंको दण्ड देकर मिला है, वह उन्हें सुधारने तथा दुष्टता रोकनेमें लगाना चाहिए और करसे आया धन प्रजाके हितमें व्यय होना चाहिए।

युधिष्ठिरने श्रीकृष्णसे कहा--'ऋषि लोग यज्ञ करनेको कहते हैं, किन्तु हमारे पास तो धन ही नहीं है।'

श्रीकृष्ण—'पृथ्वीमें गड़े धनपर राजाका ही स्वत्व होता है। उसे निकालकर यज्ञ कीजिये।'

यज्ञ वितरणका माध्यम है। कर्म करनेमें कितनी स्वच्छता चाहिए, इसका आदर्श एक कथा बतलाती है। राजा हरिश्चन्द्रके समीप धर्मराज आये और बोले—'राजन्! आप महान् पुण्यात्मा हो। सशरीर स्वर्ग चलो!'

हरिश्चन्द्र—'आप हमें अधर्मका उपदेश क्यों करते हो?'

धर्मराज—'इसमें अधर्म क्या है? आपने धर्म किया है, अतः स्वर्ग चलो।'

हरिश्चन्द्र—'मेरे पास था क्या, जिससे मैं यज्ञ, दान, धर्म करता। वह धन जिससे मैंने यह सब किया, प्रजाकी सम्पत्ति थी। जब मैंने प्रजाकी सम्पत्तिसे यज्ञ किया तो मैं अकेले स्वर्ग जाऊँ, यह कैसे धर्म हो सकता है?'

धर्मराज—'यह जो सबके लिए आपने अपने धर्म-फलका त्याग किया, इससे तो और पुण्य ही हुआ आपको।'

इतनेमें भगवान् विष्णु प्रकट हुए और बोले—'राजन्! आप वैकुण्ठ चलो।'

हरिश्चन्द्र—'प्रभो! मैं अकेले न स्वर्ग जाना चाहता हूँ, न वैकुण्ठ। जिस प्रजाके सहयोगने मुझे इस योग्य बनाया है, उसे मेरे सब पुण्य बाँट दिये जायँ। प्रजाके साथ ही मैं कहीं जाऊँगा।'

भगवान्ने विमानोंकी श्रेणियाँ प्रकट कीं। राजा हरिश्चन्द्र सम्पूर्ण प्रजाके साथ वैकुण्ठ गये। इतनी बड़ी सिद्धि मनुष्यको कर्मसे प्राप्त होती है।

वेदान्ती कहते हैं—कर्म ज्ञानका असाधारण करण नहीं है। प्रमाका असाधारण करण प्रमाण है। अतः प्रमाणसे ज्ञान होता है, कर्मसे नहीं।

भक्तने उत्तर दिया—'यदि हम ज्ञान, मुक्ति या वैकुण्ठको कर्मका फल मानते, तब तो आपकी बात ठीक थी कि कर्मके परिणामसे अथवा कर्म जो प्रकृतिमें विशेष उत्पन्न करेगा, उस विशेषसे ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती; किन्तु हम ऐसा तो मानते ही नहीं हैं। हम मानते हैं कि हम जो कर्म कर रहे हैं, उससे समष्टिका द्रष्टा ईश्वर प्रसन्न होगा। ईश्वर प्रसन्न होकर ज्ञान या मुक्ति देता है।'

आप जो कर्म कर रहे हो, यदि वह अपनी वासनाकी प्रसन्नता—तुष्टिके लिए कर रहे हो तो आप वासना-किंकर हो। आपके हृदय सिंहासनपर वासना देवी बैठी हैं। कर्म ईश्वरकी प्रसन्नताके लिए, अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए या सम्पूर्ण विश्वकी सेवाके लिए करो।

भगवदर्पितानि कर्माणि धर्मः। (अङ्गिरा)

इसका स्पष्टीकरण श्रीमद्भागवतके टीकाकार श्रीधरस्वामीने किया—

न विशिष्टं कर्म धर्म इत्युच्यते अपि तु भगवदर्पितानि सर्वाण्यपि कर्माणि धर्म एव।

किसी विशेष कर्मका नाम धर्म नहीं है। भगवान्‌को अर्पित करके किये जानेवाले सभी कर्म धर्म ही हैं। इसलिए—

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मनावानुसृतस्वभावात्।
करोति यद्-यद् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत् तत्॥

(भाग. 11.2.36)

शरीरसे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, चित्तसे, जानमें—अनजानमें स्वाभाविक रूपसे जो कुछ भी करे, सब परमपुरुष नारायणको समर्पित कर दे। कर्मका नियम यही है। उद्देश्य मुख्य है कि कर्म, किया किसके लिए गया?

लोकसंग्रहमेवापि—'लोग भी ऐसा अच्छा काम करें, इसलिए उत्तम काम करो।'

मनुष्य अपने लिए स्वाभाविक प्रवृत्तिकी छूट चाहता है और दूसरोंके लिए बन्धन चाहता है। वह चाहता है—'हम भले झूठ बोलें, बेईमानी करें, पर दूसरे सच बोलें और हमें धोखा न दें।'

आज लोग अपने लिए धर्मकी आवश्यकता नहीं मानते और दूसरे सबको धर्मात्मा बनाना चाहते हैं। लेकिन जो आपके पीछे चलनेवाले हैं, उन्हें ठीक चलाना आपका ही कर्त्तव्य है। संसारमें एक आदर्शकी स्थापना होनी चाहिए। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके यहाँ प्रथा थी कि किसीसे कुछ माँगा न जाय।

एक बार विरक्त साधुओंमें चर्चा चली—'लोकसंग्रही' शब्दका क्या अर्थ है? एकने कहा—

लोकेभ्यः संगृह्णातीति लोकसंग्रही।

जो लोगोंसे चंदा माँगकर एकत्र करे, वह लोकसंग्रही।

मैं पहले उस सभामें ही नहीं जाता था, जिसमें चंदा होनेवाला हो। लोगोंको अपने पीछे चलानेकी वासनाका नाम लोकसंग्रही नहीं है। पशु-पक्षी, मनुष्य, कीड़े, लता-वृक्ष यह सब लोक है। जो भी दृश्य है, किसी भी योनिमें जिसका जन्म हुआ है, वह लोक है। उसका संग्रह अर्थात् उसकी मर्यादाकी स्थापना। वृक्ष जातियोंके वंश, शेर-सर्प, गाय-घोड़े, पशु-पक्षी—सबकी स्थिति-स्थापना करना। इसमें अस्तव्यस्तता न करना। मनुष्य कर्म नहीं करेगा तो सब लोकोंकी स्थितिमें अव्यवस्था होगी। उसे बचानेके लिए मनुष्यको कर्म करना चाहिए।

लोकसंग्रहमेवापि—इसमें 'अपि' शब्द सूचित करता है कि नया प्रसङ्ग—कर्म करनेके पक्षमें नवीन युक्ति दी जा रही है। लोक-संग्रहपर भी भली-भाँति दृष्टि रखते हुए तुम्हें कर्म करना ही चाहिए।

भगवान् शङ्कराचार्यने भाष्यमें कहा—'लोगोंको कुमार्गगामी होनेसे बचाना आवश्यक है। संसारी लोग नहीं जानते कि उन्हें किस मार्गसे जाना चाहिए?'

बचपनमें मैं किसी बड़े-बूढ़ेके साथ चलता था और दृष्टि जाती थी कि 'वहाँ जाना है' तो खेतके बीचसे दौड़ जाना चाहता था। सोचता था कि बाबा तो मेड़-मेड़ जायेंगे। मैं शीघ्र पहुँचूँगा।

जब दौड़ जाना चाहता तो बाबा (पितामह) मेरा हाथ पकड़ लेते और कहते—'मेड़परसे जाना चाहिए, खेतमें-से नहीं।'

मैं कहता—'मेड़का मार्ग लम्बा है। टेढ़ा मेढ़ा है। खेतका मार्ग छोटा और सीधा है।'

बाबा—'ठीक मार्गसे चलोगे तो काँटे, कंकड़, खूँटियाँ नहीं लगेंगी। खेतमें काँटे-कंकड़ हो सकते हैं और फसलकी हानि होगी उसमें से चलनेपर। अत: मर्यादापूर्वक चलना चाहिए।'

मनुष्य जाति द्वारा स्वीकृत शास्त्रीय मर्यादा छोड़कर इधर उधर चलनेवालोंको भी अपने ठीक मार्गपर लानेके लिए सत्पुरुष ठीक-ठीक आचरण करते हैं।

श्रीशंकराचार्य भगवान् निषेधकी प्रधानतासे लोक-संग्रह शब्दका अर्थ करते हैं कि मनुष्य कुमार्गमें न जाय। अपनी रति, तृप्ति, तुष्टि अन्यमें न डाले। अपने-आपका शोषण न करे और अन्यका भी शोषण न करे। उनका कहना है—'मार्ग तो तुम्हारे भीतरसे स्वत: निकलेगा। हम तो इतना ही चाहते हैं कि तुम कुमार्गपर मत चलो।'

श्रीरामानुजाचार्यजी कहते हैं—'स्वयं भगवान् लोकत्राण-परायण हैं। वे आश्रयण सौकर्यापादक, आश्रित-कार्य निर्वाहक हैं। सगुण भगवान् स्वेतर समस्त वस्तु-विलक्षण, कल्याणैकतान, सच्चित्सुखैकस्वरूप, अखिलहेय-प्रत्यनीक हैं। ऐसे भगवान्की भक्तिमें लगनेवालेको लोक-संग्रहका ध्यान रखना चाहिए। जैसे लोग विनाश-पथपर न चलें, अपने कल्याण-पथपर चलें, धर्माचरण करें, अन्तर्मुख हों, भगवान्की शरण-ग्रहण करें, ऐसा काम करना चाहिए।'

श्रीनीलकण्ठाचार्य कहते हैं—**लोकसंग्रहो नाम स्वधर्मे प्रवर्तनम्।** लोगोंको अपने-अपने धर्ममें प्रवृत्त करना लोक-संग्रह है। इसीसे लोकरक्षा होती है।

अपने हिन्दू-शास्त्र नहीं मानते कि 'सबका बपतिस्मा या खतना होगा तब हमारा पैगम्बर ईश्वरसे सिफारिश करके उनका कल्याण करायेगा।'

हमारे धर्मकी मान्यता है—प्रत्येक इकाईके साथ एक स्वभाव, एक गुण लगा है। कोई सत्त्वगुण-प्रधान, कोई रजोगुण-प्रधान और कोई तमोगुण-

प्रधान होते हैं, इनमें भी रजोन्मुख तमस्, सत्त्वोन्मुख रजस्, ईश्वरोन्मुख सत्त्व आदि भेद होते हैं।

यं पृथग्धर्मचरणाः पृथग्धर्मफलैषिणः।
पृथग्धर्मैः समर्चन्ते तस्मै धर्मात्मने नमः॥

पृथक् -पृथक् स्वभाववाले लोग पृथक्-पृथक् धर्माचरणसे जिसकी उपासना करते हैं, उस धर्मस्वरूपको नमस्कार है।

धर्म और ईश्वर एक हैं और उनकी आराधनाके प्रकार पृथक्-पृथक् हैं।

एक ही शरीरमें भी इन्द्रियाँ अपने-अपने ढंगसे भगवान्की आराधना करती हैं। वाणी जप करती है। हाथ पूजा करते हैं। पैर तीर्थयात्रा करते हैं। नेत्र मन्दिरोंमें दर्शन करते हैं। कान कथा सुनते हैं। मन ध्यान करता है। बुद्धि चिन्तन करती है।

प्रवृत्तिरोधको धर्मो निवृत्तिपोषकोऽपरः।

वर्णाश्रमधर्म प्रवृत्ति-रोधक एवं निवृत्ति-पोषक है। सब अपने-अपने कर्ममें निपुणता प्राप्त करें। उसके द्वारा ईश्वरकी आराधना करें और उससे वाञ्छित फल प्राप्त करें। एक दूसरेके धर्ममें बाधक न हों, वर्णसंकरकी भाँति कर्मसंकर न हो।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

इसके लिए महापुरुष सबको अपने--अपने धर्ममें प्रवृत्त करें।

आजकल तो पहले लुहार, चर्मकार, कृषक, बुनकर आदि सबका काम छीनकर अपने हाथमें ले लेंगे और फिर कहेंगे—'सबका उत्थान हो।'

'लोकसंग्रह'का अर्थ कोई आचार्य लोकसंघटन करते हैं। संसारमें वैमत्य न हो। एक उद्देश्यसे अनेक साधन करने पड़ते हैं। काम सबके पृथक्-पृथक् होते हैं। कोई कपड़ा बुनता है, कोई डिजाइन बनाता है, कोई रँगता है, कोई सीता है। यदि एक उद्देश्यसे अनेक व्यक्ति अनेक कर्म करना पसन्द नहीं करेंगे तो काम होगा ही नहीं। इसीलिए वेद भगवान् आज्ञा देते हैं—

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जायताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥

सब एक साथ चलो, एक स्वरमें बोलो, एक संकल्प करो, एक सदृश ज्ञान प्राप्त करो।

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि, सम्यक् चाग्निं सपर्यत।

जलमें सबको समान भाग मिले। सबको भोजन समान मिले। सबको समान रूपसे श्रम करना चाहिए, किसीको निकम्मा नहीं रहना चाहिए। अग्निस्वरूप परमात्माकी सब लोग सम्यक् आराधना करो। यह लोक-संग्रह है।

लोकसंग्रहका अर्थ है—सबको सुख पहुँचाओ। यह बात 'यज्ञ' शब्दसे कही जा चुकी है, अतः यहाँ लोकसंग्रहका अर्थ है मनुष्यजातिको सम्बद्ध रखो। मनुष्यजाति बिखर न जाय, सत्पुरुषके पीछे चले।

मनुष्यकी प्रवृत्ति अनुकरण करनेकी है। लोग बच्चोंको मेरे पास लाते हैं। जब बच्चेको प्रणाम करनेको कहते हैं तो वह रोने लगता है। माता-पिता प्रणाम करते हैं तो दो-चार बार देखता है और फिर स्वयं प्रणाम करने लगता है। बड़े लोगोंमें भी अधिकांश बुद्धिकी दृष्टिसे बच्चे ही होते हैं। वे कहनेसे नहीं मानते। देखकर अनुकरण करते हैं।

वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।

सम्पूर्ण वेद ही धर्मका मूल प्रमाण है। इसमें हमें आत्मरुचि तथा संतोंके आचारका तिरस्कार नहीं करना चाहिए। मनुने '**दशकं धर्मलक्षणम्**' कहा है; किन्तु धृति आदि दस तो सामान्य धर्म हैं। मनुका कहना है—

श्रुति स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥ (2.12)

श्रुति, स्मृति, सदाचार-परम्परा और अपने अन्तरात्माको जो प्रिय-उचित लगे, यह चार धर्मका साक्षात् लक्षण कहा गया है।

श्रुति प्रमाणान्तरसे अनधिगत और प्रमाणान्तरसे अबाधित अननुभूतका भी वर्णन कर सकती है। श्रुतिसे अविरुद्ध स्मृति, श्रुति-स्मृतिसे अविरुद्ध सदाचार-परम्परा और श्रुति-स्मृति-सदाचारसे अविरुद्ध आत्मतुष्टि धर्म-निर्णयमें प्रमाण है।

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात् परितोषोऽन्तरात्मनः।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत्॥

(मनु. 4.161)

जिस कर्मके करनेसे आत्मग्लानि होती हो, उसे नहीं करना चाहिए। जिसे करनेसे आत्मतृष्टि होती हो, उसे करना चाहिए; किन्तु वह सदाचारसे अविरुद्ध हो। यदि किसीके सम्बन्धमें ग्रन्थोंमें धर्म-निर्णय न मिले तो क्या करना चाहिए?

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद् भवेत्।
यं शिष्टाः ब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्मः स्यादशङ्कितः॥

(मनु. 12.108)

शिष्ट-संयमी विद्वान् ब्राह्मण जिसे धर्म कहें, निश्चय वही धर्म है।

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्याद्, ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः; युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामा स्युः, यथा ते तत्र बर्तेरन्, तथा तत्र वर्तेथाः।

(तैत्तिरीय. 1.11.3-4)

आचारके सम्बन्धमें विवाद हो या कर्मके सम्बन्धमें, उस विषयमें जो वेदज्ञ, विचारशील, संयमी, निर्लोभी, हितैषी, धर्मात्मा ब्राह्मण जैसा व्यवहार करते हों, तुम भी वैसा ही व्यवहार करो।

अपनी वासना-दूषित, पक्षपातिनीबुद्धि द्वारा मनुष्य भ्रान्त पद उठाता है और कहता है—'ऐसा तो होगा ही।'

एक चींटी दीवारपर चढ़ रही थी। एक सज्जन बोले—'यह एक सेकेण्डमें इतना चल रही है, एक मिनटमें इतना चलेगी। इतनी देरमें छतपर पहुँच ही जायगी।'

ऐसा गणित ठीक नहीं हुआ करता। चींटी कहीं रुक सकती है। मार्ग परिवर्तित कर सकती है। नीचेको घूम सकती है। गिर सकती है। अतः अपनी बुद्धिका हठ नहीं करना चाहिए।



लोक-संग्रहको देखते हुए कर्म क्यों करना चाहिए?

यद्यद् शीर्षण्याचरितं तत्तदनुवर्तते लोकः।

इसलिए कि मूर्धन्य पुरुष जैसा-जैसा करते हैं दूसरे लोग उसीका अनुकरण करते हैं।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ 21॥

श्रेष्ठ पुरुष जैसा-जैसा आचरण करते हैं, दूसरे लोग भी वैसा ही करते हैं। वह जिसे प्रमाणित कर देते हैं, लोग उसीके अनुसार आचरण करते हैं।

यद्यदाचरति श्रेष्ठः—'श्रेष्ठ कौन? जिसमें वस्तुका ठीक-ठीक ज्ञान भी है और आचरण भी, वही श्रेष्ठ है।'

जो लोग कहते हैं कि 'हमारे शास्त्रोंमें व्यक्तिगत सुख-स्वार्थकी जितनी पुष्टि है, उतनी सार्वजनिक दृष्टि नहीं है' उन्हें इस प्रसंगपर ध्यान देना चाहिए।

मान लिया कि आपको तत्त्वज्ञान हो गया और आपका कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहा। आप व्यक्तिगत सुख-स्वार्थसे ऊपर उठ गये; किन्तु संसारमें केवल आप ही तो नहीं रहते। लोकसंग्रहको देखकर भी अकेले नहीं चलना चाहिए। सबको साथ लेकर चलना चाहिए।

ऐसी दशामें हमारे कर्म ऐसे होने चाहिए, जो किसीके विरोधी न हों। सबके सहायक हों। हमारे ज्ञानका ऐसा उपयोग हो जो हमारे एवं सम्बन्धियोंके लिए ही लाभकर न हो, सबके सुख-स्वार्थके लिए हो। सार्वजनिक हितको दृष्टिमें रखकर कर्म करना चाहिए।

काशीमें पण्डित मदनमोहन शास्त्री बड़े अच्छे विद्वान्, उपदेशक, सनातनधर्ममें निष्ठावान् थे। वे अपने घर प्रतिदिन आधे घण्टे तक सन्ध्या-जप करते थे। उनका पुत्र भी ऐसा ही करता था। एक कचहरीका कोई काम आगया। शास्त्रीजी पन्द्रह मिनटमें सन्ध्या समाप्त करके उठ गये। दूसरे दिन उनका पुत्र पन्द्रह मिनटमें सन्ध्या पूरी करके उठ गया। शास्त्रीजी आधे घण्टे सन्ध्या करके उठे और पुत्रसे पूछा—'तुम आज शीघ्र क्यों उठ गये?'

पुत्र—'पिताजी! पाठशालाका काम अधिक था, इससे मैं सन्ध्यासे शीघ्र उठ गया।'

शास्त्रीजी—'काम चाहे जितना हो, सन्ध्या-जपमें आधे घण्टे प्रतिदिन देना ही चाहिए।'

पुत्र—'कल कचहरीका काम आगया था तो आप भी तो पन्द्रह मिनटमें उठ गये थे।'

पुत्रको सिखलाना नहीं पड़ा कि आवश्यक काम आ जाय तो सन्ध्या पन्द्रह मिनटमें पूरी कर लेनी चाहिए। छोटे अपने बड़ोंका अनुकरण करते हैं, यह बात कभी भूलनी नहीं चाहिए।

मैं संन्यास लेकर काशी गया। श्रीमदनमोहन शास्त्री स्टेशनपर मिलने आये। वे मेरे पितासे भी बड़ी आयुके थे। विद्वान् थे। उनको लगा कि मुझे कुछ उपदेश करना चाहिए; किन्तु वे गृहस्थ थे। संन्यासीको उपदेश करें, यह मर्यादाके अनुकूल नहीं था। अतः बोले—'आप तो नारायणस्वरूप हो, आशीर्वाद दो कि मेरी वृत्ति मेरे ज्ञानके अनुसार बने।'

यह बोलनेकी चातुरी थी। उन्होंने मुझे ज्ञानके अनुसार वृत्ति रखनेका उपदेश भी कर दिया और मर्यादा भी भङ्ग नहीं हुई! यह चातुरी वृद्धोपासनाके बिना नहीं आती। श्रेष्ठ पुरुषको सभी ओरसे सावधान रहकर ऐसा काम करना चाहिए कि दूसरे उसका अनुकरण करें।

कर्त्तव्य क्या है? यह निर्णय करनेके लिए महापुरुष दो पद्धति अपनाते हैं—1. मीमांसा-पद्धति, 2. इतिहास-पद्धति।

मीमांसा-पद्धति—जैसे वर्तमान समयमें पत्र-पत्रिकाएँ निकलती हैं। उनमें अनेक प्रकारकी बातें छपती हैं। उनमें-से किस अधिकारीको, कब, किस परिस्थितिमें, किस फलके लिए, क्या बात ठीक होगी, यह समझ बातोंकी सङ्गति लगानेसे आयेगी।

'चोरी मत करो' यह बात कही गयी है। मनुष्यमें लोभकी वृत्ति है, अतः वह चोरी-बेईमानी करता है, अतः ऐसे लोगोंके लिए 'चोरी मत करो' कहना उचित है। सब बात जैसे सबके लिए नहीं कही जाती, वैसे ही सब सदाके लिए भी या सम्पूर्ण भूगोल-खगोलके लिए, सब स्थितियोंके लिए भी नहीं कही

जाती। देश भेद, काल-भेद, स्थिति भेद, वस्तु-भेद और अधिकारीके भेदसे वचनमें भेद हो जाता है।

अधिकारिभेदेन व्यवस्थाः।

शक्ति, रुचि, अवस्था, साधनादि सबको देखकर सब बातोंकी संगति लगायी जाती है। उपनिषदोंमें ही शैव, शाक्त, वैष्णवादिके लिए पृथक्-पृथक् साधन हैं।

ऐतिहासिक पद्धति—पहले किसने इस स्थितिमें क्या किया है? यह देखकर अब क्या करना चाहिए, इसका निर्णय करते हैं। इसमें भी कोई बात पहलेकी होनेसे प्रामाणिक है और पीछेकी होनेसे अप्रामाणिक है, ऐसी व्यवस्था नहीं मानते। कालिदासने कहा—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि सर्वं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥

पुरानी होनेसे ही सब बातें उत्तम नहीं हैं और न नवीन होनेके कारण ही सब बातें सदोष हैं। सत्पुरुष परीक्षा विचार करके उनमें श्रेष्ठको स्वीकार करते हैं और मूर्खकी बुद्धि तो दूसरोंके विश्वासके अनुसार चलायी जाती है।

ऐतिहासिक दृष्टिसे अनुशीलन करनेपर संस्कृतियोंपर ज्ञान होता है—

आचारः प्रथमो धर्मः (मनु० 1.108)—**इति ऐतिहासिकाः।**

आचारमें धर्मनिष्ठा ऐतिह्य पद्धति है।

'**यद्यदाचरति श्रेष्ठः**'—श्रेष्ठ पुरुष कौन? मनुने कहा—

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः। (मनु० 2.156)

इसमें कोई वृद्ध श्रेष्ठ नहीं हो जाता कि उसके सिरके केश श्वेत हो गये हैं।

योऽनूचानः स नो महान्। (मनु० 2.154)

हमारे लिए श्रेष्ठ वह है जो वेदशास्त्रोंका ज्ञाता एवं प्रवक्ता है। ऐसे धर्मज्ञका आचरण प्रमाण होता है। धर्मके सम्बन्धमें कहा है—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेष-रागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत॥

(मनु० 2.1)

जो विद्वान् हैं, सज्जन हैं, नित्य द्वेषहीन और रागहीन हैं, उनके हृदयने जिस आचरणको धर्म माना है, वह धर्म है। उस धर्मका श्रवण करो।

कई लोग धर्मको जानते-समझते हैं; किन्तु उसका आचरण नहीं करते हैं, वे भले विद्वान् हों; किन्तु ऐसे लोगोंका आचरण धर्म नहीं होता। कुछ लोग सत्पुरुष तो होते हैं; किन्तु शास्त्रीय निर्णय नहीं जानते, अतः उनसे भूल होना सम्भव है।

जो सदाचारके—धर्मके नित्य सेवक हैं, सदा उसका पालन करते हैं; इनमें सत्पुरुष कौन हैं? वे, जिनका किसीसे भी राग नहीं, द्वेष नहीं। ऐसे विद्वान् भी कभी-कभी दिखावेके लिए, दूसरेका मन रखनेके लिए कुछ आचरण करते हैं। अथवा किसी विवशतासे किसी बातके लिए अनुज्ञा देते—अनुमोदन कर देते हैं। जैसे कोई मनुष्य जुआ खेलनेके लिए बहुत व्याकुल है। किसी बड़ेके पास जाकर बोला—'क्या करे, मन मानता नहीं है।'

बड़ेने सोचा—'यदि अनुमति नहीं देंगे तो मेरे सम्पूर्ण अनुशासनको तोड़ देगा।' अतः उसके जीवनमें अनुशासन बनाये रखनेके लिए बोले—'तुम दीपावलीको जुआ खेल लिया करो।'

यह अनुज्ञा सत्पुरुषके हृदयकी पसन्द नहीं है। यह धर्म नहीं है। मनुष्य अमुक कर्म किये बिना रह नहीं सकता है, अतः उसे एक छोटी सीमातक छूट दे दो। जैसे युद्धमें हिंसाकी छूट है। सत्पुरुष चाहते तो हैं—

अक्षैर्मा दीव्यत।

मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि।

जुआ मत खेलो। समस्त प्राणियोंमें किसीको मत मारो। दीपावलीमें जुआ खेलने या युद्धमें हिंसाकी छूट तो जुआ खेलने तथा हिंसा करनेकी प्रवृत्तियोंको नियन्त्रित करनेके लिए ही उन्होंने दी है। अतः धर्म वह है जो विद्वान् कहे; किन्तु वह विद्वान् सदाचारी हो, स्वयं उस धर्मका पालन करता हो, राग-द्वेषरहित हो और वह सचमुच हृदयसे वैसा चाहता हो।

'स यत्प्रमाणं कुरुते'—'ज्ञानी, आचार्य, महात्मा या जिनकी लोगोंमें प्रशंसा हो, जैसा करते हैं, दूसरे भी वैसा करने लगते हैं। यदि प्रसिद्ध व्यापारी व्यापारमें बेईमानी करता है तो दूसरे व्यापारी भी यही करेंगे।'

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुरकी एक कहानी 'सुमति' नामकी है। उसका सारांश यह है कि एक घरमें दो बच्चे थे। जबतक माता पिता जीवित रहे, बड़ा लड़का बहुत दुष्ट सिद्ध हुआ। माता-पिता मर गये। छोटे भाईके पालन-पोषणका दायित्व बड़े पर आगया। तब उसने अपनेको सुधारा, जिससे छोटा भाई कुपंथमें न जाय।

यह राष्ट्र और समाजके हितकी बात है कि बड़े लोगोंको केवल अपनेको ध्यानमें रखकर काम नहीं करना चाहिए। उन्हें अपने यश:कायका ध्यान रखना चाहिए। जहाँ तक उनका यश है, वहाँ तक उनके कामका प्रभाव पड़ता है।

एक घरमें एक सज्जन बोले—'अब हम ज्ञानी हो गये।'

लोगोंने कहा—'इससे बड़े सौभाग्यकी बात क्या होगी।'

वे—'अब हम माला तोड़ फेंकेंगे। ठाकुरजीको मन्दिरमें पधरा देंगे। हमारे लिए सत्य-असत्यका कोई बन्धन नहीं रहा। जैसे पैसा आवे सो करेंगे। परलोकके लिए कोई कर्त्तव्य नहीं रहा। न नरकका भय है और न वैकुण्ठ जाना है।'

अब इन ज्ञानीजीसे पूछो—'आपको तो ज्ञान हो गया; किन्तु आपके घरके सब लोगोंको ज्ञान हो गया क्या? उनसे माला फेंकवा कर, पूजा छुड़वाकर आप उनका कौन-सा भला करोगे?'

ज्ञानी पुरुषकी स्थिति यह है कि जैसे घरमें बड़ा-बूढ़ा है, समाजमें नेता, व्यापारी है, उसके अनुसार उसे यह ध्यानमें रखकर काम करना है कि दूसरे भी हमारी देखादेखी ऐसा ही करेंगे।

अपनेको बिगाड़नेका अधिकार मनुष्यको थोड़ा है; किन्तु संसारको बिगाड़नेका अधिकार किसीको नहीं है। अत: अपने व्यक्तित्वको संकुचित करके नहीं देखना चाहिए। प्रत्येकके पीछे चलनेवाले कुछ लोग होते हैं। उनके भी मंगलका भाव मनमें होना चाहिए।

श्रेष्ठ पुरुष अपने आचरण-अपनी स्वीकृतिसे जिसपर हस्ताक्षर कर देता है, लोकमें वह ठीक माना जाता है। वह अपने आचरण-द्वारा प्रमाणित करता है और लोग उसके पीछे चलते हैं।



अपना कोई प्रयोजन न हो और मनुष्य कर्ममें प्रवृत्त हो, ऐसा क्या सचमुच होता है? होता है तो इसका कोई उदाहरण दो।

जब परमात्म-प्राप्ति हो जाती है तो मनुष्यको संसारसे कोई व्यक्तिगत प्रयोजन—व्यक्तिगत लाभ उठाना नहीं रहता। संत-महिला रवियासे किसीने पूछा—'तुम स्वर्ग पानेको भजन करती हो?'

रविया—'यदि मैं स्वर्ग पानेको भजन करती होऊँ तो ईश्वर मुझे स्वर्ग कभी न दे।'

'तब तुम नरकसे बचनेको भजन करती हो?'

रविया—'यदि मैं नरकसे बचनेको भजन करती होऊँ तो ईश्वर मुझे सदाके लिए नरकमें डाल दे।'

सच्चे प्रेम और सच्चे ज्ञानमें अपना कोई स्वार्थ नहीं रहता। मनुष्यका व्यक्तित्व ही अर्थको अपनी ओर खींचता है। जो परमात्मासे एक हो जाता है, उसकी मुट्ठी ढीली हो जाती है। उसको मुट्ठी बाँधकर किसीको पकड़ने या हृदयमें किसीको बसानेकी आवश्यकता नहीं रह जाती।

संसारी लोग अपनी धारणाओं—अपने पूर्वाग्रहमें सब कुछ करनेको—मरनेतकको उद्यत हो जाते हैं; किन्तु जिसे परमात्मदर्शन हो जाता है, उसे परमात्माकी महत्तामें कोई वस्तु बड़ी दीखती ही नहीं। ऐसा व्यक्ति संसारकी प्रवृत्तिमें क्यों लगे? लगता है तो इसका उदाहरण?

इसके उत्तरमें भगवान् अपना ही उदाहरण देते हैं।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥ 22॥

पार्थ! तीनों लोकोंमें मेरा कोई भी कर्त्तव्य नहीं है। मुझे कुछ भी अप्राप्त नहीं, है। फिर भी मैं कर्म-प्राप्तव्यमें लगा ही रहता हूँ।

पार्थ ! अर्थात् मेरे प्यारे भाई ! कुन्तीका पृथा नाम तबका है, जब वे मथुरामें अपने पिता शूरसेनजीके घर थीं। शूरसेनजी वसुदेवजीके पिता हैं। जब पृथाको शूरसेन-ज़ीने अपने मित्र राजा कुन्तिभोजको दत्तक दे दिया तो वहाँ उनका नाम कुन्ती रखा गया। अत: पार्थ कहकर श्रीकृष्ण अर्जुनको अपनी बुआका पुत्र सूचित करते हैं।

पार्थ ! तुम अपार्थ नहीं हो। तुम्हारा जीवन व्यर्थ नहीं है।

पः परमेश्वरः अर्थो यस्य स पार्थः।

एक मात्र परमेश्वर ही जिसका अभीष्ट अर्थ है, वह पार्थ है।

तुम मेरे अर्थ—मेरे अभीष्ट हो। मैं तुमसे सच कहता हूँ—तीनों लोकोंमें मेरा कुछ कर्त्तव्य नहीं है।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।

कर्त्तव्य तो तब होता है जब कुछ पाना, कुछ बनाना या कुछ मिटाना हो। जहाँ कर्त्तापनकी भ्रान्ति ही नहीं, वहाँ कर्त्तव्य कहाँ? न मेरे लिए सोना आवश्यक, न जागना और न समाधि।

नानवाप्तमवाप्तव्यम्—'स्वर्ग-नरक-पातालमें, भूत-भविष्य-वर्तमानमें कहीं कुछ भी नहीं, जो मुझे अप्राप्त हो। कुछ भी प्राप्तव्य नहीं।'

वर्त एव च कर्मणि—फिर भी मैं कर्म करता हूँ।



अब यहीं एक बार पिछले सम्पूर्ण प्रसङ्गका सिंहावलोकन कर लें। बुद्धियोगके चार विभाग हैं—1. कर्म ठीक हों। 2. भाव ठीक रहे। 3. संयम पूरा रहे। 4. अनुभव शुद्ध हो। जिसके जीवनमें ये चारों ठीक-ठीक हैं, वह बुद्धियोगी है। कर्म ठीक होते हैं धर्माचरणसे। भाव ठीक होता है उपासनासे। संयम सधता है अष्टाङ्गयोगसे और अनुभव शुद्ध होता है तत्त्वज्ञानसे। ये चारों जिसके जीवनमें ठीक हैं वह स्थितप्रज्ञ है। वह जीवनको चरितार्थ करता है। इतना दूसरे अध्यायमें भगवान्ने कहा। तीसरा अध्याय बुद्धियोगके अन्तर्गत ही कर्मयोग है।

मुझे इस अनुसन्धानमें दस वर्ष लगे कि संन्यासमें क्या विशेषता है। उपनिषदोंमें एक कथा है। राजा प्रतर्दन इन्द्रके पास गये। प्रसन्न होकर इन्द्रने वरदान माँगनेको कहा। प्रतर्दन बोले—'आपकी दृष्टिमें जो सर्वोत्तम हो, वह दें।'

इन्द्र—'मेरी दृष्टिमें तो ज्ञान सर्वोत्तम है।'

प्रतर्दन—'इसको कैसे समझा जाय?'

इन्द्र—'ज्ञानकी सर्वोत्तम बात यह है कि उससे कर्म करनेपर भी कर्मका लेप नहीं होता।'

इसमें इन्द्रने अपने जीवनका उदाहरण दिया—

षष्टिसहस्रमरुन्तुदान्यतीन् शालावृकेभ्यो प्रायच्छम्, तेन लोमापि मे नामीयत।

'साठ हजार लोकोत्पीडक यतियोंको मैंने कुत्तोंसे नुचवा दिया। इससे मेरा एक रोम भी नहीं टूटा।'

बात यह है कि अनधिकारी किसी आश्रममें रहता है तो उस आश्रमसे उसे सफलता नहीं मिलती। गेरुआ पहन लेने और चोटी, जनेऊ, सन्ध्या छोड़ देने मात्रसे कोई संन्यासी नहीं हो जाता। जो गृहस्थाश्रममें चोरी-बेईमानीसे ग्लानि नहीं करता, वह संन्यासी होनेपर चोरी-बेईमानीसे ग्लानि करेगा, इसकी

सम्भावना बहुत कम है। ऐसे लोगोंकी चर्चा यहाँ नहीं है। यहाँ चर्चा है जनक, विदुर जैसे स्थितप्रज्ञ महात्माओंकी।

जो महात्मा संसार त्यागकर हिमालयमें रहते हैं, वे भी अपनी कुटियाके समीप झाड़ू लगाते हैं। आये-गयेको उपदेश देते हैं। टहलते-घूमते हैं। कुछ-न- कुछ काम किये बिना कोई रह नहीं सकता।

इसलिए मनुष्यको ठीक-ठीक काम करना चाहिए। आपके घरमें झाड़ू लगाने, बर्तन मलनेको सेवककी—शूद्रकी आवश्यकता है। बाजारसे सामान लाने, भण्डार सम्हालनेको वैश्य चाहिए। पहरा देनेको क्षत्रिय और आपको व्रत, नियम बतलानेको, ज्ञान देनेको ब्राह्मणकी आवश्यकता है या नहीं?

आप जो कमाई करते हैं, वह केवल बैंकमें रखनेको नहीं है। वह घरके लोगोंकी सहायता—सहयोगसे होती है, अतः उनमें वितरित होना चाहिए।

यदि आप चौकीदारको—'सोनेवाला' नौकरको—'आलसी' मुनीमको—'सुस्त', 'बेईमान' कहते रहेंगे, अपने उपदेशको तिरस्कृत करते रहेंगे तो आपका जीवन सुखी नहीं रह सकता। जैसे आप अपने शरीरमें हाथ-पैर, पेट-सिर सब ठीक रखना चाहते हैं, वैसे ही घरके भी सब लोगोंको ठीक रखेंगे; उनका पालन-पोषण करते चलेंगे, तब घर ठीक रहेगा। इन सबको दिये बिना उपभोग करना चोरी है।

आप चौकीदारके भरोसे घर छोड़कर चले जाते हैं। उसे ठीक पोषण नहीं देंगे तो वह चोरी पर उतर आयेगा, उस दशामें वह चोर नहीं है, आप चोर हैं। भोजन बनानेवालेको आप ठीक नहीं खिलाते, स्वयं भोजन कर लेते हैं और वह चोरी करता है तो चोर वह नहीं है, आप हैं। इसी प्रकार हम सम्पूर्ण समाजसे, सब प्राणियोंसे, सारी प्रकृतिसे सहयोग पाते हैं। इन सबकी उचित सेवा-सत्कार हमें करना चाहिए।

अब कहो कि 'हमें तो ज्ञान हो गया। हम भी यही सब करें तो संसारीसे हममें क्या विशेषता रहेगी?' तो तत्त्वज्ञानीके कार्यमें संसारीकी अपेक्षा चार विशेषताएँ होती हैं। वह अज्ञान-रहित, कामना-रहित, विक्षेप-रहित और अहङ्कार-रहित होकर काम करता है। संसारीको कर्मसे विक्षेप होता है, ज्ञानीको नहीं। विक्षेप न होनेसे उसे समाधि लगानेकी आवश्यकता

नहीं है। ज्ञानीको कुछ पाना नहीं है, अतः उसमें वासना नहीं होती। वासना न होनेसे उसे धर्मानुष्ठानकी कोई आवश्यकता नहीं है। अहङ्कार न होनेसे भक्तिकी और अज्ञान न होनेसे श्रवण-मनन-निदिध्यासनकी भी उसे आवश्यकता नहीं है।

इतना होनेपर भी ज्ञानी कर्म करते हैं। याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी, गार्गी, विदुर, जनकादिने कर्मयोगके द्वारा संसिद्धि पायी है। भगवान् कहते हैं—'दूसरोंकी बात जाने दो, मैं स्वयं कर्म करता हूँ।'

आप क्यों कर्म करते हैं?

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ 23॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥ 24॥

पार्थ! मैं यदि कभी निरालस्य हो सावधानीपूर्वक कर्म न करूँ तो सभी मनुष्य मेरे ही मार्गका अनुसरण करेंगे। मैं यदि कर्म न करूँ तो ये सब लोक नष्ट हो जायँगे। वर्णसंकरका मैं कर्त्ता बन जाऊँगा और सारी प्रजाका विनाशक बनूँगा।

भगवान् कहते हैं—'मैं अतन्द्रित रहकर काम करता रहता हूँ।' भगवान्‌को न निद्रा आती और न कभी थकान होती है।

उपहन्यामिमाः प्रजाः—भगवान् काम बन्द कर दें, तो सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, समुद्र, पृथ्वी, मन-बुद्धिमें कोई क्रियाशील रहेगा? इन सब रूपोंमें तो भगवान् ही हैं। भगवान् ही चुप बैठ जायँ तो पूरा संसार निष्क्रिय हो जायगा।

भगवान् कहते हैं—'मेरे जितने रूप हैं, मैं उन सब रूपोंसे निरन्तर काम कर रहा हूँ। मैं ईश्वर होकर काम कर रहा हूँ तो तुम्हें जीव होकर अवश्य काम करना चाहिए।'

संसारका स्वामी ईश्वर महाकर्त्ता है। उसमें नैपुण्य है, सद्भाव है और व्यवस्था है।



संगति : 25 :

परमात्मा कर्म करता है तो उसे पाप-पुण्य होता होगा?

नहीं! परमात्मामें कर्त्तृत्व नहीं है, अतः न उसे सृष्टि करने तथा सबका पालन करनेंका पुण्य होता और न प्रलयमें सबको मारनेंका पाप होता है।

परमात्मा जैसे काम करता है, ज्ञानीको भी वैसे ही लोकसंग्रहके लिए काम करना चाहिए। ज्ञानीका कर्म कैसा हो? यह बतला रहे हैं।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥25॥

अर्जुन! जैसे अज्ञानी आसक्त होकर कर्म करते हैं, लोक-संग्रहकी इच्छासे ज्ञानीको भी अनासक्त रहते हुए वैसे ही कर्म करना चाहिए।

ज्ञानीको उपदेश ही करना चाहिए या हिमालयमें ही रहना चाहिए, ऐसा नहीं है। उसको अमुक विशेष कर्म ही नहीं चुनना है और कर्म करनेकी कोई रीति भी विशेष नहीं बनानी है। जैसे अज्ञानी कर्म करता है—कर्ममें लगा रहता है, ज्ञानी भी वैसे ही कर्ममें लगा रहे और वैसे ही निपुणतासे, श्रमसे, सावधानीसे कर्म करे। ज्ञानी-अज्ञानीमें अन्तर केवल दो है—

1. अज्ञानी आसक्त होकर कर्म करता है और ज्ञानी आसक्तिरहित होकर कर्म करता है।

2. अज्ञानी वासना-प्रेरित होकर अपने लिए कर्म करता है और ज्ञानी वासना-रहित होकर लोक-संग्रहके लिए कर्म करता है।



ज्ञानी समझता है कि वासना-प्रेरित कर्म दुःखका हेतु है, अतः उसे अज्ञानियोंको समझाना तो चाहिए?

नहीं, इससे कोई लाभ नहीं होनेवाला है। उलटे इससे हानिकी ही सम्भावना है। अतः—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥ 26॥

विद्वान्—ज्ञानी पुरुषको कर्मासक्त अज्ञानियोंसे बुद्धिभेद नहीं उत्पन्न करना चाहिए। स्वयं उपयुक्त कर्मका भलीभाँति आचरण करते हुए उन लोगोंको सभी कर्मोंमें लगाना चाहिए।

न बुद्धिभेदं जनयेद्—जो अज्ञानी कर्ममें आसक्त हैं, उनका साधन—उनका कर्म नहीं छुड़ाना चाहिए।

अकरणान्मन्दकरणं श्रेयः।

सर्वथा कुछ न करनेसे उलटा-सीधा जैसा बने, वैसा करना अच्छा है।

एक मनुष्यके घर रोटी बनी थी। थाली परसी गयी थी। इतनेमें एक सज्जन आये। देखा कि रोटीमें कुछ दाग हैं। दालमें पानी अधिक है। बोले—'यह क्या भोजन करने योग्य है? यह जली रोटी है, यह दाल—नहीं, इसे मत खाओ। उठो यहाँसे।'

वह मनुष्य उठ गया और उनके साथ चला। थोड़ी देरमें बोला—'घरकी रोटी आपने छुड़वा दी। मुझे भूख लगी है। अब क्या खाऊँ।'

वे तपाकसे बोले—'तुम क्या खाओ, यह मैं क्या जानूँ? रोटी खराब थी, इसलिए मैंने मना किया था।'

वह बोला—'भले आदमी! इस भूखे रहनेसे तो अच्छा था कि जैसा कुछ था, मैं वही खा लेता।'

कर्म तमोगुणी वृत्ति मिटानेका- निद्रा, आलस्य, प्रमाद छुड़ानेका साधन है। कर्म करेंगे तो बुद्धि जागेगी। बुद्धि जागेगी तो अच्छा-बुरा सोच लेगी।

पत्थरके समान पड़े रहनेकी अपेक्षा कीड़े—जैसा हिलना-डोलना अच्छा है। कीड़ेके समान हिलने-डुलनेकी अपेक्षा चींटीके समान श्रम करके दाने एकत्र करना अच्छा। चींटीके समान इधर-उधर लोगोंको काटनेकी अपेक्षा पक्षीके समान फल-फूल खाना अच्छा। पक्षी-जैसे अपने ही पेट भरनेकी अपेक्षा गायके समान दूध देना अच्छा। गाय या बैल—जैसे काम करनेकी अपेक्षा मनुष्यके समान विचारपूर्वक काम करना अच्छा।

एक व्यक्ति कहता है—'मुझे सन्ध्या-वन्दन नहीं आता।'

तुम्हें जैसा आता है, वैसा ही करो। करते-करते ठीक आजायगा।

क्रियामें दोष नहीं होता, बुद्धिमें दोष होता है, अतः विवेकपूर्वक काम करो।

वेदान्त कहता है—'व्यवहार केवल दो बातोंमें है—बोलनेमें और सोचनेमें।' आप क्या बोलते हैं ? क्या सोचते हैं ? आप किसीका अहित नहीं सोचते और बोलनेमें नियन्त्रण रखते हैं तो आपका व्यवहार शुद्ध है।

'**कर्मसंगिनाम्**'—अज्ञानी कर्मासक्त होते हैं। वे कर्म किये बिना रह नहीं सकते। वे एक काम छोड़ेंगे तो दूसरा करेंगे।

एकने किसीसे कहा—'शालिग्राम-पूजन मत करो। यह तो अज्ञानी—मूर्ख करते हैं।'

पूजन छुड़ा दिया तो वह व्यक्ति बाजारमें जाकर चोरी-बेईमानी करने लगा। अब पूछो कि 'पूजन छोटा काम था और चोरी-बेईमानी ठीक काम है ?'

चौबीस वर्ष पूर्वकी बात है। एक नवयुवक मेरे पास आकर रहने लगे। उनकी एक रासधारी लड़के से आसक्ति हो गयी। पैसा सब उसे दे दिया। कहींसे कुछ मिलता तो उसे दे देते। एक दिन अपना कुर्ता तक दे आये। मैंने भगवान्से प्रार्थना की—'प्रभो! इतना होनहार युवक है। इसकी यह आसक्ति मिटा दो।'

जब उनके पास देनेको कुछ नहीं रहा तो उस लड़केसे उनकी खटपट हो गयी। परस्पर मारपीटतक हो गयी। लेकिन लड़केसे आसक्ति छूटी तो एक

लड़कीमें हो गयी। मैंने कहा—'भगवान्! मुझे क्षमा करो। आपकी जो मौज हो सो करो।'

एक मनुष्य कुछ कर रहा है। उसकी क्रियामें कोई भूल है तो ठीक करा दो। वह काम ही छुड़ा दोगे तो वह कोई और काम करेगा। अत: कर्ममें लगेका काम मत छुड़ाओ। वे अज्ञ हैं। उनमें अच्छे-बुरेका विवेक नहीं है। एक कामको छोड़ेंगे तो दूसरेमें लगेंगे और इसका कोई आश्वासन नहीं कि वह दूसरा कर्म पहलेसे अच्छा ही होगा। अत: वह जिस कर्ममें लगा है, उसे उसी कर्ममें निपुण करो।

एक साधु त्रिपुण्ड लगाता था। वृन्दावन गया तो लोगोंने कहा—'त्रिपुण्ड लगाओगे तो भूत-प्रेत (शिवगण) बनोगे। ऊर्ध्वपुण्ड लगाओ तो वैकुण्ठ जाओगे।'

वह खड़ा चन्दन लगाने लगा। काशी गया तो लोगोंने कहा—'यह क्या कठमलिया बन गये? त्रिपुण्ड लगाओ तो शिवलोक जाओगे।'

उसने कहा—'तुम सब ऐसे ही बकते हो। हम चन्दन लगाना ही बंद कर रहे हैं।'

प्राय: सामनेवाला व्यक्ति कहनेवालेके नियम त्यागनेकी बात ही मानता है। आप किसीको एक स्थानसे छुड़ाकर अच्छे काममें नहीं लगा सकते।

कर्म-त्यागकी विधि शास्त्रमें है; किन्तु वह स्वयं कर्म छोड़नेकी विधि है, किसीसे कर्म-त्याग करानेकी विधि नहीं है। सच बात तो यह है कि कर्म छोड़नेकी विधि भी नहीं है। विधि है कर्म छूटनेकी।

तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥

(भागवत-11.20.9)

भगवान् कहते हैं—कर्म तबतक करे, जबतक वैराग्य न उत्पन्न हो अथवा जबतक मेरी कथा सुनने—पूजनादिमें श्रद्धा न हो जाय।'

कर्मकी अवधि है वैराग्य या भगवत्कथामें मग्न हो जाना।

आप ऊपर जानेके लिए नीचेकी वस्तु छोड़ें यह तो ठीक है; किन्तु जिसे पकड़े हैं, उसे त्यागकर नीचे गिरें, यह ठीक नहीं है।

सम्पादकाचार्य श्रीलक्ष्मणनारायणजी गर्दे कहते थे—'भगवान्‌को यह श्लोक कहना नहीं चाहिए था। कहना ही था तो अर्जुनके कानमें कहते। 'ये मूर्ख काम करते हैं तो इन्हें करने दो!' ऐसी बात अज्ञानी सुनेंगे तो काम छोड़ेंगे या करेंगे?'

'**जोषयेत्सर्वकर्माणि**'—किसी व्यक्ति या कर्मका पक्ष मत लो। महात्मा लोग तो संसारके विषयमें कुछ बोलना, सोचना पसंद ही नहीं करते।

एवं विमृश्य सुधियो विरमन्ति शब्दात्। (भागवत)

एकने पूछा—'यह तुलसी क्या है?'

महात्मा—जैसा तुमको दीख रही है, वही है।'

'यह परमात्मा है।'

महात्मा—'क्या पूछना, परमात्माके अतिरिक्त तो कुछ है ही नहीं।'

'नहीं, यह दृश्य है। नाशवान् है।'

महात्मा—'ठीक है। तुमको इससे आसक्ति नहीं होगी।'

'**जोषयेत्सर्वकर्माणि**'—विद्वान्‌को चाहिए कि सावधान होकर जो काम सामने आये, उसीमें लगे और दूसरोंको लगे रहने दे।

श्री उड़ियाबाबाजी महाराजको लोग वृन्दावनमें श्रीविहारीजीके मन्दिर ले जाते तो वे वहाँ खड़े रहते। गोस्वामियोंको बुरा लगा। वे कहते—'यह बिहारीजीको प्रणाम नहीं करता।'

मैंने बाबासे कहा तो बोले—'याद नहीं आती। तुम तनिक हाथ छू दिया करो तो याद आ जायगी, प्रणाम कर लिया करेंगे।'

भगवान् शङ्कराचार्य वर्णाश्रम-धर्मके प्रतिष्ठाता हैं। वे कहते हैं—

न वर्णा न वर्णाश्रमाचारधर्मा,
न मे धारणाध्यानयोगादयोऽपि।

'न मेरा कोई वर्ण है, न वर्णाश्रमाचार धर्म। मेरे स्वरूपमें धारण, ध्यान, योगादि भी नहीं हैं।'

सत्तर वर्षकी आयुके एक कट्टर वेदान्ती सज्जन श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके समीप आते थे। मेरे एक ब्रह्मचारीसे उन्होंने पूछा—'तुम ब्रह्मचारी हो तो भिक्षा माँगकर क्यों नहीं खाते?'

उनकी बात सुनकर मुझे हँसी आ गयी। वे बोले—'आप हँसे क्यों?'

मैं—'बाबूजी! आप ब्राह्मण हैं, यज्ञोपवीत पहनते हैं; लेकिन सन्ध्या क्यों नहीं करते?'

बोले—'बात तो ठीक है।'

वे स्नान कर आये थे। लोटेमें जल लेकर बैठ गये और '**ॐ अपवित्रः पवित्रो वा......**' करने लगे। उठे तो मैंने पूछा—'पचास वर्ष बाद आपको सन्ध्या करनेकी स्मृति हुई?'

वे कहने लगे—'मैं बचपनसे वेदान्ती हूँ। युवक था और आर्यसमाजके ब्रह्ममुनि मेरा विवाह कराने आये थे, तब मैं उनसे कहता था—'यह सब तुम्हारा भ्रम है। न कोई लड़का है, न लड़की है, सब ब्रह्म है।' उस समय मेरी आयु इक्कीस वर्षकी थी। मैंने उन्हें वेदान्तके द्वारा हरा दिया था। लेकिन आपने आज ठीक स्मरण कराया।' मैं सन्ध्या नहीं करता तो मेरे भतीजे भी नहीं करते। अब मैं करने लगा हूँ तो उन सबसे भी संध्या करवाऊँगा।'

आज लोग वेदान्त पढ़कर सन्ध्या-पूजा झट-पट छोड़ देते हैं; किन्तु झूठ-कपट नहीं छोड़ते। रुपया-दूकान-व्यापार नहीं छोड़ते।

'झूठ न छोड़ा, कपट न छोड़ा, नाम जपन क्यों छोड़ दिया?'

इनको डॉक्टर चाहिए, वकील चाहिए, सेठ चाहिए, रुपया चाहिए; किन्तु सत्संग नहीं चाहिए।

कार्यालयका सर्वोच्च अधिकारी समयपर कार्यालयमें न आये तो उसके नीचेके सब कर्मचारी समयपर आना छोड़ देंगे। अतः उसका कर्त्तव्य है कि दूसरे भले देरसे आयें; किन्तु वह समयपर आये, समयपर जाय और अपना काम ठीक करे। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुषको भी स्वयं आदर्श आचरण करना चाहिए और दूसरोंको उनके कार्योंमें लगाये रखना चाहिए।



संगति : 27 :

अपनेको कर्मी, उपासक, जिज्ञासु मानकर कर्म कैसे करना चाहिए, यह बात अबतक कही गयी। अब तत्त्वदृष्टिसे बतलाते हैं कि हम द्रष्टा, साक्षी, आत्मा हैं। कर्म तो प्रकृति करती है। ऐसी स्थितिमें कर्मके प्रति अच्छे-बुरेकी दृष्टिका महत्त्व नहीं है। लेकिन कर्म तो होना ही चाहिए।

जब पिता देख लेता है कि उसका पुत्र कार्य-निपुण हो गया है, दूकान-कारखाना सम्हाल लेता है तो पिता उधर ध्यान नहीं देता। वैसे ही शरीररूपी कारखानेमें जब इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि ठीक-ठीक काम करने लगती हैं तो हम तटस्थ भावसे द्रष्टा हो जाते हैं।

आपको सुख होता है, दु:ख होता है। जबतक आप समझते हैं कि बाहरी पदार्थसे व्यक्तिमें सुख-दु:ख आता है, तबतक आप भौतिकवादी हैं। जब आप समझ जाते हैं कि सुख-दु:ख मनमें होते हैं और उनका समाधान भीतर ही है, तब आप अध्यात्मवादी होते हैं। अध्यात्मवादी होनेका अर्थ है यह समझ लेना कि 'जीवनकी सब समस्याएँ मनमें-से ही उत्पन्न होती हैं और उनका समाधान अपने मनमें ही है।'

इस अध्यात्मवादकी दृष्टिसे कर्म कैसे होते हैं? यह भगवान् बतला रहे हैं। साथ ही अबतकके विवेचनपर एक प्रश्न उठता है—कर्ममें बाँधनेकी शक्ति है, ज्ञानी पुरुष कर्ममें लगेगा तो उसे भी बन्धन होगा। कर्त्तृत्वमें बन्धन है और अज्ञानीमें कर्त्तृत्व है तो अज्ञानीको भी कर्ममें क्यों लगाया जाय? कर्मसे तो उसको बन्धन ही प्राप्त होगा। किसीको भी बन्धनमें डालना तो उचित नहीं है।

भगवान् कहते हैं—'कर्म स्वभावसे बन्धनमें डालनेवाले नहीं हैं। हम अपनेको उनके साथ एक करके स्वयं बन्धनमें पड़ना चाहते हैं, तब वे बाँधते हैं।'

'आ बैल, मुझे मार' जैसी दशा है। हम स्वीकृति देते हैं, तब कर्म हमें बाँधते हैं। हमारी स्वीकृतिके बिना कर्म हमें बाँध नहीं सकते।

गंगाकिनारे एक साधु रहते थे। उनके मनमें कभी-कभी पिटने, अपमानित होनेकी बात आती थी। तब वे फिरोजाबाद नगरमें आते और किसी दूकानमें घुसकर चूड़ियाँ फोड़ देते उस दूकानदारकी। वहाँ तो चूड़ियोंका भारी उद्योग है। दूकानदार उन्हें पीटते।

ऐसे ही बन्धन कर्मकारित नहीं, अहंकारकारित है। कर्ममें बन्धनकी सामर्थ्य नहीं है। अतः यह बतलाते हैं कि 'क्यों अज्ञानी कर्म-बन्धनमें पड़ता है और क्यों ज्ञानी कर्म-बन्धनमें नहीं पड़ता।'

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ 27॥

समस्त कर्म प्रकृतिके गुणोंसे किये जाते हैं। अहंकारविमूढचित्त अपनेको कर्त्ता मानता है।

गुण इन्द्रियोंसे दीखते नहीं हैं; किन्तु हैं इस शरीरमें ही। वस्तुतः इन्द्रियाँ ही गुण हैं। हाथ-पैर, जीभ-मन आदि गुण हैं। प्रकृतिसे जो हमारे शरीरमें गुण बने हैं। इनके द्वारा होनेवाले स्वयं प्रवृत्त कर्मको हम भूलसे अपना किया मानते हैं। यदि भूल न हो, हम इनमें अहंकार न करें तो इन कर्मोंके फलसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं।

'प्रकृतेः गुणैः क्रियमाणानि'—जीवनमें जो भी कर्म हो रहे हैं, सबके सब प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जा रहे हैं। उन कर्मोंको,उनके करनेवाले गुणोंको, प्रकृतिको, मेरा समझनेवाला अहंकार-विमूढात्मा है। वह समझता है—'मैं कर्त्ता हूँ।'

अपनेको कर्त्ता समझते ही कर्म, करण, कारण और कर्मफल, इन चारोंसे सम्बन्ध होकर अपनेमें कर्त्तृत्व आ गया। अपनेमें कर्त्तापनका यह अभिमान ही बन्धनका कारण है।

वेदान्ती माया, प्रकृति, अज्ञान, अविद्या, अव्याकृत, इन सबको एक ही मानते हैं। केवल शब्दोंका ही भेद है।

मायां तु प्रकृतिं विद्याद् मायिनं तु महेश्वरम्। (श्वेता० 4.10)

माया और प्रकृति एक है तथा मायावी और महेश्वर एक हैं।

उपासक प्रकृति, माया, महामायामें भेद मानते हैं। जो जगत्के रूपमें परिणामको प्राप्त होती है, उस उपादानरूप मूल तत्त्वको प्रकृति कहते हैं। वह मायाकी पुत्री है।

प्रकृति गुणमयी है। सत्त्व, रजस्, तमस्; ये तीनों गुण ही प्रकृतिके स्वरूप हैं माया तीनों गुणोंका कारण है।

महामायाके द्विविध भेद हैं। एक बन्धन देनेवाली और दूसरी मोक्ष देनेवाली है। महामाया भगवान्की स्वरूपभूता शक्ति है। उपासक महामायासे भी परे महामहेश्वरको मानते हैं।

वृन्दावनके वैष्णव महामायाके तीन भेद मानते हैं।

1. विमुख जनमोहिनी माया। भगवान् जब मथुरामें प्रकट हुए तो इसीके कारण कंस एवं उसके अनुचर मोहित हो गये और अपने बीच क्रियाशील भगवान्को पहचान नहीं सके। सब मोहित होकर सो गये और भगवान् चले गये।

2. स्वजनमोहिनी माया। जब भगवान् गोकुल आये तो इससे मोहित गोकुलके लोग सो रहे थे। यह भगवान्से दूर नहीं करती। सबको तो जब सचमुच वे जागते हैं तब भगवान् मिलते हैं और गोकुलके लोग सो रहे थे तब उनके मध्य भगवान् आ गये। जागे तो भगवान् मिल गये। योगकी भाषामें यह भगवान्को हृदयगुहामें पानेकी पद्धति हैं।

3. स्वमोहिनी माया श्रीरांधा हैं। ये श्रीकृष्णचन्द्रको प्रेम-मुग्ध करती हैं। एक कथा है कि श्यामसुन्दर जब रासलीलामें अन्तर्धान हो गये तो श्रीराधाने कहा—'सखियो! वे जा कहाँ सकते हैं? यहीं कहीं कुञ्जमें छिप गये हैं। उन्हें ढूँढ़ो। कुञ्जोंको घेर लो।'

गोपियोंने घेरा डालकर एक-एक कुञ्ज ढूँढ़ना प्रारम्भ किया! जिस कुञ्जमें श्रीकृष्ण छिपे थे, उसमें जब गोपी आयी तो वे चतुर्भज बनकर बैठ गये। गोपीने प्रणाम कर लिया और श्रीराधासे आकर बोली—'श्यामसुन्दर तो मिले नहीं; किन्तु यहाँ एक कुञ्जमें कोई चतुर्भुज देवता बैठा है।'

श्रीराधा—'यहाँ चतुर्भुज देवता कहाँसे आया? चल मैं देखती हूँ।'

श्रीराधाने कुञ्जमें प्रवेश किया तो उनको देखते ही श्रीकृष्ण मोहित हो गये। चतुर्भुज रूपका संकल्प छूट गया और वे द्विभुज हो गये।

विष्णुपुराणमें महामायाके इन तीनों रूपोंके नामका वर्णन संवित्, संधिनी और ह्लादिनी आनन्दशक्ति है।

'मीयते जगदनयेति माया'—जिसके द्वारा जगत् मति-प्रतीत होता है, उसे माया कहते हैं।

प्रकृति गुणमयी है। माया गुणोंकी कारणभूता है और महामाया सगुण ईश्वरकी शक्ति है। शुद्धस्वरूप परमब्रह्म अध्यारोप अपवादसे विनिर्मुक्त है। उसमें प्रकृति, अविद्या, माया, महामाया कोई नहीं हैं। वह शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, अद्वितीय है।

गीतामें दो प्रकृति बतायी गयी—1. परा। 2. अपरा

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ (7.4)
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो.......... ॥ (7.5)

भगवान् कहते हैं—'पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार रूपमें अष्टधा विभक्त मेरी अपरा प्रकृति है। दूसरी परा प्रकृति जीव है।'

लेकिन वर्तमान प्रसङ्गमें 'प्रकृति' शब्दका अर्थ न अपरा प्रकृति हो सकता है और न परा प्रकृति; क्योंकि यहाँ तो आत्माको नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त बतलानेके लिए—विद्वान् कर्म करते हुए भी कर्म बन्धनमें नहीं आते, यह समझानेके लिए प्रकृतिके गुणोंको कर्त्ता बता रहे हैं।

एक बार हम लोग मसूरीके समीप किसनपुरमें थे। वहाँ गीताकी कथा हो रही थी। यही प्रसङ्ग आया। प्रश्न उठा—'गीताके मतमें जीवात्मा कर्त्ता है या नहीं?!'

उत्तर स्पष्ट था—'गीताके मतमें जीवात्मा कर्त्ता नहीं है।'

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥ (5.14)

ईश्वर किसीका कर्तृत्व या कर्म नहीं बनाता और न कर्मफलसे संयोग करता है। यह तो स्वभावकी प्रकृति सब करती है।

'**न कर्मफलसंयोगम्**'—भोक्तापनकी सृष्टि भी ईश्वरने नहीं की है। न कर्म है, न कर्त्ता और न कर्मफल-संयोग है; तब कर्त्ता-भोक्ता, कर्मफलका चक्र कैसे चल रहा है? स्वाभाविक चल रहा है। इसमें आत्मा बद्ध नहीं है।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥ (13.29)

जो प्रकृतिके द्वारा ही सब कर्म किये जा रहे हैं, यह देखता है और आत्माको अकर्त्ता देखता है, वही ठीक देखता है।

कर्मके होनेमें पाँच हेतु होते हैं—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥ (18.14-16)

अधिष्ठान, कर्त्ता, नाना प्रकारके करण, पृथक्-पृथक् अनेक चेष्टाएँ और दैव—ये पाँच उन सब उचित-अनुचित कर्मोंमें कारण होते हैं, जिन्हें मनुष्य शरीर, वाणी या मनसे प्रारम्भ करता है। ऐसी स्थितिमें जो केवल अपनेको ही कर्त्ता देखता है वह दुर्गति अकृतबुद्धि होनेके कारण वास्तवमें देखता नहीं है।

भगवान्‌ने यहाँ गाली दी—'दुर्मति' वह दूषित बुद्धि है। 'न स पश्यति' अंधा है, देखता नहीं कि दैवने, अग्नि, जलादिने सहयोग किया। पाँचके सहयोगसे काम हुआ और कहता है—'मैंने किया।'

वाहवाही—प्रशंसा हो तो 'मैंने किया' और काम बिगड़ गया तो—'सबकी भूल है।' एक नीति है—

पञ्चभिः सह गन्तव्यं स्थातव्यं पञ्चभिः सह।
पञ्चभिः सह कर्तव्यं न दोषः पञ्चभिः सह॥

पाँचके साथ मिलकर चलो। पाँचके साथ ठहरो। पाँचके साथ मिलकर काम करो। पाँचके साथ काम करनेसे कुछ बिगड़े भी तो दोष नहीं होता।

साधकको बुद्धि कैसी रखनी चाहिए?

नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् (5.13)

इन नौ द्वारके शरीर रूप नगरमें रहता हुआ शरीरी आत्मा न कुछ करता है, न कराता है।

न कर्ता, न प्रेरक। प्रेरणा भी कर्म ही देते हैं। सेनापति आज्ञा देता है और सेना कार्य करती है।

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृणवन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥ (5.8)

तत्त्ववेत्ता देखते, सुनते, स्पर्श करते, सूँघते, खाते, चलते, श्वास लेते—सब कुछ करते हुए भी 'मैं कुछ नहीं करता' ऐसा मानता है।

मनुष्य जैसा कर्म करता आता है, उसका संस्कार बनता है। संस्कारका स्वभाव बनता है। मनुष्य उस कर्मजन्य स्वभावके सर्वथा परवश है। स्वभावके विपरीत कुछ कर नहीं पाता।

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि मन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥ (18.59-60)

अर्जुन! यह जो अहङ्कार करके मानते हो कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' यह तुम्हारा निश्चय झूठा है। तुम्हारी प्रकृति तुम्हें युद्धमें लगा देगी। अपने कर्मोंसे बने स्वभावसे तुम बँधे हो, अतः मोहवश जिसे नहीं करना चाहते, उसे विवश होकर करोगे।

एक सैनिक कार्यमुक्त हो चुका था। एक दिन उसने बाजारमें दही खरीदा और लेकर चला। एक विद्यार्थीको परिहास सूझा। उसने पीछेसे कड़ककर कहा—'अटेन्शन!' सैनिक जो अटेन्शन मुद्रामें हुआ तो दही छूटकर गिर गयी। उस शब्दका उसके सिरपर जो प्रभाव पड़ा, उससे कर्म स्वाभाविक रूपसे हो गया।

एक गुरुके एक शिष्य था। गुरुजी मरने लगे तो शिष्यने पूछा—'मेरा क्या होगा?'

गुरु—'तुझमें और तो कोई दोष नहीं है, बस एक दोष है कि तू हुक्का पीता है।'

शिष्य—'क्या करें, छूटता नहीं है।'

गुरु—'मरनेपर यमराजके पास जायगा तो वे पूछेंगे—'पहले पापके फल भोगोगे या पुण्यके?' तुम कह देना पुण्यके। तब तुम मेरे समीप आ जाओगे।'

शिष्य जब मरा तो उसने यमलोक जाकर गुरुजीके कहनेके अनुसार ही किया। उसे स्वर्गमें भेजा गया, जहाँ उसके गुरुजी थे। वहाँ भी वह गुरु-सेवा करता था। जब उसके पुण्य समाप्त हो गये तो यमदूत आकर बोले—'अब यहाँसे नरकमें चलो!'

वह भागा और गुरुजीके स्थानमें जाकर उनके चरण पकड़कर बैठ गया। गुरुजी बोले—'बस, यहीं रहो। यहाँसे बाहर मत जाना।'

यमदूत लौट गये। यमराजसे उन्होंने कहा—'वह अपने गुरुके पास जा बैठा है। वहाँ तक हमारी पहुँच नहीं है।'

यमराज—'तुम लोग उसके गुरुजीकी कुटियाके बाहर बैठकर हुक्का पीते रहो।'

वे आये और गुरुकी कुटियाके द्वारके सामने बैठकर हुक्का गुड़गुड़ाने लगे। शिष्यने देखा तो बोला—'मैं एक फूँक पी आऊँ?'

गुरुजी—'बाहर गये तो ये पकड़ लेंगे।'

शिष्यसे रहा नहीं गया। वह बोला—'केवल एक फूँक पीकर अभी आया!' वह बाहर आया और पकड़ा गया।

मनुष्य जैसा काम करता है, उसका ऐसा अभ्यास बन जाता है कि छोड़ते-छोड़ते भी छोड़ नहीं पाता। एकने मुझसे कहा—'कर्म करते-करते भगवान् भूल जाते हैं, क्या करूँ?'

मैं—'कर्म करना छोड़ दो।'

वह—'कर्म नहीं छूटता।'

मैं—'अभी तुम्हारे लिए भगवान्का स्मरण महत्त्वपूर्ण नहीं है। कर्म करना ही महत्त्वपूर्ण है।'

मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र नहीं है—

ईश्वरः सर्वभूतानि हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ (18.61)

अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें ईश्वर उन्हें अपनी मायासे यन्त्रपर चढ़े पुतलोंके समान घुमाता हुआ बैठा है।

'प्रकृतेःक्रियमाणानि'—नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मा अन्तःकरणमें अहङ्कार करता है। इस तादात्म्यसे अन्तःकरणमें जो सङ्कल्प, इच्छाएँ, वासना, क्रोध, काम, राग-द्वेष, लोभ होता है, उसे वह 'मेरा' मानता है। अन्तःकरणमें 'अहं' रूप तादात्म्य होता है और अन्तःकरणकी वृत्तियोंमें 'मम' रूप तादात्म्य होता है। इस अहंता-ममताका नाम है 'अहङ्कारविमूढात्मा।' अनात्मामें आत्मबुद्धि करके मूढ—मूर्च्छित हो गया।

सड़कपर घूमनेवाली स्त्रीको कोई अपनी पत्नी मानने लगे तो वह मूर्ख है। इसी प्रकार अन्तःकरणमें आने-जानेवाली वृत्तियोंको जो अपनी समझे वह मूर्ख है। कोई सरकारी सड़कको अपनी समझकर उसपर गड्ढा खोदने लगे तो मूर्ख है। वह कष्ट पायेगा। इसी प्रकार अन्तःकरण प्रकृतिकी भूमि है। इसे जो अपना मानता है, वह मूर्ख है।

चित्तको 'मैं' मानना, चित्तवृत्तियोंको 'मेरी' मानना द्रष्टा पुरुषके लिए अविवेक है—अपराध है। योगीके लिए यह अविद्या है। भक्तके लिए भगवान्से विमुखता है। वेदान्तीके लिए अध्यास है। अतः तत्त्वज्ञको ये शरीरके कर्म-कर्माभाव, प्रवृत्ति-निवृत्ति छू नहीं पाते। ये सब केवल अज्ञानीके लिए बन्धनके हेतु हैं।

जब आत्माके साथ नाम-रूप-स्वभाव-गुण-कर्म जोड़ दिये, तब आत्मा पृथक्-पृथक् शरीरोंमें पृथक्-पृथक् प्रतीत होने लगा। यदि इनको आत्माके साथ न जोड़े तो आत्माको पृथक्-पृथक् करनेवाली कोई वस्तु नहीं है। विष्णुपुराणमें आया है—

भेदजनके...........

आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कःकरिष्यति।

जब भेदको उत्पन्न करनेवाले निमित्त बुद्धिमें नहीं रहे तो आत्मा और ब्रह्ममें जो मिथ्या भ्रम है, उसे कौन बनायेगा ?

यत्र यत्र भेदस्तत्र तत्र बुद्धिः।

'जहाँ-जहाँ भेद है, वहाँ-वहाँ उसे करने-समझनेवाली बुद्धि है' यह बात बनती है; किन्तु—

यत्र यत्र बुद्धिस्तत्र तत्र भेदः।

'जहाँ-जहाँ बुद्धि है, वहाँ-वहाँ भेद है' यह बात तर्क-संगत नहीं है। भेद ज्ञानसापेक्ष ही होता है। भेद ज्ञात होता है। भेद देखनेवालेके आश्रित रहता है, वह कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। देखनेवाला अधिष्ठान है और देखा जानेवाला भेद अध्यस्त है। अध्यस्त भेद अधिष्ठानका किञ्चित् भी स्पर्श नहीं करता।

यद् यस्मिनध्यस्तं तत्तस्य गुणदोषाभ्यां न स्पृश्यते।

अध्यस्त वस्तुके गुण-दोषसे अधिष्ठानका स्पर्श नहीं होता। जैसे रज्जुमें अध्यस्त सर्पके गुण-दोषसे रज्जुका स्पर्श नहीं है। नीलिमाके गुण-दोषसे आकाशका स्पर्श नहीं होता।

आत्मामें भेद अदृष्ट है। आत्माने कभी भेद देखा ही नहीं। जैसे घटोपाधिसे आकाशमें भेद प्रतीत होता है, वस्तुतःआकाशमें भेद नहीं है। ऐसे ही ज्ञात स्वभाव, गुण, आकार, नाम-रूपमें दृष्टभेद उपाधिके कारण है। हार और कङ्कणमें भेद होता है; किन्तु स्वर्णमें भेद नहीं होता। ऐसे ही आत्मा निर्भेद चिद् धातु है। देश, काल, वस्तु प्रतीत होती है, तब होती हैं। जब कुछ प्रतीत नहीं होता तब भी आत्म-सत्ता अखण्ड रहती है।

आत्मा कर्त्ता तो तब होगा, जब जीभ, नाक, हाथ-पैर आदिसे युक्त आत्माका स्वरूप होगा। कर्म तो हाथ-पैर, जीभसे होता है।

आत्मा इनसे परे है। जब कर्म करनेके यन्त्र ही आत्मामें नहीं हैं तो आत्मा कर्त्ता कैसे होगा ? अतःगीतामें कहा—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ (2.19)

जो आत्माको मारनेवाला जानता है और जो इसे मारा गया जानता है, दोनों ठीक नहीं जानते। यह न मारता है और न मारा जाता है।

आत्मा न कर्मका विषय है, न आश्रय। कर्म आत्माको कभी नहीं बनाता, न कर्मसे लिप्त करता और न कर्मभोग ही दे सकता। तब यह दृश्य क्या है ? योगवाशिष्ठने कहा—

दीर्घं स्वप्नमिमं विद्धि दीर्घं वा चित्तविभ्रमम्।

इसे लम्बा स्वप्न या चित्तका लम्बा विभ्रम समझो।

'**प्रकृतेःक्रियमाणानि गुणैः**'—प्रकृति काम नहीं कर रही है। उसके गुण काम कर रहे हैं। अर्थात् कारणावस्थामें कर्म नहीं हो रहा है, कार्यावस्थामें कर्म हो रहा है। प्रकृतिकी साम्यावस्थामें न कार्य होता है, न अभिमान होता, न वृत्ति रहती है। कर्म तो सब प्रकृतिके क्रियाशील गुणोंसे हो रहे हैं। इन गुणोंमें क्रिया-विक्रिया होती रहती है। मनुष्य जो जानबूझकर करता है, उसे क्रिया कहते हैं। जो अपने-आप होता है वह विक्रिया है। प्रकृतिसे महत्तत्त्व और महत्तत्त्वसे अहंकार बना, यह विक्रिया है। विक्रियासे धर्माधर्मकी उत्पत्ति नहीं होती।

न्यायदर्शनके अनुसार प्रवृत्तिसे धर्माधर्मकी उत्पत्ति होती है। शरीर एवं सुख-दुःख धर्माधर्मसे उत्पन्न होते हैं। स्वयं प्रवृत्ति राग-द्वेषसे होती है। राग-द्वेष मिथ्या ज्ञानसे हुआ है।

योग, सांख्य और मीमांसादर्शन कहते हैं—'केवल प्रवृत्ति ही नहीं है, निवृत्ति भी व्यक्तिके जीवनमें है और वह आत्मोन्मुख कर्म है। ऐसी प्रवृत्ति जिससे राग-द्वेष क्षीण हों, निवृत्ति है। यह निवृत्ति नैष्कर्म्यका साधन है।'

प्रकृतिके गुणोंमें कभी तमस् क्रियाशील होता है। तो मनुष्य निद्रा, आलस्य, प्रमादके कारण कर्त्तव्यविमुख हो जाता है। कभी रजस् क्रियाशील होता है, तो मनुष्य राग-द्वेषसे कर्मरत होता है। कभी सत्त्व क्रियाशील होता है तो मनुष्यसे तमस् एवं रजस्को मिटानेवाले कर्म होने लगते हैं। वह यज्ञ, सन्ध्या, प्राणायाम, जप, ध्यानादि अक्लिष्ट वृत्ति-जनक कर्म करता है।

'**विमूढात्मा**'—कोई सज्जन शराब पीकर मोटरमें बैठे। मोटर दौड़ी तो उन्हें लगा—'मैं ही दौड़ रहा हूँ।' वह विमूढात्मा है जो इस शरीररूपी

मोटरमें, जो कर्मजन्य है, 'मैं' करके 'अहमेव गन्ता, अहमेव कर्ता' मान रहा है। सच यह है कि विक्रियाके तो तुम कर्त्ता हो ही नहीं, क्रियाके भी कर्त्ता नहीं हो।

'**अहंकारविमूढात्मा**'—एक भी काम हम दूसरेकी सहायताके बिना नहीं कर सकते। हम बोल रहे हैं, इसमें जिन्होंने जन्म दिया, शिक्षा दी, भोजन दिया, उनका हाथ है।

मैं कथा कहता था तो एक व्यक्ति उसको नोट करता था। फिर वह मुझे सुनाता था और कहता था 'मैंने यह मौलिक विचार किया है।'

कृतज्ञता तो यह है कि हमने जहाँसे जो पाया है, उसे स्वीकार करें। यह बुद्धि प्राप्त करनेमें हमें अन्योंसे सहायता मिली है। यहाँका वातावरण मेरे बोलनेके अनुकूल न हो तो मैं बोल सकूँगा? हम प्रकाशमें चलते हैं। भोजनसे प्राप्त शक्तिसे चलते हैं। पृथ्वीपर पैर रखकर चलते हैं। इस भरोसे चलते हैं कि सरकारने चलनेवालोंकी सुरक्षा-व्यवस्था कर रही है। जिनके हृदयमें ईश्वरके प्रति, सहायकके प्रति, अनुग्राहकके प्रति कृतज्ञता नहीं है, वे कैसे मनुष्य हैं?

कोई भी कर्म करनेमें हमें बहुतोंकी सहायता लेनी पड़ती है। घड़ेमें पानी होनेके लिए घड़ेका होना, जलका होना, घड़ेको पकानेवाली अग्निका होना, आकाशका होना, कुम्हारका होना आवश्यक है। शरीर भी घट है। चेष्टासे घटित है। पाकज है। इसमें अहंकार करना अज्ञान है।

कर्म प्रकृतिसे हो रहे हैं। श्वास चलना, रक्ताभिसरण, नख-रोम-वृद्धि, मलापसरण तुम्हारे वशमें हैं? लकवा हो जाय तो हाथ उठाये नहीं उठता। तुम्हारे अहंकारके वशमें क्या है? अतः अहंकार मिथ्या है। प्रकृतिसे जो काम हो रहा है, उसमें अहंकार करके विमूढ—मूर्ख मत बनो।



सब कर्म प्रकृतिके गुणोंसे किये जा रहे हैं, उनमें अहंकारसे विमूढात्मा अपनेको कर्त्ता मानता है, किन्तु जो 'अहंकारविमूढात्मा' नहीं है, वह क्या करता है ? उसकी स्थिति बतलाते हैं—

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥ 28॥

महाबाहु अर्जुन! तत्त्ववेत्ता तो गुण और कर्मके विषयमें ऐसा मानता है कि 'गुण ही गुणोंमें व्यवहार कर रहे हैं' अतः उनसे सटता नहीं।

'**गुणकर्मविभागयोः**'—गुणकर्मसे विभाग करके आकारारोप-विनिर्मुक्त जिसने अपनी विभक्तताको जान लिया, वह कहीं सटता नहीं। विभाग अर्थात् आत्मा गुण-कर्म दोनोंसे पृथक् है।

'**तत्त्ववित्तु**'—नाम और आकारका आरोप होनेसे पूर्वका जो स्वरूप है, वह तत्त्व है। स्वर्ण तत्त्व है और कंकण, हार, कड़ा आदि नाम-रूप उसमें आरोपित हैं। स्वर्ण नाम-रूपसे पृथक् है। वह चूर्ण, रवे, चौकोर, त्रिकोणपनेको छोड़कर है। '**तत्त्वं वेत्तीति तत्त्ववित्**' जो तत्त्वको जानता है, वह तत्त्ववित् है। यदि तत्त्व अपनेसे पृथक् होगा तो उसमें नाम-रूप-आकार होगा। नाम रूपकी पृथक्ता देखनेमें आती है, पर वह वस्तुतः है नहीं।

'**तनोति इति तत्**'—जैसे सूत कपड़ेके रूपमें फैला है, वैसे ही जो दूसरा न होनेपर भी समस्त दृश्यके रूपमें स्वप्नके दृश्यके समान फैला है, वह तत्त्व है।

यत् सत् तत् तत् तस्य भावस्तत्त्वम्।

जो सत् है, वही व्यापक है। उसीके भावको तत्त्व कहते हैं।

'**गुणा गुणेषु वर्तन्ते**'—चश्मा रंगीन हो तो वस्तु रंगीन दीखती है। बच्चेके नेत्रपर रंगीन चश्मा लगा दो तो वह वस्तुओंको ही रंगीन समझेगा।

मैं एक बार दिल्लीमें मोटरपर बैठकर चला। मोटर चली तो मुहल्लेके सब मकान हरे दीखने लगे। मनमें आया—'दिल्लीमें ऐसा हरा मुहल्ला तो पहले कभी देखा नहीं।' इतनेमें मोटरके शीशेपर ध्यान गया तो देखा कि शीशा हरे रंगका है। आत्मा ज्ञानमात्र है, इसे योग, सांख्य और अद्वैत वेदान्तदर्शन मानते हैं। ज्ञान देश-काल-वस्तुका अधिष्ठान और प्रकाशकमात्र है। वह न जड़का सम्बन्धी है, न जड़का कार्य और न जड़का कारण। समान सत्ताके न होनेसे जड़ और ज्ञानमें बाध्य-बाधक भाव नहीं है। 'संसारमें वस्तुएँ हैं' यह अर्थाध्यास है और 'वे मेरी हैं, देह मैं हूँ' यह संसर्गाध्यास है। योग और सांख्य अर्थाध्यास नहीं मानते।

'गुणा गुणेषु वर्तन्ते'—नेत्र देख रहे हैं, पैर चल रहे हैं, मन सोच रहा है। चश्मा अपना हरापन दिखा रहा है। संसारके सम्बन्ध और दृश्य वास्तविक नहीं हैं। ये औपनेत्रिक—चश्मेके कारण दीखनेवाले हैं। चाक्षुषिक-मानसिक-प्रातीतिक हैं।

सृष्टिमें आप जब अपनेको संसृष्ट—संसर्गाध्यासयुक्त मान लेते हैं तो दु:ख होता है। मनमें संकल्प-विकल्प उठते हैं। मन गुण है, उसमें संकल्प-विकल्प उठना भी गुण है। इन्द्रियाँ गुण हैं, उनमें विषयका भासना भी गुण है।

हम हिमालयको देखते हैं तो वहाँ गंगाकी धारा, वनकी हरीतिमा, चमकते हिमशिखर दीखते हैं; किन्तु 'ये मेरे हैं' ऐसा मनमें नहीं आता। यह निर्मम दर्शन है। सड़कपर लोगोंको चलते देखते हैं, पर उन्हें अपना नहीं समझते। **'न सज्जते'** देखनेका आनन्द लेते हैं, लेकिन नेत्रमें आसक्ति नहीं है। ऐसे ही अपनेको जो गुणकर्मसे पृथक् जान लेता है, वह तत्त्ववेत्ता कहीं आसक्त नहीं होता।



तत्त्ववेत्ता तो कहीं आसक्त नहीं होता; किन्तु जो आसक्त होकर दुःखी हो रहे हैं, उनके प्रति भी कुछ कर्त्तव्य उसका है? उन्हें वह समझा-बुझाकर इस आसक्तिसे छुड़ाये, यह तो उसे करना चाहिए?

नहीं, ऐसा नहीं करना चाहिए। यह बतलाते हैं—

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥ 29॥

प्रकृतिके गुणोंसे भली प्रकार मूढ़ हुए लोग गुण और कर्ममें आसक्त होते हैं। उन अल्पज्ञ मूर्ख लोगोंको सम्पूर्ण तत्त्वको जाननेवाला विचलित न करे।

'मैं-मेरा' करके जैसे बाह्य पदार्थोंमें आसक्ति होती है, वैसे ही आन्तरिक भावोंमें भी होती है। एक अपरिचित व्यक्ति आता है। वह एक बच्चेको एक फल या एक खिलौना देता है। दूसरा बच्चा आकर पहलेसे कहता है—'मुझे दो!'

पहला बच्चा—'यह मेरा है।'

दूसरेको नहीं मिलता तो वह लड़ता है। अब जिसने दिया था, वह कहता है—'तुम लोग लड़ते हो तो हमारी वस्तु हमें दे दो। हम लड़ाई करनेवालोंको कुछ नहीं देते।'

इसीका नाम अध्यास है—

'**अधीषु आस्ते इति अध्यासः**'—जो बुद्धिहीनमें रहे, वह अध्यास।

'**अतस्मिंस्तद्बुद्धिरध्यासः**'—जो जैसा नहीं है, उसे वैसा समझ लेना अध्यास है।

नेत्र देखते हैं और आप समझते हैं 'मैं देखता हूँ।' मन हिलता है और आप समझते हैं—'मैं चंचल हो रहा हूँ।'

किसीने मठपर लगे झंडेकी ओर संकेत करके एक लामासे पूछा—'झंडा हिल रहा है या हवा?'

लामा बोले—'न झंडा हिल रहा है, न हवा। तुम्हारी बुद्धि हिल रही है।'

आप तटस्थ हैं, सब चल रहे हैं, जो प्रकृतिके गुणोंमें सम्मूढ हो गये हैं—भली प्रकार अटक गये हैं, वे गुण और कर्ममें आसक्त होते हैं।

हम आपका लड़ना पसंद करते हैं; किन्तु हृदयमें मोह रखकर लड़ोगे तो दु:खी हो जाओगे।

हम आपका बैठना पसन्द करते हैं; किन्तु हृदयमें मोह रखकर बैठोगे तो दु:खी हो जाओगे।

हम आपका सोना पसंद करते हैं; किन्तु मनमें मोह रखकर सोओगे तो दु:खी हो जाओगे।

हृदयमें-से मोह निकाल दो, फिर मौज हो तो दौड़ो, बैठो, सो जाओ, समाधि लगाओ या युद्ध करो। हम केवल यह चाहते हैं कि आपके हृदयमें मोह न रहे। प्रकृतिके गुणोंमें मोह गुण-कर्ममें आसक्त कर देता है। विषय-विषयीभाव बना देता है। करणोंको—औजारोंको अपना आत्मा बना देता है।

यदि स्वर्ग जानेकी कामना आपमें है, तो आप अन्त:करणसे उदासीन नहीं हो सकोगे। अन्त:करण लेकर ही तो स्वर्ग जाना है। क्लब जाना है तो वेशभूषाके प्रति आप उदासीन रह सकोगे? लकड़ी चीरनी है तो कुल्हाड़ी हाथमें रखना होगा। कुछ नहीं करना है तो कुछ नहीं रखना है।

एक महात्मा कलकत्तेमें श्रीजयदयालजी कसेराके घर आये। पहलेका कोई परिचय नहीं था। कसेराजीने साक्षात् अतिथि रूपमें भगवान् आये मानकर उनका सत्कार किया, भोजन कराया। वे जाने लगे तो बोले—'कसेराजी! तुमने मुझे रोटी दी है, मैं तुम्हें ज्ञान देता हूँ।'

महात्मा बैठ गये। कसेराजी बैठ गये। महात्मा बोले—'संसारमें किसी वस्तुको 'मैं-मेरा' समझना अज्ञान है। किसी वस्तुको भी 'मैं-मेरा' न समझना ज्ञान है।'

ज्ञान और अज्ञान इतनेमें ही हैं—**न ममेति ममेति च।**

'मम' ये दो अक्षर मृत्यु हैं और तीन अक्षर 'न मम' अमृत है।

तानकृत्स्नविदो मन्दानकृत्स्नविन्न विचालयेत्।

यह अविचालनोपनिषद् है। आप किसीको परिवर्तित नहीं कर सकते, केवल विचलित कर सकते हैं। अत: मनुष्यको उसकी स्थितिसे विचलित तभी किया जाना चाहिए, जब उससे उच्च-स्थितिमें पहुँचा देनेका पूरा आश्वासन हो।

एक व्यक्ति टूटे घरमें रहता था। हमने उससे कहा—'यह घर तो पुराना है। यहाँका वातावारण भी अच्छा नहीं है। इसे छोड़ दो।'

वह बोला—'इसे छोड़ तो दें; किन्तु जायँ कहाँ? जब अच्छा घर कहीं मिलता होगा तो इसे छोड़ देंगे।'

कोई मनुष्य सहज देहाभिमान छोड़ नहीं पाता। लोग कहते हैं—'तनिक देहाध्यास छोड़कर बात करो!' जैसे देहाध्यास कोई माला है कि उसे उतारकर फेंक दिया जा सकेगा। यह छोड़ना-पकड़ना दोनों देहाध्यास है।

न त्यागोऽनुग्रहो लयः।

अपने स्वरूपमें न त्याग है, न ग्रहण है, न लय है। आत्मा किसीमें लीन हो जाय तो जिसमें लीन होगा, वह कारण होगा और आत्मा कार्य होगा। ऐसा नहीं है।

एक बार वृन्दावनमें मैं श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके समीप बैठा था। उन्होंने थोड़ी अपनी प्रशंसा की और फिर बोले—'जितनी तटस्थतासे मैं तुम्हारी प्रशंसा कर सकता हूँ, उतनी ही तटस्थतासे अपनी भी कर सकता हूँ। यह अभिमान नहीं है। जैसे तुम्हारे शरीरको मैं अपना नहीं मानता तो उसकी प्रशंसा दूसरेकी प्रशंसा है, वैसे ही इस शरीरको भी अपना 'मैं' नहीं मानता तो इसकी प्रशंसा भी दूसरेकी ही प्रशंसा है।'

समाधि भी देहाभिमानके आसपास ही घूमती है। देहाभिमानके बिना न सात्त्विक कर्म होते, न राजस और न तामस। दूसरेको निरभिमान बनानेका प्रयास भी अभिमान ही है।

किसीका सन्ध्या-वन्दन तब छुड़ाओ, जब तुम उसे समाधि लगवा सकते हो।

मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः।

संसारके लोग आलसी हैं, अत्यन्त मन्दबुद्धि हैं, अभागे हैं और अनेक उपद्रवोंसे ग्रस्त हैं।

इसमें बतलाया कि संसारके लोगोंको अपने काममें सफलता क्यों नहीं मिलती, इसके चार कारण हैं :—

1. लोग आलसी हैं। उन्हें पता भी है कि इस समय यह कार्य करना है; किन्तु उसे आलस्यके कारण करते नहीं हैं।

2. कोई आलसी हो; किन्तु बुद्धिमान् हो तो पड़े-पड़े भी बुद्धिसे अपना काम बना सकता है; किन्तु लोगोंमें बुद्धि भी नहीं है।

3. कई लोग काम नहीं करते हैं, उनमें बुद्धि भी नहीं है; किन्तु भाग्यवान् होनेसे समृद्ध हैं। लेकिन अन्य बहुत-से लोग तो भाग्यहीन हैं। पूर्वजन्मका भी इनका सत्कर्म नहीं है।

4. राग-द्वेष-संघर्षसे ये ग्रस्त हैं।

मन्दपुरुषकी यह पहचान है कि पूर्णतापर उसकी दृष्टि नहीं जाती। वह सदा संकीर्णतामें ही लगा रहता है।

श्रीसुरेश्वराचार्यने कृत्स्नका अर्थ आत्मा और अकृत्स्नका अर्थ अनात्मा किया है।

यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति।

जिसको जान लेनेपर सब जान लिया हो जाता है, उस आत्माको जाननेवाला आत्मवित्—कृत्स्नवित् है। अनात्मवित् अकृत्स्नवित् है।

जो अज्ञानी कर्ममें लगे हैं, भोगमें लगे हैं उनको लगे रहने दो। उनको विचलित मत करो। व्यापारीका परमेश्वर धन है। जो जहाँ परमेश्वरको मानकर लगा है, वहीं लगा रहे। तत्त्ववित्‌की दृष्टिमें तो सब परमात्मा है। अतः सब परमात्मामें ही लगे हैं। विचलित करनेका प्रश्न ही उसके सामने नहीं आता।

किसीको कर्मसे-धनसे विमुख क्यों करना चाहिए? मर्यादा-पूर्वक धर्मसे धन कमाओ और भोगो।

एक बार मैं कहीं मोटरसे जा रहा था। ड्राइवरसे कुछ भूल हो गयी। मोटरके स्वामी सेठ क्रोधसे लाल हो गये। मैंने कहा—'पहले शान्त हो लो। नेत्रमें लाली रहेगी तो मुखसे अनाप-शनाप निकलेगा, शान्त हो जाओ तो ड्राइवरसे कुछ कहो।'

आपका कर्म आपको ही सुख-संतोष नहीं देता है तो आपके पुत्र-पौत्र, भाई-बन्धु एवं समाजको क्या सुख-संतोष देगा? अतः अपनेको ठीक़ रखकर कर्म करो तो उसके रूपमें भगवान् आयेंगे। जो भोग पाओगे, उसके रूपमें भगवत्सुख मिलेगा। असंग हो जाओगे तो असंगताके रूपमें परमात्म-प्राप्ति होगी।

'**तानकृत्स्नविदो मन्दान्**'—कर्म करो और कर्म मत करो, यह बात मनुष्यके लिए कही जाती है। आत्मा, परमात्मा या प्रकृतिके लिए इसका विधान नहीं होता। दर्शनशास्त्रमें जो निरूपण है, उसमें यह प्रश्न नहीं है कि 'मनुष्य कर्म करता है या नहीं।' वह तो आत्मा कर्त्ता है या अकर्त्ता, इस पर विचार है। मनुष्य जबतक देहधारी है, तबतक अपने अधिकारके अनुरूप कर्म करेगा अथवा नहीं करेगा। कर्मका अधिकारी मनुष्य है। सब कर्मके अधिकारी सब मनुष्य नहीं होते। जैसे संन्यासी सन्ध्या करने, श्राद्ध करने, हवन करने, यज्ञ करने तथा संतानोत्पादन करनेके अधिकारी नहीं हैं।

मनुष्य व्यवस्थापूर्वक कर्म करेगा, तभी ठीक कर्म कर सकेगा। अपने अधिकारके अनुसार ही मनुष्यको कर्म करना चाहिए। संन्यासी भिक्षा माँग सकता है। यात्रा कर सकता है। उपदेश कर सकता है।

कर्म तो समाधिमें भी होता है। समाधिमें कर्म ही शरीरकी रक्षा करता है।

विवेक होता है आत्माके स्वरूपके सम्बन्धमें। अद्वैतवादी मानते हैं कि आत्मा अद्वितीय, निष्क्रिय, निर्विकार है। दृश्य प्रातीतिक है। अत: कर्ता, कर्म, योग सब प्रातीतिक हैं। हो रहा सब कुछ है; किन्तु है सब प्रातीतिक। ज्ञानीसे भी कर्म होता है। शुकदेवजीने भागवत सुनायी, जड़भरतने रहूगणको उपदेश किया, ऋषभने अपने पुत्रोंको उपदेश किया। ज्ञानीका जीवन भी प्रातीतिक है। उसमें कर्म, भोग, उपदेश, खाना-पीना सब प्रातीतिक है!

सांख्यकी दृष्टिसे आत्मा अकर्त्ता है और कर्म प्रकृतिसे होते हैं।

कर्म-मीमांसा-दर्शनकी दृष्टिसे अन्त:करणमें जो संस्कार हैं, वे कर्म करवा रहे हैं।

जो अज्ञानी हैं, जो न आत्माको जानें न ब्रह्मको, न प्रकृतिको जानें, न कर्त्ता जानें, न अकर्त्ता, वे प्रकृतिके गुणोंमें सम्मूढ़ हैं। अन्त:करणको 'मैं'-'मेरा' मानते हैं। अन्त:करण और इन्द्रियोंसे हुए कर्मको 'मेरा' मानते हैं। इसीमें अटके हैं। कृत्स्नवित्-अद्वैत ब्रह्मवेत्ताको उन्हें विचलित नहीं करना चाहिए।



अर्जुनका प्रश्न है—'**तदेकं वद निश्चित्य**' निश्चय करके बतलाओ कि 'हम क्या करें? कैसे करें?'

भगवान् इसका उत्तर दे रहे हैं—'तुम्हें कर्म करना चाहिए'—'**युद्ध्यस्व।**'

'आगे बढ़कर पीछे हटना, काम नहीं मरदानेका।'

उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूतिकर्मसु।

उठना चाहिए! जागना चाहिए! समृद्धिदायी कामोंमें लग जाना चाहिए।

ईश्वरका दर्शन होता है। आत्मा-ब्रह्मके एकत्वका साक्षात्कार होता है। समाधि लगती है। मनसे शङ्का निकाल दो।

भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा सततमव्यथैः।

'यह काम अवश्य होगा।' ऐसा निश्चय करके कर्त्तव्य कर्ममें निरन्तर लगे रहो। घबराओ मत। कष्टकी ओर ध्यान मत दो।

हम लोग गङ्गाजी जा रहे थे। रास्ता भटक गये। पहाड़से पीठ लगाकर चलना पड़ा। जो कष्टसे डरेगा, वह लक्ष्य नहीं प्राप्त कर सकेगा। सत्त्वगुणमें फँसना नहीं। तमोगुणमें खोना नहीं। पूरी लगनसे चलना।

मनुष्य ढोंगी न हो जाय, दूसरोंको धोखा न दे, अपनेको धोखा देकर भ्रममें पड़ा न रहे, इसलिए भगवान् कर्म करनेकी रीति बतलाते हैं।

भले तुम अद्वैत ब्रह्मको नहीं जानते। भले यह नहीं जानते कि 'आत्मा अकर्त्ता है और सारा कर्म प्रकृति कर रही है।' पर ऐसे ढंगसे कर्म करो कि मोह छूट जाय। एक विवेकबुद्धि धारण करो।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्ध्यस्व विगतज्वरः॥ 30॥

अध्यात्म चित्तसे सब कर्मका मुझमें संन्यास करके आशाहीन, ममताहीन होकर बिना व्यथाके युद्ध करो।

'आत्मानमधिकृत्य यच्चेतः बुद्धिः तेन चेतसा अध्यात्मचेतसा। आत्मानमन्तर्यामिणं परमेश्वरम्।'

अन्तर्यामी परमेश्वरका आश्रय लेकर जो बुद्धि होती है, उससे युक्त होना अध्यात्मचेता होना है।

भगवान् शङ्कराचार्य कहते हैं—'सब काम प्रकृति करती है, यह बात छोड़ दो। दृश्य मिथ्या है, यह भी छोड़ दो। परमात्मा वैकुण्ठमें बैठा है तो वह लोगोंकी रक्षा—पुष्टिमें लगा है। यदि वह मन्दिरमें बैठा है तो तुमसे पुष्प चुनवाता, नैवेद्य बनवाता, अपनी सेवाके कर्म करवाता है। लेकिन समस्त कर्म करवानेवाला तुम्हारे भीतर बैठा है। तुम उसके लिए कर्म कर रहे हो जो सम्पूर्ण प्रकृतिका प्रेरक है।'

एक सेवक राजाज्ञासे राजाके लिए काम करता है। जिसकी प्रेरणासे जिसके लिए वह काम करता है, वही उस सेवकके कार्यका फलभोक्ता है। आप केवल सेवक हैं। महाकर्त्ता, फलभोक्ता वही अन्तर्यामी प्रेरक है। सेवकका लक्षण है—

गुन तुम्हार समुझहि निज दोसा।
जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा॥

एक सेवकको काम करते समय एक दिन कोई अच्छी बात सूझी। उसके अनुसार काम करके उसने स्वामीको बतलाया। स्वामी बोले—'वाह, यह तो तुमने बहुत अच्छा किया।'

सेवक—'मैंने क्या किया, यह तो आपके प्रतापसे हुआ।'

अपना अभिमान मत करो।

अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानाम्।

सबके भीतर रहकर सबका शासन वही अन्तर्यामी कर रहा है। उसीकी प्रेरणासे आप कार्य करते हैं। हृदयमें बैठा वह परमात्मा अध्यात्म है।

देहकृतानि इन्द्रियकृतानि मनःकृतानि सर्वाण्यपि कर्माणि संन्यस्य—न्यासः समर्पणम्।

देहसे होनेवाले, इन्द्रियोंसे होनेवाले, मनसे होनेवाले सभी कर्म अन्तर्यामीके प्रति समर्पित हैं।

सांख्यवादी संन्यास करता है तो कहता है—'कर्म प्रकृतिके हैं, मेरे नहीं। मैं न कर्म हूँ, न प्रकृति। मैंने कर्म और प्रकृति दोनोंका त्याग किया।'

एक वेदान्ती संन्यास करता है तो कहता है—'मुझ अद्वितीय-तत्त्वमें दूसरी वस्तु है ही नहीं। मिथ्या, माया प्रतीतिमात्रमें यह कर्म और कर्त्ता है।'

जो न अद्वितीय ब्रह्ममें स्थित हो और न प्रकृति-पुरुषका विवेक करे, वह सम्पूर्ण कर्म ईश्वरके प्रति समर्पित कर दे। यह ईश्वर बाहर तो बैठा नहीं है कि कोई कर्म उठाकर उसे दे देगा। एक स्वर्णके पत्रपर स्त्री-पुरुषका आकार बनाते हैं। यह स्वर्णमें स्त्री-पुरुषकी आकृति समर्पित है। तत्त्वतः दोनों ही आकार स्वर्ण हैं। लकड़ीकी बनी मूर्तिको बालक कहते हैं—'यह घोड़ा है, यह हाथी है।' बढ़ई कहता है कि 'यह काष्ठ है।' इसी प्रकार सब कर्म ईश्वरमें समर्पित हैं। ईश्वरातिरिक्त कुछ नहीं है।

कभी कर्म होता है, कभी नहीं होता। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, समाधि अवस्थाएँ ऐसी हैं, जैसे समुद्रमें ज्वार-भाटा आता है। अखण्ड परिपूर्ण परमात्मामें कर्मोंका ज्वार-भाटा है वृत्तियोंका उदय-विलय, निरोध-विरोध।

जैसे जलकी सब तरंगें समुद्रमें अर्पित हैं, जैसे सूर्यकी सब किरणें सूर्यमें अर्पित हैं, जैसे सबका श्वास वायुमें अर्पित है, वैसे ही सबका सब कर्म ईश्वरमें अर्पित है। इसमें '**संन्यस्तमिति विद्धि**' संन्यासका अनुभव करो।

'**निराशीर्निर्ममो भूत्वा**'—जोश छोड़ दो, होशमें आओ। ज्वर जोश है। निराशी—फलकी आशा भगवान्पर छोड़ो। अपने ऊपर उसे मत लो।

'**निर्मम**'—यह 'मेरा मेरा' मत कहो। जो मेरा कहता है, वह 'मम' भी कहता है। यदि यह रूमाल 'मेरा' है तो मैं रूमालवाला हूँ।

आत्मापर अनात्मवस्तुके अध्यारोपकी पद्धति यही है कि हम एक वस्तुको अपनी समझते हैं। इससे हम उस वस्तुवाले बन जाते हैं।

वेदान्तकी रीतिसे पहले ममता छूटती है, पीछे अहंता। ममता छूटना संन्यास है और अहंता छूटना ज्ञान। ममता रहते अहंकार छूट नहीं सकता। जिसकी संसारमें कोई वस्तु, व्यक्ति, कर्म या वृत्ति है, वह उस वाला है, कर्त्ता-भोक्ता है, परिच्छिन्न है।

वैराग्यकी प्रधानतासे ममता कटती है और विवेककी प्रधानतासे अहंता कटती है।

निराशी अर्थात् आगेके लिए आशा नहीं करता। निर्मम—वर्तमानमें किसीमें मेरापना नहीं।

'**विगतज्वरः**'—जो चीज जाय, उसके लिए जलो मत। जब युधिष्ठिर स्वर्गारोहरणको चले तो मार्गमें क्रमशः द्रौपदी, सहदेव, नकुल, अर्जुन और भीम गिरते गये। लेकिन युधिष्ठिरने मुड़कर नहीं देखा। इसी प्रकार जो छूटता जाय, उसके लिए शोक मत करो। आगेके लिए भय नहीं, पीछेके लिए शोक नहीं।

स्वामी श्रीशरणानन्दजी गंगोत्तरी जा रहे थे। मार्गमें बीमार हो गये। रुकना पड़ा तो साथके सब लोग छोड़कर चले गये। जब अच्छे हो गये तो नेत्रहीन होनेपर भी अकेले चले गये।

आप पहाड़पर चढ़ रहे हैं और आकाशकी ओर देखेंगे तो गिर पड़ेंगे। कहीं मार्गमें धर्मशालामें अच्छा कमरा मिल गया तो बोले—'अब यहीं बसेंगे।' ऐसा नहीं करना है।

'**निर्ममो भूत्वा**'—आगे बढ़ते चलो। किसीमें ममत्व करके रुको मत। आगेके लिए अमुक स्थिति मिलेगी, यह आशा मत करो। जो बीत जाय, छूट जाय, उसके लिए शोक मत करो।

'**युद्धयस्व**'—बस बढ़ो—परिस्थितियोंसे संघर्ष करते हुए कर्त्तव्यका पालन करो।

नैयायिक मानते हैं कि जीव स्वतन्त्र कर्त्ता है। सांख्यके मतमें जीव द्रष्टा है और प्रकृति कर्त्री है। गीतामें दोनों बातें मानी गयी हैं। जीव अकेला किसी दृष्टिसे कर्म नहीं कर सकता। उसे प्रकृतिकी, प्रकृतिके उपकरणोंकी सहायता लेनी ही पड़ेगी। प्रकृति स्वयं स्वतन्त्र कुछ नहीं कर सकती। उसमें भी कर्त्ता चाहिए।

हाथमें रक्त दौड़ता रहता है; किन्तु हाथसे घूसा मारना हो तो अहंकारका संयोग आवश्यक है। हाथ जोड़नेके लिए भी अहंकारका संयोग चाहिए। प्रकृतिसे रक्ताभिसरण, मलापहरण, अन्नपाक, केशनखादिवृद्धि तो होती है;

किन्तु धर्माधर्म प्रकृतिसे नहीं होता। घूसा दिखलानारूप अधर्म और हाथ जोड़नारूप धर्म तो अहंकार-पूर्वक होगा।

हम अपनेको कर्मके साथ जोड़ते हैं, तब धर्माधर्मकी उत्पत्ति होती है। हम अपनेको कर्मके साथ नहीं जोड़ते तब कर्म स्वतः होते रहते हैं।

जब शरीरसे धर्माधर्मकी उत्पत्तिके लिए कर्त्ता आवश्यक है, तब समग्र सृष्टिमें सुख-दुःखकी उत्पत्तिके लिए कर्त्ताकी आवश्यकता है या नहीं? इसीसे गीतामें कर्म करनेमें न देह स्वतन्त्र माना गया, न प्रकृति। भगवान्‌ने कहा—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

जैसे शरीरमें अध्यक्ष जीवात्मा है, वैसे ही प्रकृतिमें अध्यक्ष परमात्मा है। देहमें जीव कर्त्ता होकर धर्माधर्म उत्पन्न करता है। प्रकृतिमें परमात्मा कर्त्ता होकर जीवोंके धर्माधर्मका फल देता है। कार्यरूप देहमें अध्यक्ष जीव और कारणरूप प्रकृतिमें अध्यक्ष ईश्वर है।

'मैं मनुष्य हूँ, ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य हूँ' इस अहंकारसे मोहमें पड़कर जीव कर्त्ता बन गया है। जब आप यन्त्रपर बैठ गये तो यन्त्रके दोष आपको प्राप्त हो गये। अतः देहमें-से अपने 'मैं' को निकालना है।

आप शरीर एवं प्रकृतिमें-से 'मैं'का स्वरूप जानकर उसे निकाल सकेंगे या बिना जाने? यह तो जानना पड़ेगा कि कौन निकलेगा? जो निकला ही है, वह निकलेगा या जो सचमुच बँधा है, वह? अतः जानकारीकी बहुत आवश्यकता है।

तपन्तु तापैः प्रपतन्तु पर्वतादटन्तु तीर्थानि रटन्तु चागमान्।
यजन्तु यागैर्विवदन्तु वादैर्हरिं विना नैव मृतिं तरन्ति॥

भले कठोर तपस्या करो, पर्वतोंसे कूदकर मरो, तीर्थोंमें घूमो, वेदोंको रटो, बड़े-बड़े यज्ञ करो या शास्त्रार्थ करो; किन्तु श्रीहरिको अपनाये बिना कोई मृत्युसे पार नहीं होता।

भगवान् शंकराचार्यने उक्त श्लोकका उत्तरार्ध इस प्रकार दिया है—

ब्रह्मात्मबोधं न विना विमुक्तिः।
संसिध्यते जन्मशतान्तरेऽपि॥

कुछ भी कर लो; किन्तु ब्रह्मात्मैक्य बोधके बिना सौ जन्ममें भी मुक्ति नहीं हो सकती।

अपनी बुद्धिमें यह स्थिर करो कि 'वायुमें जैसे तिनके उड़ते हैं, वैसे ही ईश्वरकी प्रेरणासे मेरी बुद्धि, मन और इन्द्रियाँ काम करती हैं।'

जैसे सेनापतिके आदेशसे सैनिक युद्ध करते हैं, वैसे ही ईश्वरकी प्रेरणासे ये बुद्धि-मन-इन्द्रिय सक्रिय हैं। इसमें हमें कुछ लेना-देना नहीं है। जैसी आज्ञा-प्रेरणा होगी, वैसा करेंगे।

एकबार कोई श्रीमधुसूदन सरस्वतीके पास जाकर बोला—'आपने बड़ा उत्तम ग्रन्थ 'अद्वैतसिद्धि' लिखा है; किन्तु द्वैतवादी आपकी निन्दा करते हैं।'

श्रीमधुसूदन सरस्वती बोले—

ग्रन्थस्यैतस्य यः कर्ता स्तूयतामथ निन्द्यताम्।
मयि नास्त्येव कर्तृत्वमभेदानुभवात्मनि॥

इस 'अद्वैतसिद्धि' ग्रन्थका जो कर्त्ता है, उसकी स्तुति करो या निन्दा करो, मुझमें तो कर्तृत्व है ही नहीं, क्योंकि मैं तो अद्वितीय, अनुभवस्वरूप आत्मा हूँ।'

निन्दा-स्तुति कर्त्ताका स्पर्श करते हैं। मैं तो कर्त्ता ही नहीं हूँ। जो प्रेरक है, वही फल भोक्ता है।

अन्तःप्रविष्टं कर्तारमेतम्।

श्रीरामानुजाचार्यजी कहते हैं—'कर्त्ता ही अन्तःकरणमें प्रविष्ट होकर कर्म करा रहा है।

आत्मनि तिष्ठन्नामत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयत्येष ते आत्मान्तर्यामी अमृतः।

जो हमारे हृदयमें ही रहता है, जो हृदयसे भी अन्तरंग है, जिसे हृदय जानता नहीं, हृदय भी जिसका शरीर है, जो हृदयके भीतर रहकर हृदयका नियन्त्रण करता है, वही आपका परमप्रेमास्पद अन्तर्यामी अमृत आत्मा है।

प्रशासितारं सर्वस्य।

मनुने कहा—वह सबका प्रशासन करनेवाला है। भगवान् कहते हैं—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः।

'मैं सबके हृदयमें सन्निविष्ट हूँ।'

सैनिकों द्वारा जीते हुए देशका स्वामी राजा होता है, अतः

प्रवर्तकस्येशस्येतानि कर्माणि न मम।

ये कर्म मेरे प्रवर्तक ईश्वरके हैं, मेरे नहीं।

'**अध्यात्मचेतसा**'—सेवक जो कर्म करता है, उसका प्रेरक, निर्वाहक, फलभोक्ता स्वामी ही होता है। सैनिकोंके भोजनकी व्यवस्था, उनका गोला-बारूद मिलनेका प्रबन्ध राजा करता है और उनके द्वारा जीता गया राज्य राजाका है।

कर्मका थोड़ा फल हम अपने लिए भी चाहते हैं। सैनिक गोली चलानेके लिए, दौड़ने या लेटनेके लिए, बन्दूक धर देनेके लिए प्रस्तुत है, परन्तु वेतन उसे चाहिए। यजमान पुरोहितसे हवन करवाता है, तब प्रेरक यजमान है। घी-शक्कर-शाकल्य उसका है। यज्ञफल उसका है। लेकिन ऋत्विक्की दक्षिणा न मिलनी हो तो हवन करानेमें वह प्रवृत्त नहीं होगा।

हम ईश्वरके कराये कर्म करते हैं। ईश्वरकी प्रसन्नताके लिए करते हैं;किन्तु हमें भी तो कुछ चाहिए। इसके सम्बन्धमें भगवान्ने कहा—'निराशी' जैसे ऋत्विक् यजमानसे दक्षिणा पानेकी, सैनिक राजासे वेतन पानेकी आशा करता है, वैसे ईश्वरसे फल पानेकी आशा मत करना। क्योंकि फलके द्वारा भी कर्ममें ममता होती है।

मदभिलषितसाधनत्वात् मदर्थमिमं कर्म।

मेरे अभीष्टका साधन होनेसे यह कर्म मेरे लिए है।

एक वेदाचार्य बहुत उच्चस्वरसे वेदपाठ करते थे। किसी यज्ञमें सम्मिलित होना होता तो कहते—'आचार्यपद मिलेगा तब सम्मिलित होऊँगा। यह भी तयकर लेते—

आचार्याय द्विगुणं दद्यात्।

आचार्यको दूसरोंसे दुगुनी दक्षिणा देनी चाहिए।

यह उनकी 'ममता' थी कि 'मैं जैसा कर्म करा सकता हूँ, दूसरा नहीं करा सकता।'

'निराशीः'—कर्ममें आशा मत रखो। कर्म करनेमें जो ऐश्वर्य बोध होता है, वह अपने प्रति न करके परमेश्वरके प्रति रखो।

कोई तैरते-बहते आधी गंगातक पहुँचकर कहे—'अब तैरना बंद करता हूँ। थक गया हूँ।' तो किनारे खड़ा व्यक्ति कहेगा—'थोड़ा और साहस करके तैर जाओ, अन्यथा डूब जाओगे।'

जब मनुष्य एक कर्ममें प्रवृत्त हो लेता है, जैसे एक लड़केने विवाह कर लिया, पत्नी घर आ गयी और तब कहे—'अब संन्यास ग्रहण करता हूँ, तो सभी कहेंगे—'संन्यास लेना था तो विवाह न करते। अब तो संन्यास लेना पाप है। अब तो पत्नीका पालन करना होगा।'

एक बार एक बारात कलकत्ते गयी। द्वारचार होने लगा तो लड़का बोला—'हम विवाह नहीं करेंगे।'

लोग बिगड़े—'विवाह नहीं करना था तो लड़की पसंद क्यों की? सगायी क्यों करायी? बारातके साथ क्यों आये? अब तुम्हें विवाह करना पड़ेगा।'

जब यज्ञ प्रारम्भ कर दिया तो पूर्णाहुति करनी पड़ती है। कर्म प्रारम्भ कर दिया तो उसका अन्त करना पड़ता है। अत: 'युद्ध्यस्व' युद्धकी तैयारी हो गयी। सेनाएँ एकत्र कर ली गयीं। शंख बज चुके। अब 'युद्ध नहीं करूँगा' यह नहीं चलेगा। कर्मको प्रारम्भ करके उसे पूर्ण न करना अकल्याणकारी होता है।

अर्जुनने कहा है—'साम्प्रतं त्वमसि कर्णधार:' भगवन्! हमारे इस समय कर्णधार आप ही हैं।' अत: भगवान् शोक-मोहका निवारण करते हैं। उनका 'युद्ध्यस्व' अपवादापवाद है।

एक व्यक्ति कहीं जा रहा था। मार्गमें समाचार मिला—'आगे पुल टूट गया है। मार्ग ठीक नहीं है। लौट चलो!' वह व्यक्ति रुक गया। इतनेमें दूसरा समाचार आया—पुल बन गया। मार्ग ठीक हो गया। आगे जाओ!' यह 'आगे जाओ' आदेश नहीं है। वह व्यक्ति जा रहा था। पुलका टूटना सुनकर रुका था। अत:'आगे जाओ' रुकावटके भ्रमको दूर करना मात्र है। इसी प्रकार 'युद्ध्यस्व' युद्ध करनेकी आज्ञा नहीं है। युद्ध करने तो अर्जुन युद्ध भूमिमें आया ही था। उसकी युद्ध करनेकी प्रवृत्तिमें जो शोक-मोहकी बाधा आ गयी थी, भगवान् उसे दूर करते हैं।

कर्म करें तो उसे पूर्ण रूपसे करें। बेमनसे न करें। पछताते-पछताते न

करें। एकबार मैं और मेरे एक मित्र यात्रामें निकले। एक स्टेशनपर मैं रह गया और वे ट्रेनमें चढ़ गये। ट्रेन छूट गयी। सर्दीका समय था। कपड़े उनके पास थे और पैसा मेरे पास था। मैंने कुछ खानेके लिए खरीदा। अब उसे मुखमें डालूँ तो गलेसे नीचे न उतरे। इस प्रकार पछताते-पछताते भी अनेक बार मनुष्य कर्म करता है।

कोई स्त्री रोती भी जाय और रोटी बनाती जाय तो वह रोटी खानेवाला सुखी नहीं रह सकता। आप प्रसन्न नहीं हैं तो बाहरकी कोई वस्तु आपको प्रसन्न नहीं कर सकती। प्रसन्नताका कोष, ज्ञान, जीवनका मूल स्रोत आपके हृदयमें है। यदि हृदयमें प्रेमका, ज्ञानका, आनन्दका उछलता स्रोत न हो तो जीवनके सब काम व्यर्थ हैं।

शान्त—निर्विषय ज्ञानमें कर्म नहीं होता। उद्दीप्त आनन्दसे परिपूर्ण ज्ञानका नाम प्रेम है। उल्लसितज्ञानमें ही कर्म होता है। अत:आप जिससे व्यवहार करें, उसे प्रेम दें। प्रेम लेनेको व्यवहार न करें।

'**विगतज्वरः युद्ध्यस्व**'—द्वेष-दूषित हृदयसे बाण मत मारो। बाण भी चलाओ तो प्रेमसे भरकर। जिससे मिलो, उसे प्रेम दो।

हँसकर बोलो। मधुर बोलो।

'**मयि सर्वाणि कर्माणि**'—श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'कर्मका दायित्व मुझपर छोड़ दो।'

जब हम कह लेते हैं कि—'अन्त:करण मेरा, शरीर मेरा, इन्द्रियाँ मेरी, इनसे किये कर्म मेरे' तब भगवान् कहते हैं—'जब तुम्हारी इतनी आसक्ति करण-करणी, कर्म-कर्मी, फल-फली बननेमें है तो इसे तुम्हीं लो।'

भगवान् किसीपर बलात् कर्म या कर्मफल नहीं लादते। पन्द्रह वर्ष पूर्वकी बात है, एक सेठके बंगलेपर दो-ढाई सौ मजदूर चढ़ आये। सेठने डरकर गोली चलायी। दो-चार मजदूर मारे गये। भीड़ भाग गयी। पीछे पुलिस आयी। मुकदमा चला। न्यायालयमें सेठके जमादारने कहा—'रक्षा करनेका दायित्व मेरा है, अत: गोली मैंने चलायी।'

सेठ छूट गये और जमादारको दो-तीन महीनेकी सजा हुई।

मेरे गाँवके पास एक खेतकी मेड़पर दो व्यक्ति बंदूक लेकर पहरा दे रहे

थे। रातमें 50-60 व्यक्ति उस खेतकी मेड़ काटने आये, जिससे पानी भरकर खेत डूब जाय। पहरा देनेवालोंने गोली चलायी। आठ-दस व्यक्ति मारे गये। गोली चलानेवाले भाग गये। उनके बड़े भाईने न्यायालयमें कहा—'अपना प्राण बचानेके लिए गोली मैंने चलायी।' वे 108 दिनतक प्रतिदिन 108 हनुमान-चालीसाका पाठ करते रहे। न्यायालयने उन्हें निर्दोष कहकर छोड़ दिया। तात्पर्य यह है कि हम आप स्वयं देह-इन्द्रिय-मनसे हुए कर्मको अपना बतलाने लगते हैं, तब हमें उन कर्मोंका फल भोगना पड़ता है।

श्रीमध्वाचार्यजी इस श्लोकका अर्थ करते हैं—

'सर्वाणि कर्माणि मयि एव संन्यस्य भ्रान्त्या जीवे अध्यारोपितानि मयि एव विसृज्य भगवानेव सर्वाणि कर्माणि करोति इति संन्यासः।'

भ्रान्तिसे जीवने अपनेको कर्त्ता मान लिया है। भगवान् ही सब कर्म कर रहे हैं, यह समझ लेना भगवान्में कर्म-संन्यास कर देना है।

नाहं करोमीति निर्ममत्वम्।

'मैं कर्म नहीं करता हूँ' यह भाव ही निर्ममत्व है।

श्रीवल्लभाचार्यजी कहते हैं—

फलविषयः त्यागः निराशीरिति।

जो कर्म कर रहे हो, उसका फल नहीं चाहिए, यह बात 'निराशी:' कहकर कही गयी है। 'कर्म मेरा है' इस ममताविषयक त्यागको 'निर्मम' शब्दसे कहा। 'विगतज्वर:' 'कर्तृत्वविषयक' त्याग बतलाता है।

मैं कर्त्ता नहीं। कर्म मेरा नहीं। इसका फल मुझे नहीं चाहिए।

यदि आप कहते हैं—'फल मुझे चाहिए' तो पकड़े जायेंगे।

प्राय: जब कहीं हत्या होती है तो पुलिस यह देखती है—'इस व्यक्तिके मरनेसे किसको लाभ होता है?' जिसे लाभ होनेवाला होता है, उसे पहले पकड़ा जाता है।

कर्मसे हमारा कोई लाभ नहीं। हमने किया, यह हमारी स्वीकृति नहीं है। जिस हथियारसे हत्या हुई, वह हमारा नहीं है। ऐसी अवस्थामें वह कर्म हमने किया, यह कोई कैसे कहेगा और कैसे सिद्ध करेगा?

श्रीवल्लभाचार्यजी 'संन्यस्य' का अर्थ 'आधिदैविक त्याग होना चाहिए'

ऐसा मानते हैं। आप कहते हैं—'नेत्र देखते हैं।' लेकिन नेत्र प्रकाशके सहारे देखते हैं। समष्टि प्राण न होते तो हाथ काम करते? हम बुद्धिको कर्त्ता मानते हैं; किन्तु बुद्धिमें बैठा परमात्मा जो उसे शक्ति देता है, उसको भूल जाते हैं।

यह घड़ी अधिभूत है। इसे देखनेवाले नेत्र अध्यात्म हैं। प्रकाश अधिदैव है। अधिदैव प्रकाश न हो तो घड़ी दीखेगी?

बुद्धिसे किसी विषयमें निश्चय करनेको हम सोचते हैं। जिसके द्वारा निश्चय किया गया, वह बुद्धि अध्यात्म है। जिसके विषयमें निश्चय किया गया, वह विषय अधिभूत है। निश्चय और बुद्धिके मध्य एक ज्ञानका प्रकाश है, वह अधिदैव है।

ब्रह्म तो घड़ी, नेत्र और प्रकाश तीनोंमें है। तीनों उसमें अध्यारोपित हैं। लेकिन जो बुद्धिके द्वारा निश्चय करनेमें, नेत्रके द्वारा घड़ी देखे जानेमें अनुग्रहकर्त्ता—सहायक है, उसे कहते हैं ईश्वर। वह अधिदैव है। आज लोग इसी ईश्वरपर अविश्वास करते हैं।

'**युद्ध्यस्व विगतज्वरः**'—जहाँ कुश्ती द्वेषसे नहीं, दर्शकोंकी प्रसन्नताके लिए हो रही है, वहाँ ज्वर कैसा? वहाँ राग-द्वेषका क्या काम, जहाँ ईश्वरकी प्रसन्नताके लिए काम किया जाता है।

जहँ जहँ चलूँ सोइ परिकरमा, जो जो करूँ सो पूजा।

दुःख जितना है, मूर्खतासे है। जो अचित् है, वही अनानन्द है, जो अनानन्द है, वही अचित् है। दुःख और अज्ञान पर्यायवाची शब्द हैं। वही मृत्यु है। अपनेमें न दुःख है, न मृत्यु और न अज्ञान। अज्ञान मिट जाय तो न दुःख है, न मृत्यु।

जब आशा और ममता छूट जायगी, निराशी और निर्मम होकर काम करोगे तो 'विगतज्वर' हो जाओगे। जोर नहीं लगाना पड़ेगा। बिना तनावके काम होगा। जब तनाव होता है, तब कर्तृत्व बड़ा बलवान् होता है।



अब भगवान् श्रद्धा उत्पन्न करते हैं।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥ 31॥

जो मनुष्य इस मेरे नित्य मतपर नित्य स्थिर रहते हैं और जो (इसके प्रति) श्रद्धावान हैं और अनसूयु हैं, वे भी कर्मसे छूट जाते हैं।

'ये मानवाः'—कर्ममें अधिकारीका विचार होना चाहिए। वृहस्पतिसत्र करना हो तो ब्राह्मण होना चाहिए और राजसूय या अश्वमेध यज्ञके लिए क्षत्रिय होना आवश्यक है। भगवान् कहते हैं—'यह जो हम नित्य यज्ञ बतला रहे हैं, इस निष्काम कर्मानुष्ठानरूप यज्ञके 'मानवाः' सब मनुष्य अधिकारी हैं।

मायाः प्रमायाः नवाः मानवाः।

जो ज्ञान-प्रभाके विषयमें नित्य नूतन है। जिनमें नित्य नये आविष्कार करनेवाली प्रज्ञा है।

'मे मम नित्यं मतम्'—यह मेरा मत नित्य है अर्थात् यह सिद्धान्तकालिक नहीं है कि सत्ययुगमें मानने योग्य हो और कलियुगके लिए न हो या कलिके लिए हो, सत्ययुगके लिए न हो। जैसे स्मृतिमें 'कलिवर्ज्यप्रकरण' है। यह मत नित्य है—सर्वदेश, सर्वकाल, सर्वजातिके लिए है।

'नित्यमनुतिष्ठन्ति'—इसपर सदा स्थिर रहते हैं। एक दिन या एक घण्टे आचरण करनेका नहीं है।

'श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो'—श्रद्धा अरुन्धती है। अनसूया अदोष दृष्टि है।

असूया गुणेषु दोषाविष्करणम्।

गुणमें भी दोष ढूँढ़ निकालनेका नाम असूया है। एक सज्जन सन्ध्या कर रहे थे। मैंने कहा—'वे बड़े प्रेमसे सन्ध्या करनेमें लगे हैं।'

एक सज्जन बोले—'आप क्या जानें, यह तो दिखावेकी सन्ध्या है।' यह असूया हुई। गुरु, शास्त्र,ईश्वरमें श्रद्धा होनी चाहिए। श्रीमध्वाचार्यजी कहते हैं—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।

असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥ (गीता 17.28)

अर्जुन! श्रद्धारहित होकर जो हवन, दान, तपस्या या कोई कर्म किया जाता है, उसे असत् कहा जाता है। उसका न परलोकमें कोई फल मिलता है, न इस लोकमें।

ये नानुतिष्ठन्ति श्रद्धावन्तोऽनसूयवो भवन्ति तेऽपि मुच्यन्ते।

जो इसपर स्थिर नहीं रहते; किन्तु इसपर श्रद्धा करते हैं, इसमें दोष नहीं निकालते, वे भी कर्ममें छूट जाते हैं। यह बात 'अपि' से निकलती है।

भगवान् कहते हैं—'कर्ममें वासना न हो, अभिमान न हो; लोकहित-दृष्टि हो तो तुम करते हुए भी कर्म-बन्धनसे मुक्त हो।'

बन्धन वासनाका है। जो सकाम कर्म करता है, वह बन्धनमें पड़ता है। कामनामें परिच्छिन्नता है। आप किसी वस्तुको अप्राप्त नहीं मानते तो उसे चाहते क्यों हैं? यदि किसी वस्तुको अप्राप्त मानते हैं तो अपनेको परिच्छिन्न अवश्य मानते हैं। अपनी अपरिच्छिन्नता—ब्रह्मताका अज्ञान है, इसीलिए कामना होती है। कामनाका अर्थ है कि आप अपनेको अभावग्रस्त मान रहे हैं—'यह वस्तु हमारे पास नहीं है। यह हमको चाहिए।'

वह वस्तु आपके पास क्यों नहीं है? इसलिए कि आप एक शरीरमें 'मैं' कर बैठे हैं। एक शरीरमें बंदी हैं। आप अपनेको अबद्ध जानते तो कुछ आपको अप्राप्त नहीं होता।

......जक्षत्क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरम्... (छान्दोग्य 8.12.3)

राजाके शरीरनें बैठा वही नाना पदार्थ भोजन कर रहा है, इन्द्रके देहमें बैठा वह अप्सराओंके साथ विहार कर रहा है, वही वैकुण्ठमें पार्षदोंका स्वामी बना बैठा है; किन्तु स्त्रियोंसे विहार करते, सवारीसे यात्रा करते, वयस्कोंके साथ खेलते हुए भी 'मैं यह शरीर हूँ' यह तो उसे स्मृति ही नहीं होती।

सकाम कर्ममें चार दोष हैं—1. अपनी अनन्तता अज्ञात है। 2.अपनी परिच्छिन्नताकी भ्रान्ति है। 3.कुछ मुझमें नहीं, अन्यमें है। 4.सुख शान्तिमें नहीं, भोगमें है। ये चार बातें आयीं, तब कामना हुई। तब कर्मसे भोग मिलेगा, यह निश्चय हुआ। जब भोगकी प्राप्ति आवश्यक हुई तो उसके लिए कर्म करना भी

आवश्यक हो गया। ऐसी अवस्थामें कर्मके बन्धनसे छूट नहीं सकते। फिर तो वासना, कर्म और भोगका चक्र चलता ही रहेगा। इसलिए भगवान् कहते हैं— 'हृदयसे वासना निकाल दो।'

'**ये मे मतमिदं नित्यम्**'—दृष्टार्थ कर्म परिस्थितिके अनुसार होता है और अदृष्टार्थ कर्म शास्त्रके अनुसार होता है। परमार्थ अनुभूतिके लिए जो निष्कामता है, वह नित्य है।

एक मनुष्यका मन भोगकी ओर भटक गया तो दूसरे मनुष्यका मन कर्मकी ओर भटक गया। अब वे आत्मोन्मुख कैसे हों? कामका मुख बाहर है और आत्मा भीतर है।

एक स्त्री छज्जेमें खड़ी होकर सड़ककी ओर देख रही है। उसका पति कमरेमें है। जबतक वह सड़ककी ओर देखना बंद करके मुख न फेरे, पतिके दर्शन नहीं हो सकते। इसी प्रकार विषय-प्रवाहकी ओर जिसका मुख है, वह भीतर बैठे परमात्माको देख नहीं पाता। जो मुख भीतर मोड़ेगा, वह आत्मरूपमें बैठे परमात्माका दर्शन पायेगा। उसकी वासना स्वत:मिट जायगी। उपनिषद्में आया—

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः। (कठो. 2.3.15)

हृदयमें वृत्तियों और विषयोंकी गाँठ-पड़ गयी है। न वृत्तियाँ कष्ट देती हैं और न विषय। इनमें पड़ी गाँठ कष्ट देती है। 'हमारी वृत्तिमें यह विषय बना रहे' इस आग्रहका नाम गाँठ है। गाँठ यही है कि वृत्ति बार-बार किसी एक विषयको स्मरण करती है। यह गाँठ खुलती है, तब परमात्म-साक्षात्कार होता है। अत:काम करो, पर विषयकी गाँठ मत पड़ने दो।

आपके कर्म करनेका तात्पर्य क्या है—वासनापूर्ति या वासना निवृत्ति? आपको स्वाद सुख किसमें आता है? वासना पूर्तिमें या वासना-निवृत्तिमें?

कोई ऐसे लोग होते हैं, जो कर्म किये बिना रह नहीं सकते—

ये अनुतिष्ठन्ति ते तु मुच्यन्त एव किन्तु ये अस्मिन् मते श्रद्धावन्तो भवन्ति अनसूयवश्च भवन्ति तेऽपि कर्मभिर्मुच्यन्ते।

जो मेरे इस मतपर चलते हैं, वे तो मुक्त हो ही जाते हैं; लेकिन जो इसपर श्रद्धा करते हैं और इसमें दोष नहीं निकालते, वे भी कर्मोंसे मुक्त हो जाते हैं।

'श्रद्धावन्तो'—श्रद्धा होती है निरभिमानितासे। विद्या, बुद्धिका अभिमान जबतक त्याग नहीं देते, तबतक नयी बात सीख नहीं सकते। श्रद्धा—विद्या, बुद्धि, बल, रूप, गुण, परिवार, पद आदिके अभिमानको दूर करनेवाली महौषधि है। यह हृदयमें-से अभिमानके मलको दूर करनेवाली जड़ी है।

विशेष-विशेष पदार्थोंके ज्ञानकी वृत्ति अभिमानमें जुड़ती है—'मैं घट जानता हूँ, मैं पट जानता हूँ, मैं अमुक विद्या जानता हूँ।' लेकिन इसका नाम ज्ञान नहीं है। ज्ञान वह है, जिसमें अभिमान कभी प्रकट होता, कभी डूब जाता है। अभिमान जिसमें एक प्रतीति है, वह ज्ञान है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिका अभिमान ज्ञानमें प्रकाशित होता है। अनारोपिताकार तत्त्व ज्ञान है। ज्ञान अभिमानके अधीन नहीं है। अभिमान ज्ञानसे सत्तावान् है। ज्ञानकी एक स्फूर्तिका नाम अभिमान है। अभिमानी पुरुष तत्त्वज्ञानीके चरणोंमें बैठकर ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। अभिमान दूर होनेपर ईश्वर प्रकट होता है और अभिमान श्रद्धासे दूर होता है।

नास्ति असूया यस्य स अनसूयुः अनसूयन्ति इति अनसूयन्तः। न सूते इति असूया-वन्ध्या। परगुणेषु दोषाविष्करणमसूया।

जिसमें असूया नहीं है, वह अनसूयु है। जो अनसूयु हैं, वे असूया नहीं करते। असूया वन्ध्या है। उससे कोई फल नहीं निकलता। दूसरेके गुणोंमें दोष निकाल देनेकी वृत्तिका नाम असूया है।

श्रद्धाका अर्थ है—'मुझमें दोष नहीं है।' अनसूयाका अर्थ है—'सामनेवालेमें दोष नहीं है।' स्वयं निर्दोष हो निर्दोषसे मिलो।

'भगवान्के मतमें गुण ही गुण हैं।' भले उनपर आचरण नहीं होता, पर यह बात समझते तो हो। इसका नाम श्रद्धा है। बुद्धिमें जब यह सिद्धान्त उतर गया, मनसे इसे चाहने लगे तो शरीरसे भले अभी न हो पाता हो, कभी-न-कभी जीवनमें भी उतर ही आयेगा और तुम भी कर्मसे मुक्त हो जाओगे।

'अननुतिष्ठन्तोऽपि'—जो अभी इसपर आचरण नहीं कर रहे 'तेऽपि मुच्यन्ते'—वे भी मुक्त हो जाते हैं।

पहले जब मैं ऋषिकेश जाता था तो जब गृहस्थोंके सत्संगमें जाता तो वहाँ चर्चा रहती—'निष्काम कर्मसे मुक्ति मिल जाती है।'

संन्यासियोंके सत्संगमें चर्चा होती—'केवल ज्ञानसे ही मुक्ति मिलती है।'

मैं विना भेदभावके गृहस्थ, संन्यासी, शैव, शाक्त, वैष्णव, राधा-स्वामी, कबीरपन्थी और औघड़ोंके सत्संगमें भी जाता था।

प्रश्न यह है कि कर्मानुष्ठानसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है या कर्मत्यागसे? परमात्माकी प्राप्ति तो तत्त्वज्ञानसे होती है। जो सिद्ध वस्तु अभी, यहीं, इसी रूपमें विद्यमान है, वह ज्ञात होकर ही कल्याणरूप हो सकती है। केवल अज्ञानका ही उसमें व्यवधान है; किन्तु अज्ञान दूर होगा ज्ञानसे और ज्ञान होगा शुद्ध अन्तःकरणमें।

सकाम-भावसे कोई कर्मत्याग करे तो? एकने संन्यास तब लिया जब पक्का आश्वासन मिल गया कि मठकी गद्दी मुझे मिलेगी। इस कर्मत्यागसे अन्तःकरण शुद्ध होगा? ज्ञान मिलेगा?

एकने कर्म इसलिए किया कि 'इससे अमुक सज्जन प्रसन्न होंगे और तब अपनी पुत्रीसे विवाह कर देंगे।' इस कर्मसे अन्तःकरण शुद्ध होगा? तत्त्वज्ञान होगा?

तात्पर्य यह है कि मनुष्य कर्म करके भी बँधता है और कर्म त्यागकर भी। बन्धन छुड़ानेवाला तो निष्काम कर्म है। एकने निष्कामभावसे कर्म-त्याग किया और एकने निष्कामभावसे कर्मानुष्ठान किया। इन दोनोंका ही अन्तःकरण शुद्ध होगा। निष्कामता ही अन्तःकरणकी शुद्धि है। अन्तःकरणमें कामना ही अशुद्धि है। जब बाहरकी वस्तु पानेकी कामना नहीं है तो ज्ञान कोई नाम या आकार नहीं पकड़ेगा। जिसकी कामना होती है, उसके नाम और रूपको अन्तःकरण पकड़ लेता है। ज्ञान दर्पणके समान है। कामना उसमें चित्राङ्कन कर देती है। जब कामना नहीं होगी तो चित्राङ्कन नहीं होगा। टेप नहीं लगा है तो भले टेप-रिकार्डर घूमता रहे, रिकार्ड कैसे होगा? अतः जिनमें कामना नहीं है वे तो कर्मबन्धनसे मुक्त होते ही हैं; किन्तु जो इस निष्कामताके मतपर श्रद्धा करते हैं, इसमें दोष नहीं निकालते, वे भी कर्मोंसे मुक्त हो जाते हैं।



अब भगवान् विपरीत स्थिति बतलाते हैं कि जो इस मतपर श्रद्धा नहीं करते, इसमें दोष निकालते हैं, इसका आचरण नहीं करते, उनका क्या होता है?

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः॥ 32॥

जो मेरे मतमें असूया करते हैं और इसपर स्थित नहीं होते, उन सर्वज्ञानविमूढ मूर्खोंको नष्ट हुआ समझो।

ये मे एतन्नित्यं मतं नानुतिष्ठन्ति ते तु मानवाः।

जो मेरे इस नित्य मतपर नहीं चलते हैं, उन मनुष्योंकी बात सुनो।

'**सर्वज्ञानविमूढान्**'—उन्हें कोई ज्ञान होता ही नहीं। अनुष्ठानहीन जीवन तो निकम्मा है। ऐसा व्यक्ति जहाँ जाना चाहता है, उसीके मार्गसे दूर रहता है।

एक दिन एक सज्जन मेरे पास आये। मैंने उनसे कहा—'चौपाटीपरसे अमुक काम कर आओ।'

वे—'मैंने चौपाटी कभी देखी ही नहीं।'

मैं—'प्रसिद्ध स्थान है। किसीसे पूछ लेना।'

वे—'मुझे तो डर लगता है।'

'**अश्रद्दधानानचेतसो विद्धि अभ्यसूयतः नष्टान् विद्धि अननुतिष्ठतः सर्वज्ञानविमूढान् विद्धि।**'

जो श्रद्धा नहीं करते, उन्हें मूर्च्छित समझो। जो इसमें दोष निकालते हैं, उन्हें नष्ट हुआ समझो। जो इसपर स्थित नहीं होते, उन्हें सब विषयोंमें अत्यन्त मूर्ख समझो।

जो चलना ही नहीं चाहते, वे विमूढ हैं। जो दोष निकालते हैं, वे नष्टप्राय हैं। जो श्रद्धा नहीं करते, वे अभी अचेत—मूर्च्छित हैं।

वस्तुतः अपने आपतक—अपने घर पहुँचनेका यह मार्ग है। इसमें भला भूलनेका क्या भय; किन्तु जो इसीमें दोष निकालेंगे, वे तो भटकते ही रहेंगे।

एक व्यक्तिने भाँग पी। नशेमें वह हठ करने लगा—'नौका मँगाओ। हम नदीके उस पार अपने घर जायँगे।'

लोगोंने समझाया—'तुम्हारा घर इसी पार है। नौकाका विचार छोड़ो। इस समय तुम नशेमें हो।'

वह—'तुम लोग मुझे धोखा दे रहे हो। तुम लोग ठग लगते हो।'

नष्टान्—'णश अदर्शने' वे नष्ट हैं, उन्हें अपने आपका दर्शन नहीं होगा; क्योंकि वे 'अचेतस'—असावधान हैं।

जो श्रद्धालु नहीं है, वह मूर्च्छित है। नन्हा बच्चा जब पिताका हाथ छोड़ देता है, तब पिता उसका हाथ पकड़ लेता है। श्रीकृष्ण हाथ पकड़कर चलाना चाहते हैं। इस पर अश्रद्धा मत करना। इसमें दोष मत निकालना।

मनुष्य यदि स्वार्थ ही स्वार्थ देखता हो, भोगसे रहित एवं वासनासे रहित स्थितिकी कल्पना ही न करता हो, तो क्या वह ईश्वरको समझ सकेगा? वह तो समझेगा कि ईश्वरने भी किसी प्रयोजनसे ही सृष्टि की है। वह दोषदृष्टिसे मुक्त नहीं होगा।

जो स्वयं निष्काम कर्म नहीं कर सकता, वह दूसरेको भी निष्काम भाव नहीं समझ सकता।

एक दिन चीलोंका झुण्ड एकत्र था। वे सब मांसयुक्त हड्डियोंपर छीना-झपटी कर रही थीं। ऊपरसे हंसोंकी पंक्ति निकली। चीलोंको लगा कि 'हंस बलवान हैं। हमारी हड्डियाँ वे छीन न लें।' वे अपने पंजों और चोंचमें हड्डियाँ लेकर भागने लगीं।

हंसोंने देखा तो बोले—'तुम सब डरो मत। हम तो मान-सरोवर-निवासी, कमलनाल और मोती चुगनेवाले हैं।'

लेकिन चीलें भाग गयीं। उन्हें विश्वास ही नहीं हुआ कि हंस उनसे उनका आहार नहीं छीनेंगे। निष्काम कर्म न करनेवाला समझता है—'जैसे मैं प्रत्येक कर्म स्वार्थसे ही करता हूँ, वैसा ही सब करते हैं। ऐसे लोगोंकी दृष्टिमें संसारमें कोई सत्पुरुष नहीं है। सब स्वार्थी हैं। सब भोगी हैं।

जब व्यक्ति निष्काम कर्म करने लगता है, तब सोचता है—'जैसे मैं बिना स्वार्थ करता हूँ, दूसरे भी मेरे समान निःस्वार्थ-कर्मी हो सकते हैं!'

पापी सर्वत्र पापमाशङ्कते।

जिसके हृदयमें पाप भरा है, उसे सर्वत्र पाप ही दीखता है। उसे गंगास्नान—पण्डोंका प्रपञ्च, मन्दिर—पुजारियोंका षड्यन्त्र और यज्ञ-दान—ब्राह्मणोंका जाल दीखेगा। सत्संग भी उसे जीविका चलानेकी एक पद्धति दीखेगी। उसे गंगासे निर्मलता, मन्दिरसे आस्था, यज्ञ दानसे त्यागभाव और सत्संगसे सद्बुद्धिकी प्राप्ति दीख ही नहीं पड़ेगी। जो निष्काम मार्गपर नहीं चलता, कोई उत्तम काम वह नहीं कर सकता।

कई लोग कार्यमें दोष भी देखते जाते हैं और उसे करते भी जाते हैं। अरे, दोष दीखता है तुम्हें; तो उस कामको क्यों करो?

'**सर्वज्ञानविमूढांस्तान्**'—उसे न ठीक देखना आयेगा—न ठीक सुनना, न ठीक बोलना आयेगा—न ठीक चलना। कर्म शब्द श्रुतिमें अन्नब्रह्मके रूपमें आया है—**अन्नं बहु कुर्वीत।**

अर्थात् जो भी कर्म करो, सब आदरपूर्वक करो। अन्नका आदर करो। यदि आप अपने शत्रुसे मुस्कराकर प्रेमसे बोलते हैं तो आधी जीत आपकी हो गयी। यदि आप उसे अपने घर ले आकर, ऊँचा आसन देकर सत्कार करते हैं तो आपकी पूरी जीत हो गयी।

हमलोग अपनी वाणीके दोषसे लोगोंको शत्रु बना लेते हैं। स्वार्थी व्यक्ति ऐसी भूल सब कामोंमें करता है।

लोग दूसरोंको भोजन दे देते हैं, जल पिला देते हैं;किन्तु करते हैं तिरस्कार करते हुए। वे उस व्यक्तिमें बैठे ईश्वरका ही तिरस्कार करते हैं। खिलाते समय भी कहेंगे—'कहाँसे टपक पड़े?'

व्यक्ति अपने कर्मसे दुखी या दरिद्र होता है, यह तो ठीक है; किन्तु उसका अपमान करने, उसे दुखी करनेका अधिकार तुम्हें कहाँ है? जिसे फाँसीका दण्ड मिला है, दो घण्टे बाद फाँसी होनी है, उसे कोई जेलका व्यक्ति एक डण्डा या एक चपत मारे तो दण्डका भागी होगा या नहीं?

भोगके लिए मनुष्य नहीं है। मनुष्यके लिए भोग हैं। कर्मके लिए मनुष्य नहीं है। मनुष्यके लिए कर्म हैं।

'**अभ्यसूयतः नष्टान् विद्धि**'—काम करते हुए भी जो उसकी निन्दा करते जा रहे हैं, उसमें दोष बतला रहे है, वे तो जीवित ही नरकमें हैं मरकर तो जायेंगे ही।

जो श्रद्धा नहीं करते, वे 'अचेतसः' विवेक—बुद्धिसे रहित है। अश्रद्धालु होना—अपने बड़ोंके अनुभवसे लाभ न उठाना मूर्खता है। जैन महात्माओंने अश्रद्धालुके लिए कहा—

ज्ञानाय दत्तोऽञ्जलिः—चन्द्रप्रभाकर

जिसमें श्रद्धा नहीं है, उसने ज्ञानको ही तिलाञ्जलि दे रखी है। अन्यथा—

मुनिन प्रथम हरि कीरति गाई।
तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई॥

किसी वृद्धने युवकसे कहा—'अफीम खानेसे नशा होता है।'

युवक—'मैं खाकर देखूँगा।'

अविवेकी होनेसे जो ज्ञान, जो अनुभव आज अभी मिल रहा था, उसकी प्राप्तिमें देर हो गयी एवं श्रम तथा पीड़ा और भोगनी पड़ेगी।



ऐसा क्या कारण है कि लोग भगवान्‌के मतका अनुष्ठान न करके भिन्न-भिन्न मतोंका अनुसरण करते हैं ?

कोई मनुष्य सचमुच ऐसा नहीं होता कि उसके हृदयमें श्रद्धा न हो। मनुष्य अपनी माताके मातृत्वपर श्रद्धा करता है, जबकि अनेक बार अस्पतालोंमें बच्चे बदल जाते हैं। अपने पिताके पितृत्वपर श्रद्धा करता है। मनुष्यके अन्तःकरणमें जन्मजात श्रद्धाका बीज होता है। जो इस श्रद्धाका त्याग करता है। वह अपने प्रति भी अन्याय करता है।

प्रत्येक बीजमें एक विशेषता होती-है। सभी आम आम हैं; किन्तु प्रत्येक जातिके आमकी एक पृथक् विशेषता होती है। इसी प्रकार प्रत्येक इकाईकी एक विशेषता होती है, जो पूर्व-पूर्व सीढ़ीसे उसमें आयी है। उसमें पूर्व जन्मका संस्कार होता है। भूमि, खाद, जलवायुका संस्कार होता है। इससे प्रत्येकको श्रद्धामें अन्तर होता है। इसीसे सब भिन्न-भिन्न मतोंका अनुसरण करते हैं।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥ 33॥

ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृतिके अनुसार ही चेष्टा करता है। सभी प्राणी अपने स्वभावपर जाते हैं। इसमें नियन्त्रण क्या करेगा ?

'प्रकृतिं यान्ति भूतानि'—प्रत्येकमें एक इकाई है और उसकी एक व्यक्तिगत विशेषता है। यह व्यक्तिगत स्वभाव पूर्व जन्मसे आया होता है।

ऐसे लड़कोंका वर्णन मिलता है जो उत्पन्न होते ही नोचने-काटने लगते हैं। मैंने एक माताके एक ही गर्भसे उत्पन्न दो जुड़वाँ बच्चे देखे हैं। उनमें एक काला था और एक गोरा। एक अत्यन्त उग्र स्वभावका था और एक शान्त स्वभावका था। एक बीस वर्षका होकर मर गया। एक जीवित है। यह भेद कहाँसे आया ? प्रकृतिसे।

भगवान् शंकराचार्य अपने भाष्यमें कहते हैं—

प्रकृतिर्नाम पूर्वकृतधर्माधर्मसंस्काराः वर्तमानजन्मादेवाभिव्यक्ताः।

पूर्वजन्मके किये धर्म-अधर्मके उन संस्कारोंको प्रकृति कहते हैं जो इस जन्ममें प्रारम्भसे ही व्यक्त हो गये हैं।

श्रीरामानुजाचार्यने भी इससे मिलता-जुलता ही अर्थ किया।

एकने मुझे बतलाया था—'पटियालामें एक ब्राह्मण-बालकका स्वभाव था कि जेबमें चाकू या कैंची रखता था। कोई गाय बैठी हुई एकान्तमें मिल जाय तो उसका कान या पूँछ काट देता था। लोगोंने उसकी माताको घेरकर डराया—धमकाया तो माताने स्वीकार कर लिया कि 'वह कसाईसे उत्पन्न हुआ है।'

माँ, बाप, दादा-दादी, नाना-नानीके संस्कार, माताके खान-पान-विचारके संस्कार बालकमें आते हैं। कभी-कभी कई पीढ़ी बाद कोई संस्कार किसी बच्चेमें जाग जाता है।

'**स्वस्याः प्रकृतेः**'—अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार सब प्राणी व्यवहार करते हैं। यहाँ सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी कारणभूता प्रकृतिसे तात्पर्य नहीं है।

प्रत्येक बीजमें पृथक्-पृथक् संस्कार होते हैं। एक बीज अंकुरित होकर वृक्ष बनता है और एक लता बनता है। कोयलके अंडेमें-से निकला बच्चा 'कुहू-कुहू' करता है और कौएके अंडेसे निकला बच्चा 'काँव-काँव' करता है। उस अंडेके पानीमें यह प्रकृति पहलेसे होती है।

इस संस्कारका आधार क्या है? केवल जड़ द्रव्य आधार है या चेतनाभासयुक्त जड़ द्रव्य आधार है?

यह कृतप्रकृति है। कर्म, संग एवं खान-पानसे यह उत्पन्न है।

जगत्कारणभूता प्रकृति जो जीवदृष्टिसे प्रकृति है और ईश्वरदृष्टिसे माया है, खेल है। जहाँ जीव और ईश्वर एक हैं, वहाँ न प्रकृति है, न माया है। केवल प्रतीतिमात्र है। जहाँ जीवब्रह्मकी एकताकी भी दृष्टि नहीं है, वहाँ केवल ब्रह्म ही है। यह प्रकृतिवाद, मायावाद, दृष्टिसृष्टिवाद आदि परमेश्वरको समझनेकी प्रक्रिया है। ये सिद्धान्त नहीं हैं। सिद्धान्त तो अद्वितीयता है।

यहाँ न अद्वितीय ब्रह्मका प्रसंग है, न भगवल्लीलाका, न मायाका, न मूल प्रकृतिका। यहाँ तो व्यक्तिकी प्रकृतिका प्रसंग है।

यह विवेकी मनुष्य है। इसमें एक बीज है, जिसके अनुसार यह चेष्टा करता है। दो पैरसे चलना जैसे मनुष्यकी प्रकृति है। विवेकी मनुष्य भी अपनी प्रकृतिके अनुसार ही चेष्टा करता है। प्रान्त, जाति, व्यक्तिकी प्रकृति होती है। चाहे जितना बुद्धिमान् मनुष्यको—बंगाली होगा तो भात पसंद करेगा और पंजाबी होगा तो तंदूरकी रोटी।

ज्ञानका प्रयोजन स्वभाव बदलना नहीं है। सत्यको समझा देना ज्ञानका प्रयोजन है।

बच्चेका पहले एक संस्कार प्राय: नामकरणके साथ किया जाता था। गणेशादि पूजन करके बच्चेको ऐसे स्थानपर छोड़ देते थे जहाँ ग्रन्थ, शस्त्र, तराजू, झाड़ू आदि वस्तुएँ रखी होती थीं। देखते थे कि बच्चा किस वस्तुसे खेलता है। इससे उसकी प्रकृतिका अनुमान किया जाता था।

'**प्रकृतेर्ज्ञानवानपि**'—ज्ञानवान्-बुद्धिमान् भी अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार ही चेष्टा करते हैं।

भूतका स्वभाव है अपनी प्रकृतिकी ओर जाना। इसमें निग्रह प्रकृतिका किंकर हो जाता है।

किंकरिष्यति किंकरवदाचरिष्यति।

बुद्धिमान्-अबुद्धिमान् सभीको पूर्व-पूर्वसंस्कारार्जित प्रकृति होती है।

एकने तर्क किया—'चराचर जगत् ईश्वरकी ही सन्तान है तो इसमें उद्भिज्ज—पृथ्वी फोड़कर उगनेवाले, स्वेदज, अण्डज और जरायुज—ये चार भेद क्यों हैं?'

उन्हें यह पता नहीं है कि एक ही माताके उदरसे निकले कीड़े-केंचुए और पुत्रमें अन्तर होता है। इसी प्रकार मनुष्ययोंमें भी भेद होता है।

ईश्वर एक है, प्रकृति एक है, पञ्चभूत सबमें समान हैं, फिर भेद कहाँसे आता है?

यह भेद आता है स्व-स्व-कर्मजन्य संस्कारसे। जैसे समुद्रमें वायुके कारण भिन्न-भिन्न कारणकी तरंगें उठती हैं, ऐसे ही एक पञ्चभूतसे भिन्न-भिन्न

प्रकारके प्राणी उत्पन्न हुए तो उनके भेदका मूल कारण पूर्वकृत कर्म मानना ही पड़ेगा।

भारतीय दर्शनोंमें-से चार्वाकको छोड़कर शेष सब पूर्वजन्म मानते हैं। पूर्व पूर्व कर्मोंसे उत्पत्ति मानते हैं। उन पूर्व-पूर्व कर्नोंके संस्कार मानते हैं।

प्राणी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है। बच्चा जन्म होते ही मातृस्तनसे दूध चूसने लगता है। यह शरीरकी प्रकृतिमें विद्यमान है।

'**निग्रहः किं करिष्यति**'—क्या यह निग्रह रोकनेपर रोक लगा रहे हैं? ऐसा नहीं।

एक स्त्री मेरे गाँवकी गर्भवती-दशामें आटा पीसती थी। उन दिनों कहीं समीपमें आटा पीसनेकी मशीन नहीं थी। उसको बच्चा हुआ और जब वह बच्चा बैठने लगा तो बैठकर चक्की पीसनेके समान हाथ और सिर हिलाता रहता था। यह स्वभाव उसे माताके गर्भसे प्राप्त हुआ। लेकिन यह स्वभाव बनता है—जन्य है। इसके विपरीत करना प्रारम्भ कर दो तो दूसरा स्वभाव पड़ जायगा। जीवनमें दो प्रकारकी प्रकृति होती है—एक पूर्व कर्मज दृढ़ प्रकृति और दूसरी अत्यन्त प्रयत्नसे निवृत्त होनेवाली प्रकृति।

'**सदृशं चेष्टते स्वस्याः**'—यहाँ चेष्टाकी बात है, इच्छाकी बात नहीं। इच्छा मनका एक स्वप्न है। बुद्धिके नियन्त्रणद्वारा हम इच्छाका नियन्त्रण कर सकते हैं।

आगे अर्जुन प्रश्न करते हैं—'**अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।**' यदि यह बात अर्जुनने समझ ली होती कि 'मनुष्य अपनी प्रकृतिसे विवश होकर पाप करता है' तो यह प्रश्न क्यों करते? अतः यहाँ 'चेष्टते' पर ध्यान दिया जाना चाहिए।

एक सर्प पृथ्वीपर रेंग रहा है और एक क्रोधमें भरकर काटने दौड़ता है, तो क्या दोनोंमें अन्तर नहीं है?

पृथ्वीपर सर्पका सरकना या बैठना उसकी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा है; किन्तु क्रोधमें आकर किसीको काटने दौड़ना तो 'पापं चरति' हो जाता है; क्योंकि वहाँ प्रेरक प्रकृति नहीं है, क्रोध है।

एक मनुष्य एक महीने मजदूरी करके वहाँसे अपनी मजदूरीके पैसे घर

ले आता है। दूसरा रातमें किसीके घरमें कूदकर, ताला तोड़कर रुपये लाता है। इसमें क्या प्रकृति-चेष्टा और लोभ-चेष्टा पृथक्-पृथक् नहीं हैं?

एक व्यक्तिके मनमें काम आता है। वह देखता है—'आज एकादशी है, आज पर्वका दिन है, यह तीर्थस्थान है। यहाँ वासना पूर्ण नहीं करनी चाहिए। यह परस्त्री है, इसके साथ वासना पूर्ण करना अनुचित है।' दूसरा व्यक्ति कामावेशमें अनाचरण करता है? उसका आचरण तो पशु-प्रकृतिके सदृश है।

'चेष्टा' शब्द जीवनमें बहुत हल्का है और 'पापं-चरति' बहुत भारी है। जैसे कोई बीमार मरणासन्न हो तो कहते हैं—'अभी शरीरमें चेष्टा है।' यहाँ कर्त्तृत्वपूर्वक कामनापूर्वक क्रियाको चेष्टा नहीं कहते। बच्चा उत्पन्न हुआ। किसीने पूछा—'मरा है या जीवित?' उत्तर दिया—'चेष्टा कर रहा है।' चेष्टा तो श्वास लेना, हाथ-पैर हिलाना भी है। प्रकृतिके अनुसार चेष्टा कर्त्तृत्वभावसे, काम-क्रोध-लोभसे वर्जित होती है। अत: ज्ञानी-अज्ञानी सबके साथ स्वाभाविक चेष्टा रहती है। स्वाभाविक चेष्टामें पाप-पुण्यका निवास नहीं है।

तब पाप-पुण्यका निवास कहाँ है?

राग-द्वेषमूलक, कर्तृत्वपूर्वक की गयी क्रियामें पाप-पुण्यका निवास है। प्यास लगनेपर सामने आया पानी पी लेना चेष्टा है और बाजारसे मँगाकर शराब पीना वासनामूलक पाप है।



यदि पाप भी चेष्टा ही हो तो विधि-निषेध शास्त्रोंके व्यर्थ हो जायँगे। विधि-निषेधका प्रयोजन है कि जीवनमें राग-द्वेष न हो। विधि-निषेध मानसिक संतुलन ठीक रखनेके लिए हैं। वे क्रिया या वस्तु रोकनेको नहीं हैं, राग-द्वेष रोकनेके लिए हैं।

एक 18-19 वर्षका बालक मिठाई बहुत खाता था। मैंने मना किया तो बोला—'आदत पड़ गयी है।'

ऐसे अवसरोंके लिए मेरी जन्मभूमिकी ओर एक लोकोक्ति प्रचलित है—

कहिआ सिआर जनमलें, कहिआ देखलन बढ़िया।

एक श्रृंगालकी माँद बाढ़के पानीसे भर गयी तो श्रृगालका बच्चा बोला—'ऐसी बाढ़ जीवनमें मैंने नहीं देखी।'

उसके माँ-बाप बोले—'बेटा! अभी तुम्हारा जीवन ही कितना वड़ा है? इसी वर्ष तो तुम उत्पन्न हुए हो।'

कोई चोरी, जुआ, असंयमको कहे—'यह आदत पड़ गयी है' तो वह भ्रममें है। यह आदत—यह प्रकृति तो तुम्हारी बनायी है। प्रयत्नसे यह निवृत्त हो जायगी। अत: पहचानो कि 'क्या स्वभाव तुमने यहाँ स्वयं डाला है और पूर्वजन्मसे कौन-सा स्वभाव तुम्हारे भीतर आया है।'

हम प्रयास करें तो दूसरी भाषा बोल सकते हैं या नहीं? बचपनमें मुझे जिस ग्राम्य भाषाको बोलनेका अभ्यास था, वह भाषा और उसका टोन भूल गया। 17-18 वर्ष तक तो उसीका अभ्यास था। वह डाला हुआ स्वभाव था।

जो लोग कहते हैं—'स्वभाव बदला नहीं जा सकता' उन्हें सोचना चाहिए कि इस जन्ममें कितना स्वभाव हमने अपने अभ्याससे बनाये हैं और कितने जन्मान्तरसे आये हैं। जन्मान्तरसे आये स्वभाव भले न बदलें, इस जन्मके डाले हुए तो बदले ही जा सकते हैं।

श्रीमध्वाचार्यजी कहते हैं—

तथापि शक्तितो निग्रहः कार्यः। निग्रहात् सद्यः प्रयोजनाभावेऽपि भवत्येवातिप्रयत्नात्-इत्याशयवानाह भगवान्।

'प्रकृतिके अनुसार प्राणी चेष्टा करते हैं, फिर भी अपने वशभर नियन्त्रण

करना चाहिए। नियन्त्रणसे तत्काल प्रयोजन सिद्ध न होनेपर भी अत्यन्त प्रयत्नसे नियन्त्रण सफल होता है, इस आशयसे भगवान् अगला श्लोक कह रहे हैं।'

जिस कर्म, जिस भोग, जिस संग्रहमें आपकी दोषबुद्धि है, बुद्धि उसे बुरा कहती है, फिर भी आप उसे करते हैं, तो क्या होगा?

बुद्धि इच्छाका नियन्त्रण करती है और कर्मका नियन्त्रण इच्छा करती है। एक वस्तु उठाकर देखनेकी इच्छा हुई। बुद्धिने कहा—'उठाकर देख लो।' अब हम उसे उठाकर नहीं देखते तो हम केवल कर्मको ही नहीं रोकते हैं, हमने इच्छा और बुद्धि दोनोंको रोक दिया। इसका झटका मस्तिष्क पर लगेगा। क्योंकि जिस कामको करनेका मन हुआ था, बुद्धिने भी उसे उचित कहा था, हमने उसे रोका। जीवनके लिए ऐसा करना ठीक नहीं है।

जहाँ बुद्धि कहती है—'यह काम करना ठीक नहीं है।' लेकिन इसी जन्ममें डाला गया स्वभाव हमारी इच्छाको खींच रहा है, वहाँ बुद्धिकी बात माननी ठीक है।

एक वैद्यने एक मद्रासी रोगीको कहा—'आपको इमली खानेका अभ्यास है; किन्तु इस रोगके रहनेतक इमली बन्द कर दें।'

बुद्धिने कहा—'वैद्यकी बात ठीक है। इमली न खाना हितकारी है।'

अब मन इमलीकी चटनी खानेको होता है तो कर्मको-चटनी खानेको रोक दो। जब बुद्धि और कर्म एक पक्षमें हो जायँगे तो इच्छा सरलतासे मिट जायगी। इससे आपको कोई हानि नहीं होगी।

जहाँ बुद्धि एक पक्षमें हो और इच्छा दूसरे पक्षमें, वहाँ आप बुद्धिका पक्ष लीजिये। इच्छाका पक्ष मत लीजिये। इच्छा तो बदलती रहती है। औचित्य वस्तुके आधारपर—विचारके आधारपर जीवनमें रहना चाहिए।

यदि आप इच्छाको बढ़ावा देंगे तो बुद्धि दब जायगी। यह दबाना बुद्धिको नष्ट कर देगा। जहाँ बुद्धिमें और इच्छामें, औचित्यमें और इच्छामें, हमारे हितमें और इच्छामें विरोध पड़ता हो, वहाँ इच्छाको दबा देना चाहिए।

भगवान् शंकराचार्य कहते हैं—'बात क्या हुई कि भगवान् कहते हैं कि 'प्राणी अपनी प्रकृतिके अनुसार ही चेष्टा करता है।' प्रकृतिशून्य तो कोई है नहीं फिर मनुष्यके पौरुषका क्या अर्थ रहेगा?'

मनुष्यकी कायरता, देहासक्ति, भय उसे रोकता है, अन्यथा उसमें साहस तो वह है जो चन्द्रलोक तक घूम आता है।

डरते क्यों हो कि 'पौरुष करनेसे हमारी कोई हानि होगी।' जो उचित हो, बुद्धियुक्त हो, शास्त्र-निषिद्ध न हो, उसके लिए पौरुष करो—करना ही चाहिए। दैवके ऊपर अपनेको नहीं छोड़ना चाहिए।

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीर्दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति।

उद्योगी पुरुषसिंहके पास लक्ष्मी आती है। 'दैव देगा तब मिलेगा' यह तो कायर कहा करते हैं।

फल और कर्मका सम्बन्ध समझकर परिश्रम करना चहिए।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत् तत्तामसमुच्यते॥

(गीता 18.25)

अनुबन्ध—इस कर्मके पीछे प्रतिक्रिया क्या होगी? इसका कर्म फलसे क्या सम्बन्ध है? क्षयं—इसमें अपनी क्या हानि है? हिंसा—दूसरोंकी इससे क्या हानि है और पौरुष—अपनेमें इसे करनेकी सामर्थ्य है या नहीं? इसे देखे बिना मोक्ष-अज्ञानसे जो कर्म प्रारम्भ किया जाता है, उसे तामस कर्म कहते हैं।

जब पाप करो तो कहो—'ये तो प्रकृतिसे होते हैं।' और रोग हो तो दवा करो, भूख लगे तो रोटी बनाओ, यह बेईमानी नहीं चल सकती। छोड़ना है तो सब प्रकृतिपर छोड़ दो। प्रकृतिने तुम्हें केवल इच्छा ही नहीं दी, बुद्धि भी दी है। यदि इच्छा ठीक नहीं है तो बुद्धिसे उसे रोक दो। यदि इच्छाका नियन्त्रण न करे, बुद्धिके अनुसार इच्छाको न चलावे तो मनुष्य और पशुमें अन्तर ही क्या रह जायगा? अतः भगवान् नियन्त्रणकी बात कहते हैं—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ 34॥

इन्द्रियोंका अपने-अपने विषयोंमें दृढ़ राग-द्वेष है। इन (राग-द्वेष) के वशमें नहीं होना चाहिए, क्योंकि वे व्यक्तिके लिए डाकू हैं।

परिपन्थी—मार्गके विपरीत घसीट ले जानेवाले डाकू आपके साथ लगे हैं—सावधान!

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे—प्रत्येकेन्द्रियस्य स्वार्थे।

प्रत्येक इन्द्रियका अपने-अपने विषयोंमें राग-द्वेष व्यवस्थित-दृढ़ है।

श्रीमद्भागवतमें आया है—हम बता सकते हैं कि 'व्यक्ति स्वर्गसे आया है या नरकसे?'

मन एव मनुष्याणां पूर्वरूपाणि शंसति।

मनुष्यका मन ही उसके पूर्व रूपको सूचित कर देता है। इस समय आपका मन कैसा है? नरकमें जो खाया जो भोगा, वही खाने-भोगनेका मन है तो नरकसे आये हैं।

यदि आपको परमार्थके मार्गमें चलना है तो अच्छाई-बुराई दोनोंके राग-द्वेषसे बचना होगा। राग-द्वेष लुटेरे हैं। इनके वशमें मत होना।

एकबार कराँचीके आस-पास 18 व्यक्ति जा रहे थे। डाकुओंने घेरकर उनसे सब कुछ रखवा लिया। गाँवमें जाकर उन लोगोंने हल्ला मचाया तो लोगोंने पूछा—'लुटेरे कितने थे?'

वे—'दो थे।'

लोगोंने कहा—'तुम 18 थे। तुममें दो-का सामना करनेका साहस नहीं था? तुममें सत्त्व कितना है?'

ये राग-द्वेष भी दो ही हैं और डाकू हैं। जब राग होता है तो जिसमें राग होता है, उसका पक्षपात हो जाता है। इसके कारण मनुष्य धर्म नहीं कर पाता। न्याय नहीं कर पाता।

द्वेषके कारण मनुष्य बुरे काम करता है। द्वेष-हिंसा, घृणा, परापमान करता है। देखना या बोलना बुरा नहीं है, द्वेषपूर्वक देखना या बोलना बुरा है। नेत्रकी प्रकृति देखना है—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।

ज्ञानीके नेत्र भी देखेंगे और अज्ञानीके नेत्र भी, किन्तु राग-पूर्वक किसीको देखना उससे अपनेको बाँधना है। द्वेषपूर्वक किसीको देखना सदाके लिए दूर हटा देना है।

देखो, पर राग-द्वेषसे मत देखो। सुनो, पर राग-द्वेषसे मत सुनो। बोलो, पर राग-द्वेषसे मत बोलो। छुओ, पर राग-द्वेषसे मत छुओ। करो, पर राग-

द्वेषसे मत करो। चलो, पर राग-द्वेषसे मत चलो। सोचो, पर राग-द्वेषसे मत सोचो।

इन्द्रियाँ सबकी काम करती हैं। सच पूछो तो इन्द्रियोंमें राग-द्वेष नहीं है। नेत्र कभी किसी रूपमें या कान कभी किसी शब्दमें अटके रहे हैं? मनमें भी राग-द्वेष नहीं है। मनमें राग होता तो वह सो पाता? बुद्धिमें भी राग-द्वेष नहीं है। आत्मा या प्रकृतिमें तो राग-द्वेष है ही नहीं।

राग-द्वेष न इन्द्रियोंमें हैं, न विषयोंमें, न मनमें, न बुद्धिमें, न आत्मामें, न प्रकृतिमें, न ईश्वरमें; ये इनमें-से किसीकी सन्तान नहीं हैं। राग-द्वेष अविद्याकी सन्तान हैं। ये भ्रान्तिके बच्चे हैं। ये भूलसे निकले हैं।

प्राकृतिक निग्रह कैसे किया जाय?

भगवान् शंकराचार्यजी कहते हैं—'प्रकृति सीधे अनिष्टमें नहीं जाती। राग-द्वेषके द्वारा अनिष्टमें प्रवृत्त होती है।'

इन्द्रियाँ साथ रहती हैं; किन्तु उनके अर्थ—विषय बदलते रहते हैं। नेत्रसे हम कभी घड़ी देखते हैं, कभी पुष्प, कभी रूमाल। नेत्र तो साथ रहते ही हैं।

भिन्न-भिन्न प्रमेयोंको जाननेके जो हमारे पास प्रमाण हैं और भिन्न-भिन्न कर्मोंको करनेके लिए हमारे पास जो करण हैं, उन्हें इन्द्रिय कहते हैं। करण ही दो प्रकारके हैं—एक प्रमाणरूप और एक करणरूप। जो ज्ञानके करण हैं, जैसे नेत्रसे हम रूपको जानते हैं, उन्हें प्रमाण—ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं। कर्म करनेके करणको कर्मेन्द्रिय कहते हैं, जैसे पैरसे हम चलते हैं, हाथसे पकड़ते हैं।

इन इन्द्रियोंका अपना-अपना विषय निश्चित है। नेत्र देखनेको हैं और पैर चलनेके लिए। पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। कर्मेन्द्रियाँ अंधी हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान सम्पन्न हैं।

हमने ढूँढ़ा; किन्तु इन इन्द्रियोंमें राग-द्वेष मिला नहीं। कभी लगता है कि 'हम अमुक रूप देखें।' उसे देखे बिना कष्ट होता है; किन्तु विचार करनेपर पता लगा कि नेत्रको कोई कष्ट नहीं होता। नेत्र तो केवल सामने आयेको बतला देते हैं कि 'राम आया है या श्याम।' ज्ञानका स्वरूप केवल प्रकाशक होना है। ज्ञानका स्वरूप आसक्त होना नहीं है। सूर्यका प्रकाश कहीं आसक्त नहीं होता।

इसी प्रकार नेत्रका प्रकाश भी कहीं आसक्त नहीं होता। यह यदि कहीं आसक्त हो जाय—बँध जाय तो दूसरी वस्तुका दीखना ही बन्द हो जाय।

तब मनमें आसक्ति है? नहीं। क्या ऐसा किसीका मन है, जो अपने प्रियको चौबीस घंटे स्मरण रख़ सके। लोग ऐसा कहते-लिखते तो हैं कि—'आपकी स्मृति चौबीसो घंटे बनी रहती है।' लेकिन लगातार चौबीस मिनट भी स्मरण नहीं रख सकते। शत्रुको आप कितनी देर स्मरण रखते हैं? मनका विषय बदलता रहता है। अतः मनमें राग-द्वेष कहाँ है? आपके मनमें एक वस्तुपर टिकी रहनेकी एकाग्रता होती तो समाधि लग जाती। मन तो स्फुरित होता रहता है। दीपक (बल्ब) जलता है तो लगता है कि वही जल रहा है; किन्तु बिजली नयी-नयी आती और खर्च होती रहती है, इसीसे बिजलीका बिल बढ़ता रहता है।

लोग कहते हैं—'हमारा राग-द्वेष हैं।' अरे, पहले मित्र थे, अब शत्रु हैं। जो पहले शत्रु थे, अब मित्र हैं। इसीको अर्थ कहते हैं।

ऋ गतौ—इयर्ति इति अर्थः—जो गतिशील है, कभी स्थिर नहीं रहता, उसका नाम अर्थ है।

राग-द्वेष अविद्यासे—नासमझीसे होते हैं। जब अपने अद्वितीय चित्-स्वरूपको न जानकर हम अपनेको परिच्छिन्न कर्ता, भोक्ता, संसारी मान लेते हैं, तब राग-द्वेष होता है। अविद्यासे जब अस्मिता उत्पन्न हो लेती है, तब उससे राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। राग-द्वेष प्रकृतिके विकार नहीं हैं। नामसझीके विकार हैं।

अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषाम्।—योगदर्शन

अविद्याके खेतमें ये अस्मिता, राग-द्वेष, अभिनिवेश उत्पन्न होते हैं।

किसीसे कभी सुख मिला तो उसीका बार-बार स्मरण होने लगा, इसका नाम राग है।

किसीसे कभी दुःख मिला तो उसका बार-बार स्मरण होने लगा, इसका नाम द्वेष है।

इन राग-द्वेषमें न वजन है, न आकार, न आयु और न रंग।

नाकृतिर्न च कर्माणि न वयो न पराक्रमः।

अर्थात् ये द्रव्य नहीं हैं, ये कल्पित भूत हैं। ये आपके ही निर्माण हैं।

आपै लीपै आपै पोतै, आपै काढै होई।
औंधे पड़के बेटा माँगै, अकल राँड़कै खोई॥

आप ही मानते हैं कि 'अमुक प्रिय है' और फिर आप ही रोते हैं कि 'हम राग-द्वेषके वशीभूत हो गये।'

असङ्गो ह्यं पूरुषः।

यह पुरुष तो असंग है। जैसे मार्गमें, धर्मशालामें, क्लबमें या तीर्थमें भीड़ देखते हैं, अनेकोंसे मिलते हैं और पृथक् हो जाते हैं, वैसे ही ये संसारके माता-पिता-भाई आदि हैं।

संगमः पान्थसंगमः।

यहाँके सम्बन्धियोंका मिलन तो यात्रामें यात्रियोंका मिलन है।

अनुकालं वियन्त्येते।

ये तो हर प्रातः-सायं वियुक्त हो रहे हैं। तुम असङ्ग पुरुष हो। भला तुम किसके बिना रह नहीं सकते। राग-द्वेष तो मनकी दुर्बलता हैं।

'**तयोर्न वशमागच्छेत्**'—इन राग-द्वेषके वशमें मत होओ। काम करते समय अपनेसे पूछो—'क्या हम काम-क्रोध, लोभ-द्वेषके वशमें होकर काम कर रहें हैं?' अपनी बुराईपर विजय पानेकी यह पद्धति है। पहले बुद्धि होती है, फिर राग-द्वेष होता है और तब उसके अनुसार कर्म होता है। कर्म बुद्धिके अनुसार करो। बुद्धि रागसे रँगकर सलाह नहीं देती। यदि आप कर्म बुद्धिके अनुसार करेंगे तो राग-द्वेष आपको पागल नहीं बना सकेंगे।

अमुक व्यक्ति हमसे राग करता है, यह कल्पना झूठी है। मैं नौ वर्षका था, तब एक मित्रसे राग हो गया। दस वर्षके मध्य उनसे मिलना नहीं हुआ। इन दस वर्षोंमें मैं उन्हें स्मरण करता रहा; किन्तु मिलनेपर उन्होंने मुझे पहचाना ही नहीं।

हमारा किसीसे राग है, यह भी भ्रम है। प्रकृति किसीसे राग नहीं करती। अतः रस्सीसे बाँधकर इस रागके कुत्तेको अपने हृदयमें मत बैठाओ। तुम्हारी असंगतामें राग-द्वेष कहाँ हैं? राग-द्वेष द्वन्द्वात्मक हैं। इनसे विनिर्मुक्त जो सहज प्रेम है, वह आत्मासे हो सकता है या परमात्मासे। भगवान्‌को छोड़कर दूसरा कोई द्वन्द्वविनिर्मुक्त प्रेम नहीं कर सकता। 

जब राग-द्वेषके वशमें न होनेकी बात कही गयी तो प्रश्न उठा कि व्यक्ति और वस्तुमें ही तो राग-द्वेष होता नहीं। राग-द्वेष तो अपने गुण, धर्म, स्वभवादिमें भी होता है। अतः क्यों न जो उत्तम धर्म, उत्तम क्रिया हो, वही किया जाय। अमुक वर्णाश्रम-धर्मके पालनका ही आग्रह क्यों किया जाय?

लेकिन जिसे श्रेष्ठ मानकर पकड़ने जाओगे उसे रागके कारण ही तो श्रेष्ठ मान रहे हो? जिसे छोड़ने जा रहे हो, उसमें द्वेष हो गया है, इसीलिए तो उसे छोड़ रहे हो? ऐसा करना ठीक नहीं है। पूर्व-पूर्व संस्कारसे जो वर्ण, आश्रम, धर्म, जो देश, जाति, कुल प्राप्त हुआ है, उसका जो धर्म प्राप्त हुआ है, वह सहज प्रकृति है। उसे त्यागने जाकर विफलता मिलेगी। निसर्गप्राप्त प्रकृतिका नियन्त्रण नहीं हो सकता। अतः सहजप्राप्त स्वधर्मका आचरण ही श्रेष्ठ है।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥ 35॥

अपना अल्पगुणवाला धर्म भी भली प्रकार आचरित दूसरेके धर्मसे श्रेष्ठ है। अपने धर्माचरणको करते हुए मरना भी कल्याणकारी है; किन्तु दूसरेका धर्म भयप्रद है।

एक सज्जनके नेत्र दुर्बल हैं, पूरा स्पष्ट नहीं देखते; किन्तु उनके कान भली प्रकार सुन सकते हैं। क्या वे नेत्र फोड़ लें और कानसे ही देखनेका भी प्रयत्न करें? कान देख तो सकेगा नहीं, अतः जैसे नेत्र हैं, उन्हींसे देखना अच्छा है।

स्वधर्ममें कष्ट हो, तब भी वह अच्छा है। परधर्म तो भयदायक है। एक सिपाही चौराहे पर यातायात-नियन्त्रणके लिए नियुक्त है। उसे दीखता है कि

एक व्यक्ति घायल होकर सड़कपर गिरा। वह उसे उठाकर अस्पताल ले जाता है। इतनेमें चौराहेपर दस दुर्घटनाएँ हो जाती हैं। प्रशासन उसे दण्ड देगा या नहीं?

एक डॉक्टर अस्पतालसे बाहर आया तो उसने देखा कि यातायात अनियन्त्रित हो रहा है। वह यातायात-नियन्त्रण करने लगा। लेकिन अस्पतालमें रोगियोंकी सेवा रुक गयी। डॉक्टर कर्त्तव्यच्युत होनेका अपराधी है या नहीं?

कर्त्तव्य विधिसे—कानूनसे—धर्मशास्त्रसे निश्चित होता है। अतः जो विधान अपने लिए किया गया है, वह स्वधर्म है। जो विधान दूसरोंके लिए किया गया है, वह परधर्म है।

स्वधर्म क्या? 'मैं हूँ' यह प्रत्यक्ष अनुभव है। अपनी सत्ताको स्थित रहने और स्वस्थ रखनेको जो क्रिया आवश्यक है, वह स्वधर्म है। इसलिए भगवान्ने कहा—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ (गीता 6.17)

उपयुक्त आहार एवं आचरण, कर्मोंमें उपयुक्त चेष्टा, उपयुक्त सोना-जागना रखकर जो कर्मयोग करता है, उसका कर्मयोग दुःखनाशक होता है।

एक महात्मा कहते थे—'जो अपने शरीरको ही ठीक नहीं रख पाता, वह मनको कैसे ठीक रखता होगा?'

आप अपनी क्रिया, भोजन-शयनसे ही ऐसे स्वस्थ रहें कि 'आपका स्वास्थ्य संन्यासमूलक रहे, संग्रहमूलक न रहे।'

अपनी बुद्धिको ठीक रखना धर्म है। आप सत्स्वरूप हैं, अतः स्वास्थ्य ठीक रखना धर्म है। आप चित्स्वरूप हैं अतः बुद्धि ठीक रखना धर्म है। आप आनन्दस्वरूप हैं, अतः प्रसन्न रहना धर्म है।

भगवान्का बहुत बड़ा उपहार हमें बुद्धिके रूपमें प्राप्त है। यह बुद्धि नहीं, कामधेनु-कल्पवृक्ष है। जिस बातसे यह बिगड़ती हो, वह अधर्म है। अतएव इसे ठीक रखनेके लिए स्वाध्याय, सत्संग, एकाग्रता, आत्मचिन्तन करना धर्म है। इनसे बुद्धि स्वस्थ रहती है।

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः।

श्रुति कहती है—'ऐसे ऋषि हुए हैं, जिन्होंने धर्मका साक्षात्कार किया है।'

उन्होंने धर्मको बनाया नहीं। पहलेसे विद्यमानका साक्षात्कार किया। एक धर्ममेघ समाधि होती है। योगदर्शनमें इस धर्मकी वर्षा करनेवाली समाधिका उल्लेख है।

स्वास्थ्यके लिए प्रातः उठना और उठकर महत्तमका स्मरण करना उपयोगी है—

प्रातः स्मरामि हृदि संस्फुरदात्मतत्त्वं सच्चित्सुखं परमहंसगतिं तुरीयम्।

'मैं प्रातः हृदयमें स्फुरित होते सच्चिदानन्द, परमहंसोंकी गति, तुरीय आत्मतत्त्वका स्मरण करता हूँ।' इसका नाम धर्म है।

शयन, जागरण कर्ममें भी धर्म होता है। भेदबुद्धि अधर्म है। बुद्धि अद्वैतमें सोती है, अतः जागनेपर अद्वैतका त्याग करे तो धर्मच्युत होगी। व्यवहारमें भी राग-द्वेषकी जननी भेदबुद्धि अधर्म करानेवाली हो जाती है। हमारा स्वरूप आनन्द है, अतः हमारा मन निर्मल होना चाहिए। अधर्मका फल है राग-द्वेष, छल-कपट, अशान्ति-दुःख।

एक मनुष्य कहता है—'खीर खानेसे समाधि लगती है।'

दूसरा कहता है—'उपवास करनेसे समाधि लगती है।'

इनमें आपका मन किधर जाता है? यह कसौटी है। यदि आपका मन वैराग्यप्रधान है तो आप व्रतके पक्षमें होंगे। यदि आप निवृत्तिका स्वाद चाहते हैं तो समाधि लगेगी। यदि आप प्रवृत्तिका स्वाद चाहते हैं तो विक्षेप बढ़ेगा। भोग वासना-पूर्तिमें अग्रसर करता है और व्रत निवृत्तिमें लगाता है।

स्वधर्म वह है जिसमें स्वास्थ्यके अनुरूप आहार और आचरण हो, बुद्धिके अनुरूप अध्ययन और चिन्तन हो, आनन्दके अनुरूप स्थिति हो, जिसमें आनन्द पराधीन न हो। आत्मस्वरूप धर्मका प्रकाश जीवनमें हो, यह स्वधर्म है। जीवनमें एकत्व आये तो वह स्वरूपानुरूप होगा।

जीते रहो, जीने दो। आत्महत्या मत कीजिये और दूसरेको मारिये मत। यह आपका सद्धर्म है।

समझदार बनो, समझदार रहने दो। दूसरेको ठगिये मत और स्वयं ठगे मत जाइये। यह आपका चिद्धर्म है। मूर्ख मत बनिये और न दूसरेको बनाइये।

सुखी रखिये, सुखी रहने दीजिये। दूसरेको सताइये मत, दुखी मत कीजिये और स्वयं दुखी मत रहिये। यह आपका आनन्दधर्म है। दूसरेके घरमें आग लगायेंगे तो आपके घरमें भी उसकी चिनगारी अवश्य पड़ेगी।

'**परधर्मो भयावहः**'—जो अनात्मा है, उसका धर्म भयप्रद है। शरीर मरता है। अपनेको शरीर मानेंगे तो जीवनमें मृत्युका भय आयेगा।

शरीर जड़ है। अपनेको शरीर स्वीकार करेंगे तो अपनेमें जड़ता आयेगी।

शरीर घटता-बढ़ता, विकारी है। अपनेको शरीर स्वीकार करेंगे तो रोग, बुढ़ापे आदिका आपको भय होगा।

'**श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः**'—इस प्रसंगमें यह जान लेने योग्य है कि अधर्म एक कँटीला वृक्ष है और उसमें पाँच शाखाएँ हैं। ये पाँच शाखाएँ हैं—विधर्म, परधर्म, आभास, उपमा और छल।

आपका मन है—'स्वामीजीको माला पहना दें।' यह तो धर्म है; किन्तु यदि माला पहनाने आनेमें श्रोताओंको पैर लगता है, उनके श्रवणमें बाधा पड़ती है, तो माला पहनाना धर्म नहीं है। यह विधर्म है।

धर्मबाधो विधर्मः स्यात्।

जिस धर्मसे दूसरेके धर्ममें बाधा पड़े, वह विधर्म है। विधर्म अधर्मकी ही शाखा है।

परधर्मोऽन्यचोदितः।

जो आज्ञा दूसरेके लिए दी गयी है, वह उससे भिन्नके लिए परधर्म है। दूसरेके लिए दी गयी आज्ञा अपने लिए धर्म नहीं होती।

एकको सेवाका कोई काम बतलाया। दूसरेने कहा—'वह नहीं करेगा मैं करूँगा।' यह परधर्म है।

क्षत्रिय (सैनिक)के लिए युद्ध धर्म है; किन्तु यदि अध्यापक पाठशाला छोड़कर युद्धमें चले जायँ तो देशकी अगली पीढ़ी अशिक्षित रह जायगी।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघके गुरुजी श्रीगोलवलकरजी वृन्दावन आये थे। मैंने श्रीभूदेव शर्माके द्वारा उनसे पुछवाया—'हम सब भी लाठी उठायें?'

उनका उत्तर आया—'आप सबको लाठी उठाना पड़ेगा तो हम किसलिए हैं? जब हमारे धर्म-नेता लाठी उठाकर मैदानमें जायँगे, तब हमारा क्या उपयोग? हम तो संत-महात्माओं तथा धर्मकी रक्षाके लिए ही लाठी लिये हैं।'

देशमें शत्रुसे युद्ध चल रहा हो और उस समय व्यापारी, किसान सब अपना काम त्यागकर युद्धभूमिमें पहुँच जायँ तो सैनिकोंको रोटी कहाँसे मिलेगी अतः सबको स्वधर्मपर स्थिर रहना चाहिए।

आभास—शास्त्रमें ब्राह्मणको दान देनेका वर्णन है। ग्रहण, संक्रान्ति, अक्षय नवमी आदिको दान देनेकी प्रशंसा है। ऐसे समय ब्राह्मणको दान देना है तो लोग अपने रसोइयेको दे देते हैं। यह धर्म नहीं है, धर्माभास है। दान तो विद्याजीवी, तपोजीवीके लिए है मित्र या नौकरको दान देना दानाभास-धर्माभास है।

उपमा—'अमुकने ऐसा किया था, अतः हम भी ऐसा करते हैं।' धर्मको बिना देखे, समझे केवल दृष्टान्त देखकर धर्मका निर्णय कर लेना धर्म नहीं है। यह भी अधर्मकी शाखा है।

छल—कर तो रहे हैं स्तुति; किन्तु मनमें आदर, प्रशंसा नहीं निन्दा है। बाहरसे प्रणाम करते हैं; किन्तु चाहते हैं अपमान करना।

एकने कहा—'हम आपके लिए स्वास्थ्यकी प्रार्थना करने माधवबागके मन्दिरमें जाना चाहते हैं।'

वहाँ उन्होंने किसी मित्रको मिलनेके लिए बुला रखा था। उससे मिलने जाना था उन्हें। अतः उनका प्रार्थना करने जाना छल है।

'**अधर्मवत् त्यजेत्।**' ये जो पाँचो अधर्मकी शाखाएँ हैं, इन्हें अधर्मके समान ही त्याग देना चाहिए।

'**स्वधर्मे निधनं श्रेयः**'—मनुष्यको पशुकी भाँति चेष्टा नहीं करनी चाहिए। यदि किसीको पागल कुत्ता काट ले तो वह थोड़े दिनों पीछे कुत्तेके समान चेष्टा करने लगता है। कुत्तेके शरीरमें-से ऐसी क्या वस्तु मनुष्य-शरीरमें जाती है, जिससे मनुष्य कुत्तेके समान भूँकने-काटने लगता है?

मनुष्यके मनमें जीवित रहनेका मोह बहुत प्रबल है; किन्तु जब पशु-

शरीरमें बनी वस्तुएँ हमारे शरीरमें प्रवेश करेंगी, तो पशुत्वका प्रभाव हमारे रक्तपर, मन-बुद्धिपर नहीं पड़ेगा, यह बात आप किस तर्कसे मानते हैं?

अतएव अपने आपको सुरक्षित रखकर सबका कल्याण करना चाहिए।

आत्मानं सततं रक्षेत् प्राणैरपि धनैरपि।

प्राणको और धनको खोना पड़े तो इन्हें खोकर भी अपने अन्तःकरणको बचाओ। उसे बिगाड़ो मत। मनुष्यकी मृत्यु जिस स्थितिमें होती है, अगला जीवन वहींसे प्रारम्भ होता है। मृत्युसे आत्मोन्नतिमें बाधा नहीं पड़ती। मांस-हड्डीका चिन्तन करते मरेंगे तो मांस-हड्डीके मध्यसें ही जीवन प्रारम्भ होगा और ईश्वरका चिन्तन करते मरेंगे तो ईश्वरके सान्निध्यमें जीवन प्रारम्भ होगा।

शरीर छोड़ना तो कपड़ा बदलने-जैसा है। इससे जीवनकी गतिमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। धर्ममें स्थित रहकर देह-त्याग करेंगे तो आगे धर्मिष्ठ होंगे। अधर्ममें रहकर देह-त्याग करेंगे तो आगे पापी बनेंगे—दुखी बनेंगे। अतः धर्मपर स्थिर रहते मरना श्रेयस्कर है। परधर्म भयावह है। परधर्ममें कभी नहीं जाना।



प्रकृतिके अनुसार सहज चेष्टा होती है। रागद्वेषके वश होकर मनुष्य धर्माधर्म करता है। उसमें-से हमें धर्ममार्गमें मरना ही श्रेयस्कर है। अब प्रश्न यह है कि अधर्म-मार्गमें ले कौन जाता है?

यदि प्रकृतिके अनुसार पाप-पुण्य हो तो अर्जुन यह बात समझ गये होते। लेकिन अर्जुनकी समझमें यह बात नहीं आयी। यद्यपि यह बात भगवान्ने पहले समझायी है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।

विषयोंका ध्यान करनेसे उनमें आसक्ति होती है। आसक्तिसे काम, कामसे क्रोध, क्रोधसे सम्मोह, सम्मोहसे स्मृतिभ्रंश, स्मृति-भ्रंशसे बुद्धिनाश और बुद्धिनाशसे सर्वनाश होता है। इस प्रकार काम-क्रोध नाशका मार्ग है। नाशका मार्ग ही पापका मार्ग है। जो पाप करेगा, वही नष्ट होगा। जो वासना मिट जानेसे प्रसन्न होता है,वही इस जीवनमें जीवन्मुक्त हो सकता है। जो वासनापूर्तिसे प्रसन्न होता है, उसका जीवन शरीरके साथ पूरा नहीं होगा। वह वासनानुसार जन्म लेगा।

अपने धर्ममें निधन भी श्रेयस्कर है, यह सुनकर अर्जुनके मनमें प्रश्न उठा कि तब मनुष्यको पापमें कौन ले जाता है?

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥ 36॥

श्रीकृष्ण! मनुष्य न चाहते हुए भी जैसे बलपूर्वक विवश करके लगा दिया गया हो, ऐसे किसके द्वारा लगाया जाकर पाप करता है?

बिजली सब मशीनोंको चलाती है; किन्तु मशीन बिगड़ी हो और आग लग जाय तो यह मशीनका दोष है, बिजलीका नहीं। इसी प्रकार ईश्वर सबका

सञ्चालक है; किन्तु अन्त:करणके अनुरूप उसे चलाता है। बिजली बल्बको प्रकाश देती है और पंखेको गति। बिगड़ी मशीनका लक्षण है अव्यवस्थित काम-क्रोध।

मशीनमें आग कौन लगाता है? न प्रकृति, न परमात्मा और न लोहा, न बिजली। आग इसलिए लगती है कि मशीन बिगड़ गयी है। उसमें दोष आ गया है।

प्रश्नकर्त्ता अर्जुन अर्थात् सरल। कोई सरलतासे पूछनेवाला ही उत्तर पानेका अधिकारी है।

जिज्ञासासे शास्त्रार्थ भिन्न वस्तु है। प्रश्नोत्तर जिज्ञासा मिटानेको होता है। व्याख्यान स्वमतपोषणके लिए दिया जाता है। भगवत्कथा रसास्वादनके लिए होती है।

भगवान्‌ने कहा—'**स्वधर्मे निधनं श्रेयः।**' क्योंकि स्वधर्मका त्याग कर दूसरेके धर्ममें प्रवृत्ति वासनापूर्वक होती है। जहाँ मनुष्य प्राप्त कर्त्तव्यका त्याग करके अप्राप्त कर्त्तव्य स्वीकार करता है, वहाँ उसके चित्तमें बलवती वासना अवश्य होनी चाहिए।

अनर्थका मूल विषय-चिन्तन होता है या राग-द्वेष होता है या अनियन्त्रित प्रकृति होती है। इनमें अर्जुन स्पष्ट जानना चाहते हैं कि पापका प्रवर्तक कौन है?

शरीर-चेष्टाकी प्रवर्तिका प्रकृति है। सामान्यरूपसे प्रवर्तक ईश्वर है।

मय्याध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

ईश्वर प्रकृतिका भी प्रवर्तक है। तब विशेष चेष्टाका प्रवर्तक कौन है?

इसमें मान सकते हैं कि विहित चेष्टाका प्रवर्तक शास्त्र है; किन्तु जीवनमें बुराई कहाँसे आती है?

अर्जुनकी मान्यता नहीं है कि बुराई ईश्वर कराता है, प्रकृति कराती है या प्रारब्ध कराता है।

बुराई कौन कराता है, यह जानकर क्या करोगे?

ज्ञाते हि तस्मिन् तदुच्छेदाय यत्नं कुर्यामिति। (शाङ्करभाष्य)

भगवान् शंकराचार्यने यहाँ लिखा—'पापके सींग-पूँछ नहीं होती। हम

भगवत्प्राप्तिके लिए, पूर्णताका अनुभव करनेके लिए मनुष्य हुए हैं। इस अनुभवमें जो बाधा डालता है, वह पाप है।'

हम कहीं जाना चाहते हैं। मार्गमें कोई कालनेमि हमारे मार्गमें बाधा डाले तो वही पाप है।

एक साधु बद्रीनाथसे चार-छह मील ऊपर वसुधारामें रहते थे। थोड़े टीन डाल रखे थे। थोड़ा आटा-आलू रखते थे। वहाँकी कठिनाई नहीं सह सके तो बम्बई आये कि—'चन्दा करा दो, कुटिया बनवायेंगे।' जब कुटिया ही बनवानी है तो वसुधारामें रहनेका हठ क्यों? भजन तो गया छूट और कुटिया बनवानेकी चिन्ता लग गयी। भजनमें बाधक यह कुटिया बनानेकी चिन्ता ही पाप है।

लक्ष्य ईश्वरकी प्राप्ति हो तो पापकी पहचान यही है कि वह भजन छुड़ा देता है; क्योंकि कोई ईश्वरको पाना चाहेगा तो चोरी, अनाचार, परस्वापहरण तो कर नहीं सकता।

श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं—'मनुष्य जब ईश्वरकी ओर चलता है, तब संसार और संसारके विषयोंका चिन्तन उसे प्रिय नहीं लगता। उसके लिए पापकर्मकी तो चर्चा ही क्या है? जिस वस्तुके चिन्तनसे ईश्वर-चिन्तनमें बाधा पड़े, उसे वह पसंद नहीं करता। उसीको वह पाप मानता है।'

विपद् विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः।

भगवान् विष्णुको भूल जाना ही विपत्ति है और उन श्रीनारायणकी स्मृति रहे, यही सम्पत्ति है।

स्मर्तव्यः सततं विष्णुः विस्मर्तव्यो न जातुचित्।
सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किंकराः॥

भगवान् विष्णुको निरन्तर स्मरण करना चाहिए। उन्हें कभी भूलना नहीं चाहिए। बस इसीमें शास्त्रके सब विधि-निषेधोंका तात्पर्य है।

विषय-चिन्तन ही पाप है; किन्तु यह जानते हुए भी बार-बार मनमें विषय आते हैं तो इसका कर्त्ता और कारयिता कौन है?

श्रीमध्वाचार्यजी कहते हैं—'पापके कारण अनेक होते हैं। मनुष्य वासनासे पाप करता है, संगसे करता है, मूर्खतावश करता है, अथवा राग-द्वेषसे करता है। अर्जुनका प्रश्न है कि पापका सबसे बलवान् कारण क्या है?'

पाप-कृत्यमें मनुष्यका कौन प्रयोग कर रहा है? जैसे वैज्ञानिक बन्दरों, कुत्तों आदिपर प्रयोग करते हैं, वैसे ही क्या कोई मनुष्यपर प्रयोग कर रहा है?

'**बलादिव नियोजितः**'—मनुष्य अपने आप नहीं लगता कोई बलपूर्वक लगा रहा है।

चेष्टा तो प्रकृतिसे होती है; किन्तु चेष्टामात्रसे धर्माधर्म नहीं होता। चलना चेष्टा है; किन्तु चलना न धर्म है, न अधर्म। परोपकारके लिए चलना धर्म है और हत्याके लिए चलना अधर्म। चेष्टामें वासनाका योग होनेपर वह धर्म या अधर्म होती है।

यह वासना कहाँसे आयी? राग-द्वेषसे। राग-द्वेषमें बलात् कौन लगाता है? धर्मको छोड़नेकी प्रवृत्ति कहाँसे आती है?

उत्तर मीमांसाका कहना है—'कर्म जड़ हैं। जड़ वस्तु स्वयं अपना फल नहीं दे सकती। अतः कर्म-फल देनेवाला कोई चेतन ईश्वर है।'

यदि ईश्वर ही कर्मका फल सुख-दुःख देनेवाला है तो ईश्वर कर्म करानेवाला नहीं हो सकता। स्वयं ईश्वर ही पाप कराये और फिर उस पापका फल दुःख जीवको दे, यह बात असंगत है।

प्रकृति पाप-पुण्य कराती है? नहीं, प्रकृतिका कुछ नियम है। उन नियमोंके अनुसार सहज गतिसे वह चलती है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये अवस्थाएँ बदलती रहती हैं। प्रकृतिमें कर्तृत्व नहीं होता।

एक व्यक्ति बचपनसे 'राम-राम'का जप करते थे। मेरे घरपर घोड़ेसे गिरकर मूर्च्छित हो गये। मूर्च्छामें भी उनकी अँगुलयाँ जप करनेके समान चलती रहती थीं। जप करते-करते उनके लिए वह स्वाभाविक हो गया था।

एक दिन मेरे घर बहुत अतिथि आ गये। खाटें सब भर गयीं। ग्यारह-बारह बजे रात्रिको एक और मित्र आ गये। मैंने उन्हें अपने साथ अपनी खाटपर सुला लिया। वे सो गये तो उनकी नाक बोलने लगी। नाकसे स्पष्ट 'ॐ नमः शिवाय' निकलने लगा।

आजकल तो लोग एक दिनका व्याख्यान सुनकर अपनेको सिद्ध मान लेते हैं। उनकी साधनामें रुचि ही नहीं है। एक बार जनगणना हो रही थी। कांग्रेसने उसका बहिष्कार कर रखा था। मैं कांग्रेसमें था, अतः अपने घर

डाले गये जनगणनाके अंक मैंने मिटा दिये थे। कानूनगो ठाकुर झगरूसिंहके साथ डिप्टी-कलेक्टर घोड़ोंपर जाँच करने आये। अचानक कानूनगोका घोड़ा खड़ा हो गया! वे गिरे, उठकर घोड़े पर बैठ तो गये; किन्तु चोट सिरमें लगी थी। अपने स्थानपर जाकर मूर्च्छित हो गये। मूर्च्छामें उनका शरीर खाट परसे दो-तीन फीट उछलता था और 'हरि ॐ तत्सत्' उनके मुखसे जोरसे निकलता था।

ऐसी प्रकृति कर्म करते-करते बन जाती है और सहज गतिसे चलती रहती है। मनुष्यकी प्रवृत्ति है कि वह अपना दोष दूसरे पर डालना चाहता है। अपने क्रोधको दोष नहीं देगा, कहेगा—'उसने घूसा क्यों दिखलाया?'

अर्जुन ऐसा नहीं करते हैं। वे पापमें लगनेका कारण जानना चाहते हैं। यह प्रश्न उपनिषद्में आया है—

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः।

लेकिन उपनिषद्में यह प्रश्न शुद्धान्तःकरण अधिकारीका है। वहाँ तो सीधे कहा है—'परमात्मा प्रेरक है। वह मनका भी मन, प्राणका भी प्राण है। उसीकी प्रेरणासे सब अपने-अपने काममें लगते हैं।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ (गीता 18.61)

अर्जुन! सब प्राणियोंके हृदयमें उपस्थित रहकर ईश्वर अपनी मायासे उन्हें यन्त्रारूढके समान घुमा रहा है।

यह तो सबके सामान्य सञ्चालनकी बात है। हमारे मनमें जो पाप-वासना आती है, वह यन्त्रके प्रति प्रेरणा है या यन्त्रकी खराबी है? प्रश्न यह है।

परमात्मा द्वारा प्रेरित, प्रकाशित, अधिष्ठित अन्तःकरणमें जब वासनाएँ घुस जाती हैं, तब पाप-प्रवृत्ति होती है। जैसे जब पंखेमें धूलि जम जाती है तो पंखा जल जाता है।

विज्ञानमय कोषमें कर्त्तामें 'अहं' संज्ञा आती है। यह परिच्छिन्नता अविद्यासे आती है। उद्दण्ड वासना-सम्बन्धसे पापकर्त्तृत्व आया है, जैसे बेगारमें पकड़कर कोई पाप कराये। यह अधर्मानुष्ठान-वृत्ति कहाँसे आती है?



अर्जुन सरल है। सरलतासे पूछ रहा है। पूछनेका प्रयोजन है कि वह अपने दोष—अपनी दुर्बलताका कारण जानकर उसे दूर करना चाहता है। अतः भगवान् उसके प्रश्नका उत्तर दे रहे हैं।

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ 37॥

यह काम है—यही क्रोध भी है, यह रजोगुणसे उत्पन्न हुआ है। यह बहुत खानेवाला और बड़ा पापी है। इसे तुम अपना शत्रु समझो।

भगवान् शंकराचार्य अपने भाष्यमें यहाँ भगवान् शब्दकी व्याख्या करते हैं—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
वैराग्यस्याथ मोक्षस्य षण्णां भग इतीरणा॥

(वि०पु०-6.5.74)

सम्पूर्ण ऐश्वर्य, परिपूर्ण धर्म, पूर्ण यश, पूर्ण लक्ष्मी, सम्पूर्ण वैराग्य और मोक्ष इन छहः को भग कहा जाता है।

इन छः से जो नित्ययुक्त है, उसे भगवान् कहा जाता है। ऐसे भगवान् कहते हैं—

शृणु त्वं सर्ववैरिणं सर्वानर्थकरं यं त्वं पृच्छसि।

जिसे तुम पूछते हो, उस सबके शत्रु, सर्वअनर्थकारीका नाम सुनो।

उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्ये भगवानिति॥

(वि०पु०-6.5.78)

प्राणियोंकी उत्पत्ति, प्रलय, उनके लोक-लोकान्तरोंमें जाने-आनेको और विद्या-अविद्याको जो सम्यग् जाननेवाले सर्वज्ञ हैं, उन्हें भगवान् कहते हैं। वे श्री भगवान् 'पापमें मनुष्यको बलात् कौन लगाता है?' यह बतला रहे हैं।

अपने शत्रुको पहचान लो! आप कहाँ नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त हो और कहाँ यह शत्रु आपको हड्डी, मांस, चमड़ेमें ले जाकर पटकता है।

एक मनुष्य उत्तम कोट,कमीज, पतलून पहनकर, टाई लगाकर चला और नालीमें गिरा। इस नालीमें भद्रपुरुषको कौन लाया? शराबका नशा।

एक पढ़ा-लिखा मनुष्य गाली बक रहा था। उसकी सब विद्या बुद्धि भुलवाकर उससे गाली कौन बकवा रहा था? क्रोध।

'यह दोष भगवान्ने मुझमें भेज दिया' ऐसी बात कोई भक्त नहीं कहेगा। भक्त वह है जो स्वामीका दोष होनेपर भी अपना ही दोष बतलाता है। अपना दोष स्वामीपर नहीं डालता।

गुन तुम्हार समुझहिं निज दोषा।

जीवनमें कोई गुण है तो स्वामीका दिया है।

प्रकृति जैसे सूर्योदय कराती है, वैसे ही वह तुम्हारे उत्थानके लिए है, पतनके लिए नहीं। ईश्वरने तुम्हें बुद्धि दी है, उसका उपयोग करो। सारा दोष ईश्वर या प्रकृतिपर मत डालो। कहीं तुम्हारी भूल है, उसे मिटाओ। भूल मिटते ही जीवन उज्ज्वल हो जायगा।

'**काम एष क्रोध एष**'—ये काम और क्रोध तुम्हारे शत्रु हैं। ये कैसे शत्रु हैं—समझ लो। एक शत्रु ऐसा होता है कि समझा-बुझाकर मनानेसे मान जाता है। एक शत्रु कुछ ले-देकर संतुष्ट हो जाता है। एक ऐसा शत्रु होता है कि उसके दलमें फूट डालकर उसे पराजित किया जा सकता है। लेकिन कोई ऐसे भी शत्रु होते हैं कि उन्हें डंडा ही मारना पड़ता है।

'**महापाप्मा**'—ये काम-क्रोध महापापी शत्रु हैं। पापी समझानेसे नहीं मानते। 'लातका भूत बातसे नहीं मानता।' समझाकर बहुत लोग हार चुके; किन्तु काम मानता नहीं।

सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डितः।

सर्वनाश ही होनेवाला हो तो पण्डित वह है जो आधा देकर आधेको बचा ले। अतः 'ले-देकर' काम-क्रोधको मनाया जाय।

'**महाशनः**'—इनका पेट बहुत बड़ा है। दो देने लगो तो चार मागेंगे।

इनका पेट भरा नहीं जा सकता। देकर इनसे समझौता करना सम्भव नहीं है। तब इनमें फूट करा दें?

'**रजोगुणसमुद्भवः**'—फूट कराओगे तो तुमको ही दुःख देंगे। एक मन कहेगा—'जुआ खेलो' तो दूसरा कहेगा—'सिनेमा देखो या होटल चलो।' जहाँ ले जाओगे, वहीं दुःखी करेंगे।

'**काम एष क्रोध एष**'—जो काम है, वही क्रोध है। जो क्रोध है, वही काम है। दो रूप धारण करके एक ही आता है। दो हैं नहीं तो भेद कैसे डालोगे?

पहले यह कहता है—'स्वामी! मैं भूखा हूँ। कुछ खानेको दे दो।'

जब देनेके लिए पर्स खोलो तो कहता है—'पूरा पर्स दे दो, नहीं तो डण्डा मारूँगा।' इससे तो सावधान ही रहना है।

'**काम एष क्रोध एष**'—आपमें वासनाकी प्रबलता है और कहते हैं—'हमारी पत्नी हमारे मनके अनुसार क्यों नहीं चलती?' वस्तुतः तो दोनोंके मनका समझौता चाहिए। आप कुछ उसके मनका करें और वह कुछ आपके मनका करे।

यह मत कहो—'शत्रुने क्रोध दिलाया।' अथवा—'अमुकके रूपने काम जगाया।' वह पहलेसे ही आपके अन्तःकरणमें सो रहा था। सोता न होता तो जागता कहाँसे?

लोक-व्यवहारमें स्त्री-पुरुषकी परस्परासक्तिको ही काम कहते हैं; किन्तु कामनामात्र काम है।

संकल्पमूलः कामो वै कामः संकल्पसम्भवः।

कामनाकी जड़ है संकल्प। कामना संकल्पसे उत्पन्न होती है।

महाभारतमें शान्तिपर्वमें मंकि-गीता है। मंकिने कठिनाईसे दो बछड़े खरीदे। उन्हें पाला, बैल बनाया। एक दिन दोनोंको एक रस्सीमें बाँधकर चरनेको छोड़ा। एक ऊँट दौड़ता आया और दोनों बैलोंके मध्यसे निकला। रस्सी ऊँटके गलेमें पड़ी तो दोनों बैल ऊँटके दो ओर लटक गये। ऊँट उन्हें लेकर भाग गया। ऋषि मंकिने देखा तो बोले—'मेरे मनमें कामना थी कि 'बैल रखेंगे, खेती करेंगे, अन्न होगा; पर यह तो विलक्षण शोभा हो गयी है!—

मणीवोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम।

मेरे प्यारे बछड़े ऊँटके गलेमें ऐसे लटक रहे हैं, जैसे दो मणियाँ लटक रही हों।' दुःख हुआ तो बोले—

काम जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायते।
न त्वां संकल्पयिष्यामि तेन मे न भविष्यति॥

काम! मैं तेरी जड़ जानता हूँ। तू संकल्पसे उत्पन्न होता है। तेरे सम्बन्धमें मैं संकल्प ही नहीं करूँगा, इससे मेरे भीतर तू उत्पन्न नहीं होगा।'

संकल्प और काममें भेद है। लज्जा, बुद्धि, भय, धृति, अधृति, संकल्प, विचिकित्सादि सब मनोवृत्तियोंके भेद हैं। सम्यक्त्वकी कल्पना—'यह वस्तु बहुत उत्तम है' इसका नाम संकल्प है। सं=सम्यक्+कल्प=कल्पना। जब वस्तुमें सम्यक्त्वकी कल्पना होती है, तब उसको पानेकी कामना होती है। 'यह सुखद है। यह टिकाऊ है। यह उपयोगी है।' इस धारणाके पश्चात् उसे आप पाना चाहते हैं।

एक मेरे भक्त कानपुरमें कपड़ेका व्यापार करते हैं। कोई स्त्री दूकानपर आती है। तो कहते हैं—'यह साड़ी इन्दिरा गाँधी (या अमुक सिने-स्टार) पहनती है। यह पहनकर तुम भी सिनेस्टार लगोगी।'

यह अपनेमें हीनत्वका भाव ही तो है। यदि अपनेमें सहज सौन्दर्य होता तो वह स्त्री उसे साड़ीसे उधार क्यों पाना चाहती? सहज सौन्दर्य न होनेपर मनुष्य इसी प्रकार सुन्दरता उधार लेता-फिरता है। अपनेमें बड़प्पन नहीं है तो कहेंगे—'मेरे पास इतना रुपया है, मेरी कोठी इतनी बड़ी है अथवा अमुक-अमुक बड़े लोगोंसे मेरा परिचय है।'

जिसमें आत्मसत्य, आत्मानन्द, आत्मज्ञानका बोध है, उसको बाहरके सौन्दर्यमें समीचीनताकी कल्पना करनेकी आवश्यकता नहीं।

अन्यमें सम्यक्त्वकी कल्पना भ्रान्तिमूलक है। भ्रान्ति अज्ञान-मूलक है। अपने स्वरूपकी अद्वयता न जानना अज्ञान है। दूसरेको सत्य जानना भ्रान्ति है। भ्रान्ति होनेपर उसमें सम्यक्त्व, सौन्दर्य, आनन्दकी कल्पना हो गयी। इस कल्पनासे उसे चाहने लगे।

आत्माके अतिरिक्त दूसरेको चाहना काम है। अन्य विषयक चाहका ही

नाम काम है। 'मैं' जिस स्थानमें हूँ, उस स्थानको छोड़कर अन्य स्थानको, अन्य स्थानकी वस्तुको चाहना काम है। 'मैं' जिस कालमें हूँ, उस कालको छोड़कर अन्य काल और उस कालकी वस्तुको चाहना काम है। इन अवस्थाओंमें आपके मनमें कामित विषय होता है। यह अपनी पूर्णताके अज्ञानसे उत्पन्न होता है।

'**काम एष**'—कामकी तीन अवस्थाएँ होती हैं—1. बीजावस्था। इससे वृत्तिरूप अन्त:करण उत्पन्न होता है। 2. वृत्तिरूप अन्त:करणमें चिन्त्यमान काम रहता है। 3. भुज्यमानावस्था, जिसमें अन्त:करण विषयोंका स्वाद लेता है।

अन्त:करणमें पहले आकृति आती है, तब शरीर बनता है। यह कामकी बीजावस्था है। जब अन्त:करण बन जाता है, तब उसमें विषय-चिन्तनरूप चिन्त्यमान काम और विषयभोगरूप भुज्यमान काम रहता है।

आज आपने कामना की—'कल हम दही-बड़ा खायँगे।' रातमें निद्रा आ गयी। निद्राके समय तो कामना भी सुप्त थी। प्रात: उठकर स्मरण आया—'कल मैंने दही-बड़ा खानेका संकल्प किया था, आज खाना चाहिए।' सोते समय जो काम अन्त:करणमें बीजरूपसे था, वही जागनेपर वृत्तिरूपसे अंकुरित हुआ। खाते समय उसका भोग होगा।

संसारमें जितनी वस्तुएँ हैं, सबकी बीजावस्था बुद्धिमें है। 'अपनेसे भिन्न कोई वस्तु है, यह बुद्धि ही है। फिर वह वस्तु हमारे लिए हित है या अहित। इससे भी हित-प्रिय, अहित-अप्रिय आदि भेद होते हैं। कभी-कभी बुद्धि-विपर्याससे हित अप्रिय और अहित प्रिय लगने लगता है।'

प्रथम भ्रान्ति है कि 'परमात्माके अतिरिक्त दूसरी वस्तु भी है।' दूसरी भ्रान्ति है—'उसमें कुछ त्याज्य है, कुछ ग्राह्य है।' तीसरी भ्रान्ति है—'कुछ प्रिय है, कुछ अप्रिय है।' जीभपर कड़वी वस्तु डालें या मीठी—'यह कड़वा, यह मीठा' यह बुद्धि ही है।

भगवान् शंकराचार्य कहते हैं—'यदि तुम अपनी बुद्धि शुद्ध कर लो तो तुम्हारी इच्छा, तुम्हारे कर्म, तुम्हारे भोग भी शुद्ध हो जायँगे।'

श्रुति कहती है—

कामस्तदग्रे समवर्तत।

ईश्वरमें सृष्टिको देखकर उसमें कामनाका आरोप किया गया। ईश्वरको देखकर उसमें क्रियाका आरोप नहीं हुआ है। ईश्वरके तात्त्विक रूपका निरूपण तो श्रुति यों करती है—

सदेव सोम्याग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।

सृष्टिसे पूर्व एक अद्वितीय सत्ता ही थी।

इस समय भी सृष्टि सत्स्वरूप परमात्मा ही है। इसमें जो शत्रु-मित्रादि दीख रहे हैं, यह हमारी दृष्टिका दोष है। हमारी इसी दृष्टि-सृष्टिको लेकर श्रुतिमें परमात्मामें कामका आरोप है—

एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय।

'मैं एक हूँ, बहुत बनकर उत्पन्न होऊँ।' ईश्वरमें यह संकल्प हमारी दृष्टिमें है। वस्तुत: ईश्वरमें संकल्प नहीं है।

'**काम एष क्रोध एष**'—काम जब बीजावस्थासे चिन्त्यमान दशामें आता है, तब भी निरोधका विषय नहीं होता। आया और गया; किन्तु जब वह कर्म और भोगके क्षेत्रमें उतरता है, तब पराधीनता आती है। जब हम अपनेको परिच्छिन्न मानकर, विषयोंको अपनेसे पृथक् मानते हैं, और उनके भोगमें हमें सुख होगा, यह मानते हैं, तब काम दोष बन जाता है।

संसारमें चार प्रकारके सुख हैं—1. खाने-पीने, स्त्री, पुरुषादिसे प्राप्त होनेवाला विषयभोगजन्य सुख। यह सुख परतन्त्र है। जब दूसरा (विषय) मिले तब सुख मिले। 2. अभिमानजन्य सुख-कि हमारे पास इतना धन, भवन, उच्च पद, विद्या, तप, सहायकादि है। यह धन-भवनादि उपयोगमें नहीं आते। 'ये हमारे पास हैं' इसीका सुख है। 3. मनोराज्यजन्य सुख—'हम ऐसा करेंगे, 'अमुक पद हम प्राप्त करेंगे आदि। 4. अभ्यासजन्य सुख—किसीको व्यायाम करनेका अभ्यास है। ठीक व्यायाम कर लेता है तो लगता है कि बड़ा सुख मिला। इन चारों प्रकारके सुखोंमें भी सात्त्विक, राजस, तामस सुखोंका भेद हैं। लेकिन परमात्माका सुख इन चारोंसे पृथक् है। उसमें न भोगकी पराधीनता है, न अभिमान, न मनोराज्य, न अभ्यासकी। परमात्मा सहज सुख-स्वरूप है।

'**काम एष**'—केवल क्रियात्मक काम रोका जा सकता है। बुद्धि यदि कामनाका विरोध करती है तो मनमें द्वन्द्व हो गया। ऐसी अवस्थामें जब कि बुद्धि और मनमें विरोध हो तो कामनाको कर्म तक मत जाने दो। बुद्धि और मन दोनों कामनाके समर्थक हों तो उस कर्मको करनेमें हानि नहीं है।

कामना पूरी होगी तो लोभ-तृष्णा बढ़ेगी। उससे जीवनमें चोरी-बेईमानी आती है। मनुष्य लोभवश अन्यायपर उतर आता है।

कामनामें यदि रुकावट पड़ी तो रोकनेवालेपर क्रोध आता है। क्रोधको दबा दिया गया तो वह द्वेष बन जायगा और क्रोधको सक्रिय होने दिया जाय तो हिंसा होगी।

1. अपनेको परिच्छिन्न मत मानो तो कामना ही पास नहीं आयेगी। 2. कामनाओंको एकत्र मत करो। 3. जब क्रोध उठे तो वृत्त्यन्तर-व्यवस्था करो। जैसे यह नियम कि—'क्रोध आयेगा तो सात दिनतक नमक नहीं खायेंगे।' ये क्रोध-जयके उपाय हैं।

'**काम एष**'—आपको सत्य बोलना है तो कोई चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं; किन्तु झूठ बोलना है तो योजना बनानी होगी। सत्यका सिरपर कोई भार नहीं होता। झूठका सिरपर भार होता है। हिंसामें अपनी रक्षाका, भयका भार होता है, अहिंसामें भार नहीं होता। मनमें काम या क्रोध है तो किसीके प्रति है अर्थात् मनमें संसारका भार है। मनमें दूसरा कोई होगा-संसार होगा तो अशान्ति होगी। शान्ति तो खाली मनमें रहती है। उस खाली मनमें—'नाचत नन्दकिशोर।'

भोगमनुवर्तते रागः।

जितना भोग करो—संग्रह करो, उतनी ही अधिक उसमें आसक्ति बढ़ती जाती है। भोग तो तुम्हारी ही हिंसा कर रहा है।

आपका स्वरूप शुद्ध ज्ञान है। इसमें जो चाहना-न-चाहना है, यह व्यक्ति-सम्बन्धसे—शरीरके सम्बन्धसे है। कामकी उपस्थिति भेद-ज्ञानमें है। अभेद-ज्ञानमें तो कामकी उपस्थिति ही नहीं है। अतः ईश्वर काम-क्रोधकी प्रेरणा देता होगा, यह आशंका ही निर्मूल है।

'**रजोगुणसमुद्भवः**'—ये काम-क्रोध रजोगुणसे उत्पन्न हुए हैं। मनुष्यके

लिए काममात्रका त्याग आवश्यक है। स्त्री हो या पुरुष—उसमें अन्यविषयक महत्त्वबुद्धि होगी तो उसमें श्रद्धा होगी। प्रिय बुद्धि या सौन्दर्यबुद्धि होगी तो उसके प्रति काम होगा।

महापुरुषोंने कहा है—मनमें कामोदय होता हो तो अपनेको कर्मव्यस्त रखो। क्षणभर भी मनको व्यर्थ चिन्तनका अवसर मत दो।

आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद् वेदान्तचिन्तया।
दद्यान्नावसरं किञ्चित् कामादीनां मनागपि॥

जबतक नींद न आ जाय; जबतक मृत्यु न हो जाय, तबतक हर समय वेदान्त- चिन्तनमें ही बिताये। काम-क्रोधादिको मनमें आनेका थोड़ा भी अवसर न दे।

काम देखे कि आपके हृदयमें परमात्मा भरा है। उसे अवसर मत दो।

तत्त्वज्ञानकी दृढ़ताके लिए तो ऐसा चिन्तन ठीक है कि—'अन्तःकरणका कुछ भी हो, हम तो ब्रह्म ही हैं' लेकिन जीवन्मुक्तिके विलक्षण सुखके लिए तथा जीवनकी दृष्टिसे अन्तःकरणकी उपेक्षा ठीक नहीं है।

परमहंस रामकृष्णदेवको कोई वेश्याके घर ले गया। उसने हाव-भाव-प्रदर्शनपूर्वक नृत्य किया। जब सब लोग वहाँसे हट गये तो परमहंसजीने पुकारा—'माँ! माँ!' वहीं उन्हें समाधि लग गयी और तीन दिन लगी रही। यह 'माँ' तो कामकी भी माँ है। इसके सामने काम टिकता नहीं।

श्रीरामानुजाचार्यने एक बार देखा कि एक व्यक्ति वेश्याके ऊपर छाता लगाये, उसके मुखकी ओर देखता उलटा चल रहा है। उसे बुलाया और पूछा—'ऐसा क्यों करते हो?'

उसकी सौन्दर्यप्रियताकी बात सुनकर बोले—'तुम्हें सुन्दर चाहिए तो शामको आरतीके समय श्री वरदराज-मन्दिरमें आ जाना।'

वह आया और उन त्रैलोक्यमोहनको झाँकी पाकर धन्य हो गया। श्रीरामानुजसमप्रदायमें वह भक्त धनुर्दासके नामसे प्रसिद्ध है।

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज कहते थे—'किसीके प्रति बड़ा काम है तो मनसे उसका चमड़ा हटाकर देखो।'

काम-दमनके उपय हैं—1. जब काम जागे तो श्रम करनेमें लग जाओ।

2. लोगोंके बीचमें जा बैठो। 3. भगवन्नाम लेने लगो। 4. उपनिषदोंका स्वाध्याय करो।

आपका वास्तविक शत्रु आपके हृदयमें बैठा है। काम मीठा विष है और क्रोध कड़ुवा विष। ये ही मधु-कैटभ हैं।

पहले जो कहा भगवान्ने—'**रागद्वेषौ व्यवस्थितौ**' उसमें रागका ही नाम यहाँ काम है और द्वेषका ही नाम क्रोध है।

जहाँ राग होगा, द्वेष भी होगा। जहाँ द्वेष होगा, राग भी होगा। कोई अन्तःकरण संस्कारशून्य नहीं होता। काम-क्रोध, हिंसा-द्वेष, अस्मिताका मूल भ्रान्ति है—अविद्या है। श्रीमद्भागवतमें आया—

असंकल्पाज्जयेत्कामं क्रोधं कामविवर्जनात्।

संकल्प करना बंद करो तो काम जीता जायगा। क्रोध जीतना है तो कामना मत करो। मनमें कामना होगी तो क्रोध आयेगा ही। क्रोधपर विजय पाना है तो कामना शिथिल होनी चाहिए।

कामना तब मिटेगी, जब परिच्छिन्न अहंकार मिटेगा। परिच्छिन्न अहंकार तब मिटेगा, जब भ्रान्ति मिटेगी। भ्रान्ति तब मिटेगी, जब अज्ञान मिटेगा। अज्ञान तब मिटेगा, जब आत्मा अद्वितीय है, यह ज्ञान होगा।

× × ×

क्रोध एष—क्रोधः कस्मात् कं रुणद्धि इति।

क्रोधको क्रोध क्यों कहते हैं? इसलिए कि यह हृदयमें जो सुख है, उसे रोक देता है। क्रोध दोनों घर फूँकनेवाला है। जहाँ होता है, वहाँ जलाता है और जिसपर होता है, उसे जलाता है।

एक मित्रने नियम किया—'जब-जब क्रोध आयेगा तब-तब दस रुपया दान करेंगे।'

वे धनी थे। यह नियम कोई गरीब या कृपण करे तो क्रोध आनेसे पूर्व ही मनमें आयेगा 'क्रोध आनेसे धन जायगा।' उसका क्रोध रुक जायगा।

यह नियम कर लीजिये—'एक बार क्रोध आयेगा तो एक सप्ताह नमक या चीनी (जो अधिक प्रिय हो) नहीं खायेंगे।' इस वृत्त्यन्तरसे क्रोध नहीं आयेगा।

क्रोध आये तो मौन हो जाइये। एक न्यायालयमें एक वकील बहस कर रहे थे। बीचमें उन्हें क्रोध आ गया। बहस बंद करके बैठ गये जजसे पूछकर। पाँच मिनट पीछे खड़े हुए बहस करने तो जजने पूछा—'आपको क्या हुआ था?'

वे बोले—'मेरे गुरुदेवने आज्ञा दी है कि 'क्रोध आ जाय तो पाँच मिनट मौन रहो।'

जज बोले—'आपके गुरु कौन हैं? मैं उनके दर्शन करूँगा।'

× × ×

श्रीउड़ियाबाबाजीने आश्रममें पाँच-सात रसोइये थे। एकने शिकायत की—'ये रसोइये पहले खा लेते हैं।' रसोइयोंने इसपर हड़ताल कर दी। एक महात्मा बोले—'इन लोगोंको रसोई बनाते समय गर्मी लगती है, इससे क्रोध आता है। इनको प्रति दिन ठण्ढाई पिलानेकी व्यवस्था कर दो तो इन्हें क्रोध कम आयेगा।'

आपको क्रोध आये तो एक गिलास ठण्ढा पानी पी लीजिये। गुस्सा शान्त हो जायगा तो अवाच्य नहीं बोलेंगे। अकार्य नहीं करेंगे।

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज कहते थे—'क्रोध आये तो कमरा बंद करके बैठ जाओ। थोड़ा रो लो। आँसू बहेंगे तो उनके साथ क्रोध बह जायगा।'

यदि आपको अपने मुखका सौन्दर्य प्रिय है तो क्रोध आनेपर दर्पणके सामने खड़े हो जाइये और क्रोधसे विकृत अपना मुख देखिये।

ये सब प्रयोग अपने लिए हैं। दूसरेको क्रोध आनेपर उसे कमरेंमें बंद करना, पानी पीनेको देना, दर्पण दिखाना आदि तो उसके क्रोधको और भड़कायेंगे।

दूसरेको सुधारने मत जाओ। अपनेको सुधारो।

कामसे क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोधसे भी शत्रुता निकालनेकी कामना होती है।

ये काम-क्रोध ऐसे शत्रु हैं कि न समझानेसे मानते, न कुछ देनेसे। इनमें भेद नहीं डाला जा सकता। इनके लिए तो दण्ड ही अपेक्षित है।

'रजोगुणसमुद्भवः'—**'रजोगुणः समुद्भवः यस्य सः'**—कामसे रजोगुण उत्पन्न होता है और रजोगुणसे काम उत्पन्न होता है।

'रजसः गुणस्य च समुद्भवः'—भीतर जब काम आता है तो मनमें राग आता है।

अर्जुनका प्रश्न यह नहीं है कि राग कहाँसे आता है। प्रश्न है—पाप कहाँसे आता है? राग जहाँ होता है, मन वहाँ रँग जाता है। इसकी प्रत्येक अवस्थामें इच्छा और काम रहता है। कामके अनेक रूप हैं। वह अन्तःकरणमें वृत्ति देनेवाला,राग देनेवाला है। लेकिन बीजरूप कामसे आत्मा पूर्णतः आच्छादित नहीं होता।

यह महापाप्मा काम कामरूप है। नानारूप धरकर यह आता है।

कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता।

काम ही दान देनेवाला और काम ही दान लेनेवाला है। कामका वेग प्रबल होनेपर न चाहनेपर भी लोग पापाचरण कर बैठते हैं।

'रजोगुणसमुद्भवः'—यह जीवनमें रजोगुण और उसकी वृत्ति बढ़ायेगा। आपके ज्ञानपर यह धूलि डालता जायगा। यह आपको पराधीन बनानेवाला है।

'काम' नाम चैतन्यकी प्रधानतासे है और 'रजोगुण' नाम जड़ताकी प्रधानतासे है। जिसमें काम होगा, वह ममतावान् होकर पराधीन हो जायगा। मोहग्रस्त होकर दुखी हो जायगा। आप तीन बातोंसे बचना चाहते हैं—1. दुःखसे 2. अज्ञानसे 3. मृत्युसे। क्योंकि आप आनन्दस्वरूप, ज्ञानस्वरूप और सत्स्वरूप हैं। यह काम आपको दुःख, अज्ञान और मृत्युकी ओर ले जाता है। कामकी पूर्तिसे आप सुख चाहते हैं तो आप पराधीन बनकर सुख चाहते हैं। पराधीन होकर सुख कभी मिल नहीं सकता।

'महाशनः'—कामपूर्तिसे यह तृप्त होनेवाला नहीं है। आपने देखा होगा कि लोग भेंटको अपना स्वत्व मान लेते हैं। इस कामको जितना दो, उतनी भूख इसकी बढ़ती जाती है। यह कभी तृप्त नहीं होता। निष्काम व्यक्तिको दो आलू दो तो वह बहुत मानता है; किन्तु सकामको पूरे संसारका राज्य भी कम प्रतीत होगा।

जीर्यन्ति जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः।
जीर्यन्ति जीर्यतोऽङ्गानि तृष्णैका तरुणायते॥

जैसे-जैसे मनुष्य वृद्ध हो जाता है, वैसे-वैसे केश पकते जाते हैं, दाँत टूटते-कमजोर होते जाते हैं, सब अंग दुर्बल पड़ते जाते हैं; किन्तु एक तृष्णा है जो अधिकाधिक प्रबल होती जाती है।

'महापाप्मा'—ये काम-क्रोध महापापी हैं। जिसके हृदयमें रहते हैं, उसे ही दुःख देते हैं।

काम-क्रोध भी कई प्रकारके होते हैं। एक पूर्वजन्मके संस्कारोंसे होते हैं जो भीतरसे बाहर आते हैं। एक बाहरसे भीतर जाते हैं। बाहर वस्तु दीखी तो उसे पानेकी कामना हो गयी।

आत्मा संविद्-रूप है। इसमें न काम-क्रोध बाहरसे जाते, न भीतर हैं।

एक व्यक्ति घरमें बैठा है। घरमें अमुक वस्तु नहीं है तो उसे लेने बाजार जाता है। यह कामना भीतरसे आयी। एक व्यक्ति बाजार गया, अमुक वस्तु देखकर उसे लेनेकी इच्छा हो गयी।

पूर्व जन्मसे आये काम-क्रोधको आप मार्ग दे सकते हैं; जैसे शरीरमें पसीना होता है, बाल-नख बढ़ते हैं तो स्नान करते हैं, बाल-नख काटते हैं। इसी प्रकार मनोविकारोंको भी सम्हालना चाहिए। बाहरसे ये भीतर न जायँ, इसकी सावधानी रखनी चाहिए; क्योंकि ये आपके शत्रु हैं।



ये काम क्रोध शत्रु हैं तो क्या इनसे भागा नहीं जा सकता? इनकी पहुँच कहाँ तक है?

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥ 38॥

जैसे धुएँसे अग्नि ढँक गयी हो, जैसे मैलसे दर्पण ढँका हो, जैसे झिल्लीसे गर्भ ढँका रहता हो, वैसे इस कामसे तुम्हारा स्वरूप ढँक गया है। वासनावान् जीव-चैतन्यसे धुआँ निकलता है; क्योंकि गीली लकड़ीसे ही धुआँ निकलता है। यह नियम नहीं है कि जहाँ-जहाँ प्रकाश होगा, वहाँ-वहाँ धुआँ निकलेगा ही। बिजलीसे, सूर्यसे धुआँ कहाँ निकलता है? आप प्रकाशस्वरूप हैं। यदि आपमें कामना है तो यह कामनाका धुआँ आपसे निकलेगा। सात्त्विक कामनासे आत्मस्वरूप ढँकता नहीं; लेकिन धुआँ दूसरेको धूमिल करता है। कामनाके धुएँके कारण आपको जगत् जड़, दूसरा और दुःखरूप दीख रहा है, अन्यथा यह सब परमात्मा ही है।

'**यथादर्शो मलेन च**'—बाहर परमात्मा नहीं दीखता, यह कामनाके धुएँके कारण और भीतर परमात्मा नहीं दीखता, यह भी कामनाके कारण। जब दर्पणपर मैल जम जाता है तो उसमें प्रतिबिम्ब नहीं दीखता। राजस-तामस काम रूप मैल बाहरसे भीतर गया है। इससे अन्तःकरण ढँक गया है।

'**यथोल्वेनावृतो गर्भः**'—जबतक शिशु झिल्लीसे ढँका रहता है, सर्वथा नहीं दीखता।

यहाँ यह त्रिविध आवरणका वर्णन हुआ है। जब आपके मनमें किसीकी कामना-वासना-इच्छा-आकांक्षाका उदय होता है, तब आप उसीके स्मरणमें डूब जाते हैं और अपनेको भूल जाते हैं। स्वयं कुछ हैं, यह पता नहीं लगता। कामनामें तन्मय होकर अपनेको सर्वथा भूल जाना यह झिल्लीसे गर्भका ढकना है।



ये काम-क्रोध केवल सामान्य जनोंके लिए--अज्ञानीके लिए ही शत्रु होंगे, उन्हींके चित्तका आवरण बनते होंगे, ऐसा मत समझो!

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥ 39॥

अर्जुन! इस कामने ज्ञानको ढँक रखा है। यह ज्ञानीका सदाका शत्रु है। यह बहुरूपिया अग्नि ऐसी है जिसकी कभी पूर्ति नहीं होती।

जब कोई कहता है—'बेईमानी, अनाचार करते रहो तब भी ईश्वर प्राप्त हो जायगा।' तब इसे सुनकर जो प्रसन्न होता है, वह बेईमान हैं, यह सिद्ध हो गया। सत्पुरुषको ईश्वरकी प्राप्ति होती है। इस तथ्यको, ज्ञानको उसकी कामनाने ढँक दिया है।

अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्।

ज्ञानको ढँकनेवाला अज्ञान है। वस्तुतः ज्ञान ही अज्ञानको भी प्रकाशित करता है। जब हमारे नेत्र और सूर्यके मध्य मेघ आ जाते हैं तो हम कहते हैं—'सूर्य ढँक गया।' यदि सूर्य ढँक जाय तो बादल दीखें ही नहीं। अतः अज्ञानने ज्ञानको ढँक दिया है का तात्पर्य है कि अज्ञानने बुद्धिको ढँक दिया है। यहाँ '**आवृतं ज्ञानमेतेन**' कहा, और दूसरे स्थानपर '**अज्ञानेनावृतं ज्ञानं**' कहा, इसका अर्थ है कि जो अज्ञान है, वही काम है। वही क्रोध है। काम-क्रोध ही अज्ञान हैं। ये अज्ञानके बच्चे हैं। अज्ञान ही इनका पोषण करता है और ये अज्ञानके साथ ही मरते हैं।

ये सबके शत्रु हैं। सबको नीचा दिखाते हैं। सबको बन्धनमें डालते हैं। सबको कष्ट देते हैं।

'**ज्ञानिनो नित्यवैरिणा**'—ज्ञानके साधकके तो ये नित्यशत्रु हैं। संसारीके

मनमें काम आता है तो वह कहता है—'मेरे मनमें बड़ी उत्तम स्फुरणा हुई है, पैसे उधार लेकर साड़ी ले लो।' यह कोई अच्छी स्फुरणा है? संसारीके मनमें कामना आयेगी तो वह मनोराज्यका आनन्द लेगा। लेकिन ज्ञानके साधकके मनमें कामना आयेगी तो वह चौंकेगा और सावधान होगा।

बीजावस्थामें तथा उत्पत्त्यावस्था (चिन्त्यमानावस्था)में काम संसारीके लिए दुःखद नहीं है। समझदार-ज्ञानीको ही कामकी ये अवस्थाएँ दुःखद प्रतीत होती हैं।

भोगावस्था—कामका जब परिणाम आता है, भोगसे रोग होते हैं, तब संसारी दुःखी होता है। बहुत भोगसे रोग होते ही हैं। बहुत खानेसे जैसे अजीर्ण होता है, वैसे ही टी० बी०, दमा आदि भी अतिभोगके ही परिणाम हैं। लेकिन संसारी रोग होने तक भोग भोगते जाते हैं। समझदार तो चींटीकी पदध्वनिके समान काम-क्रोधकी पदध्वनिसे भी सावधान हो जाता है। उसका तो काम नित्यशत्रु है!

'**कामरूपेण**'—यह बहुरूपिया है। शीघ्र पहचानमें नहीं आता। दुष्पूर है, भोग देनेसे तृप्त नहीं होता। अनल है—जलाता ही है। इससे शीतलता सुख-शान्ति मिल नहीं सकती।

प्रेममें ज्ञानावरण नहीं है, काममें ज्ञानावरण है। प्रेम, ज्ञान और आनन्द तो एक हैं। सबके लिए आनन्दकी वर्षा करना प्रेम है।

'जहाँ देखता हूँ वहाँ तू ही है।'

जहाँ ज्ञानके साथ आनन्द होता है, वहाँ परमानन्द है। जहाँ ज्ञानसे पृथक् आनन्द है, वहाँ विषयानन्द है।

'यह अपनेसे पृथक् है और इसमें आनन्द है' यह भ्रम है। यही आवरण है। ज्ञानका आवरण है काम। काम ज्ञानका विरोधी है। यह कहता है—'इसमें सुख है, मुझमें सुख नहीं है।'

गीतावलीमें विभीषणजी कहते हैं—

महाराज राम पहँ जाऊँगो।
सुख स्वारथ परिहरि करिहउँ सोइ
जेहिं साहेबहिं सुहाऊँगो॥

यह प्रेम है। इसमें अपना सुख स्वार्थ त्याज्य हो गया। कामके मूलमें अज्ञान है। वह आवृत करता-सा भासता है।

ज्ञानी कामसे बैर नहीं करता, काम ज्ञानीसे बैर करता है। बचपनमें मैं भागवत पढ़ता तो—'**साधूनामसुरद्रुहाम्**' का अर्थ लगाता—

असुरेभ्यो द्रुह्यन्तीति तेषाम् असुरद्रुहाम्।

जो असुरोंसे द्रोह करे, वह असुरद्रुह। गुरुजीने बतलाया—ऐसा अर्थ नहीं है।

द्रुह्यन्ति इति द्रुहः सुरविरोधिनः असुराः, असुरा द्रुहः येषां ते असुरद्रुहः।

सुरोंके विरोधी असुर जिनसे द्वेष-द्रोह करते हैं, वे असुरद्रुह, ऐसा अर्थ है।

ज्ञानी कहता है—'हमारे अखण्ड अनन्त स्वरूपमें काम स्वप्नक्षण जैसा है।'

काम कहता है—'तुम अनन्त अखण्ड अद्वय बने बैठे हो! हम तुमको संसारमें भिखारी बनाकर भटकाते फिरेंगे।'

बचपनमें एक कहानी पढ़ी थी—'एक राजाने पड़ोसी राज्यपर आक्रमण कर दिया। उसी समय एक महात्माके सामने एक समस्या आ गयी। वे जो मिलता, प्रतिदिन खा लेते थे। एक दिन एक पैसा बच गया। समस्या यह थी कि वह पैसा वे किसे दें? किसी गरीबको देना चाहिए; किन्तु गरीब कौन? इस चिन्तामें ही थे कि पता लगा कि राजा धनके लिए दूसरे राज्यपर आक्रमण कर रहा है, बस पक्का हो गया कि वह राजा गरीब है। मार्गमें जा बैठे। राजाकी सवारी आयी तो रोककर पैसा देते हुए बोले—'मेरे पास यह बच गया था। सबसे गरीबको देना चाहता था। सुना कि तुम धनके लिए दूसरे राज्यपर आक्रमण करने जा रहे हो। युद्ध करके सहस्रोंको मारोगे तो धन मिलेगा। पता नहीं कितनी नारियाँ विधवा होंगी। कितने पशु मरेंगे। धनके लिए तुम इतना बड़ा पाप करने जा रहे हो तो तुमसे अधिक दरिद्र संसारमें कौन होगा!'

राजाने सेना वहाँसे लौटा दी। महात्माको उसने गुरु बना लिया।

श्रीलक्ष्मीपति सिंघानिया विदेश-यात्रा करने निकले थे। अमेरिकामें उनसे किसीने पूछा—'इस देशमें और तुम्हारे देशमें क्या अन्तर है?'

श्रीसिंघानिया बोले—'आपका देश सम्पन्न है। यहाँ पैसेसे सब कुछ मिल सकता है; किन्तु गरीब होते हुए भी भारतवर्षमें कुछ ऐसी बातें हैं, जो पैसेसे नहीं खरीदी जा सकतीं।'

कामने आपका मूल्य ढँक दिया और वस्तुओंका मूल्य आपकी बुद्धिमें बैठा दिया है।

मैं इमामगंज (गया) कई बार गया हूँ। वहाँ वंशपरम्परासे मेरे घरके शिष्योंका कुल है। वहाँ जिनके यहाँ ठहरता हूँ, उन्होंने बहुत-सी रामायणें संग्रह कर रखी थीं। उनमें-से एक रामायणमें कथा है—

श्रीराम-रावण-युद्ध हो रहा था। रावणने देखा कि प्रत्यक्ष युद्धमें विजय पानेकी कोई आशा नहीं रही, उसने राक्षसोंसे कहा—'सबके सब गाय बन जाओ।'

राक्षस कामरूप होते हैं। सब गाय बन गये। अब वे गायें बानरोंकी सेनापर टूट पड़ीं। बानर मारे जाने लगे; किन्तु गायोंपर न बानर प्रहार कर सकते थे, न श्रीराम या लक्ष्मण। यह देखकर विभीषण श्रीरामके समीप आकर बोले—'ऐसे तो आप हार जायँगे।'

श्रीराम—'हार जाना, मर जाना भी स्वीकार है, किन्तु गायोंपर बाण कैसे चला सकता हूँ।'

विभीषण—'ये गायें तो हैं नहीं, राक्षस मायासे गाय बने हैं। आप व्याघ्रास्त्रका प्रयोग करें।'

श्रीरामने व्याघ्रास्त्र प्रयोग किया। उनके वाण बाघ बनकर गायोंका संहार करने लगे, तब राक्षस फिर गाय रूप छोड़कर राक्षस बन गये और भागे।

जब हम कहते हैं—'हमें यह चाहिए' तब तो काम रहता ही है, जब कहते हैं—'यह नहीं चाहिए' तब भी काम ही रहता है। कामसे मुक्ति परमात्मासे एक हुए बिना नहीं मिलती।

एक मनुष्य गाली दे रहा है। आप कहते हो—'गाली नहीं देनी चाहिए।' यह कामना है और 'प्रशंसा हो' यह भी कामना है। जब गाली-प्रशंसा समान हो जायँ, आप परमात्मासे एक हो जायँ, तब काम छूटा।

'दुष्पूरेण'—यह पूरा करनेसे पूरा नहीं होता।

न दृष्टा तत्सिद्धिः निवृत्तिरप्यनुदर्शनात्।

(सांख्यदर्शन)

कामकी सिद्धि नहीं देखी जाती; क्योंकि एक कामना निवृत्त होनेपर फिर दूसरी कामना जाग जाती है।

भोजनके नये-नये तरीके, वस्त्रोंके नये नये ढंग निकलते ही जाते हैं। सादा खाओ या मसालेदार, सादा पहनो या तड़क-भड़कदार; किन्तु काम भोगका आजतक सृष्टिमें कोई अन्त पा नहीं सका।

अन्तो नास्ति पिपासायाः।

(महाभारत)

इस कामकी प्यासका कहीं अन्त नहीं है।

यत् पृथिव्यां ब्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।

(भाग०-9.19.13)

भागवतमें आया कि पृथिवीमें जितना अन्न, धन, पशु और स्त्रियाँ हैं, वे सब एक ही व्यक्तिको मिल जायँ, तब भी उसकी सन्तुष्टि नहीं होगी।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

(भाग०-9.19.14)

किसी भी प्राणीकी कामना उपभोगसे शान्त नहीं होती। अग्निमें घी डालनेके समान यह भोगसे और बढ़ती है।

यह श्लोक मनुस्मृति, महाभारत, विष्णुपुराण, भागवत आदि कई ग्रन्थोंमें आया है।

'अनलेन'—वासना अग्नि है। उसे भोग देकर शान्त नहीं कर सकते। कहीं-न-कहीं उसमें मर्यादा बनानी होगी। तब यहीं एक मर्यादा बनाकर अपनेको शान्त करके परमानन्दानुभव क्यों नहीं करते?



पता लग जाय कि डाकू किस जंगलमें हैं या शेर किस गुफामें है तो उसे मार सकते हैं। अतः इस कामका निवास कहाँ है, यह पता लगना चाहिए। शत्रुके गढ़का पता लगे तो उसे नष्ट कर दें।

एक मुसलमान और एक हिन्दूमें विवाद छिड़ा—'राम बड़ा या खुदा?'

दोनोंने निश्चय किया कि बेरके पेड़पर चढ़कर कूदा जाय। जिसका ईश्वर बड़ा होगा, वह बच जायगा। हिन्दू पहले चढ़ा और—'हे राम! रक्षा करो!' कहकर कूद पड़ा। वह बच गया। मुसलमान चढ़ा पेड़पर। उसे संदेह हुआ—'पता नहीं खुदा बचाये या नहीं।' कूदते समय बोला—'हे रमखुदइया बचाओ!' वह गिरा तो उसकी टाँग टूट गयी।

ऐसे काम नहीं चलता। राम या खुदा तो दो नहीं हैं; किन्तु आपकी आस्था उनमें कैसी है?

आपको सुख लेना है रामसे या कामसे? विषयसे सुख लेना है या अपने भीतरसे? अतः देखो कि काम कहाँ बैठा है? यह कैसे हमारे ज्ञानको ढँकता है। इसको वश करनेकी रीति क्या है?

भगवान् शङ्कराचार्यने भाष्यमें लिखा है—

ज्ञाते हि शत्रोरधिष्ठाने सुखेन शत्रुनिबर्हणं कर्तुं शक्यते।

यदि ज्ञात हो जाय कि शत्रु कहाँ रहता है तो सरलतासे उसका दमन सम्भव है। अतः भगवान् काम-क्रोधका निवासस्थान बतलाते हैं।

ब्रह्मचर्यका गढ़ कहाँ है? सत्संगमें। अच्छे लोगोंमें रहते हैं तो अच्छा अभ्यास बनता है। बुराईसे बचे रहते हैं।

चोरोंकी संगतिसे जीवनमें चोरी आती है, जुआरियोंकी संगतिसे जुआ, अनाचारियोंकी संगतिसे अनाचार। महाकवि भारविका कहना है—

अभिवर्षति योऽनुपालयन्, विधिवीजानि विवेकवारिणा।
स सदा फलशालिनीं क्रियां शरदालोक इवाधितिष्ठति॥

(किराता०-2.31)

जो अनुशासनका बीज विवेकके जलसे सींचता है और उनका पालन-पोषण करता है, उसे समय आनेपर स्वयं सत्फलकी प्राप्ति होती है, जैसे किसान जब खेतमें समयपर बीज बोता—सींचता है तो स्वयं समय पर उसमें फल लगते हैं।

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः॥

(किराता० -2.30)

सहसा कोई काम नहीं करना चाहिए; क्योंकि अविवेक भारी विपत्तियोंका कारण है। सद्गुणपर मोहित होकर विचार करके काम करनेवालेका सम्पत्ति स्वयं वरण करती है। अतः विचार और सद्गुणका कभी परित्याग नहीं करना चाहिए।

एक प्रश्न है कि निष्कामताकी प्रक्रिया क्या है?

दूसरा प्रश्न है—जब शरीरमें मन, बुद्धि, प्राण रहते हैं, तभी सब व्यवहार होता है। ये नहीं रहते तो व्यवहार नहीं होता। इसमें परमात्माको माननेकी क्या आवश्यकता है?

विज्ञानकी परिभाषा है—

सेन्द्रियत्वं चेतनत्वम्।

इन्द्रियवान् होना चेतनका लक्षण है। 'विज्ञान केवल विषयका वेत्ता है।'

अध्यात्मशास्त्रमें—'स्वयंप्रकाश होना अर्थात् स्वयंको तथा दूसरेको जानना और न जाननेको भी जानना चेतनत्व है।

चेतन दूसरेकी सहायताके बिना जानता है। वह अपनेको दूसरोंको तथा दूसरोंके अभावको भी जानता है; किन्तु अपना अभाव कभी जान नहीं सकता। सुषुप्तिमें मन-इन्द्रिय न रहनेपर भी उनका न रहना ज्ञात होता है या नहीं? यदि उस समय प्रतीति न होती हो, तब भी जागकर स्मरण तो होता है।

'इस' 'उस' यह समझना अन्तरमनकी वृत्तिसे होता है। वृत्ति सुषुप्तिमें नहीं रहती। अतः उस समय ज्ञात नहीं होता। लेकिन वृत्तिके अभाव और वृत्तिके विषय देश, काल, पदार्थका ज्ञान तो होता है। वह सुषुप्ति जिससे जानी जाती है, वह चेतन है। वह चेतन देशाकार, कालाकार, द्रव्याकार वृत्तिसे

विलक्षण है। अतः वह देश-काल एवं द्रव्यसे परिच्छिन्न नहीं होता। वह परिपूर्ण, अविनाशी, अखण्ड, अद्वय है। वह साक्षी ही वस्तुतः ब्रह्म है।

इसी ज्ञानस्वरूप चेतनमें विषयको सच्चा मानना, शाश्वत ज्ञानका सविषयरूप मन है। ज्ञानका बाधित विषय रूप चेतन है। ज्ञानका निर्विषयरूप समाधि है। अपने शाश्वत प्रेष्ठका वृत्तिमें स्फुरण भक्ति है। विनाशी विषयका वृत्तिमें स्फुरण संसार है।

चित्तमें कामना किसी अप्राप्त वस्तुको पानेकी होती है। वह अप्राप्त वस्तु इन्द्रियग्राह्य है या नहीं? इससे मतलब नहीं है कि वह वस्तु कैसे बनी, कब कितने समय बाद मिलेगी या कितनी दूर है। अप्राप्त काल, अप्राप्त देश, अप्राप्त वस्तुको प्राप्त करनेकी इच्छाका नाम ही काम है।

आत्मा नित्यप्राप्त है, अतः इसे पानेकी कामना इच्छा नहीं है।

आप सचमुच कामना मिटाना चाहते हैं?

आपका लक्ष्य भौतिक है, आप पुत्र-पत्नी, धन-पद आदि चाहते हैं तो कामको मिटानेका प्रश्न ही कहाँ है? फिर तो काम-पूर्तिका प्रश्न है।

आपकी लक्ष्यपूर्तिके लिए जितनी कामना उपयोगी हो उसे स्वीकार करो। दम्भ मत करो।

अर्थकी प्राप्तिकी कामना है एकमें शत्रुको नीचा दिखानेके लिए तो उसका धन पापका अंग होगा। एक अर्थ दान करनेको चाहता है तो उसका धन धर्मका अंग हो गया।

इसी प्रकार आप कर्म अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए करना चाहते हैं तो कर्म मोक्षका अंग है और कर्म दूसरेका माल़ हड़पनेको करना चाहते हैं तो वह अधर्मका अंग है। आपकी कामना किसके लिए है? निष्कामता निःस्वार्थभाव आपकी पूर्णताके लिए है और आप निष्काम कर्म करना चाहते हैं तो यह धर्मका अंग है।

आप निष्कामतासे चाहते क्या हैं? इससे कामनाको संयममें लाना चाहते हैं? कामनाको मिटाना चाहते हैं या कामनाको एक स्थानमें केन्द्रित करना चाहते हैं?

आधिदैविक कामना धर्म है। एक मनुष्यके मनमें स्वर्ग पानेकी कामना

है, इसके लिए उसने लौकिक भोग त्याग दिया है, क्या यह धर्म नहीं है? लेकिन ईश्वर-प्राप्तिकी कामनामें समग्र मन लगा दिया, विश्वकी वस्तु विश्वके काम आ गयी, यह स्थिति धर्मसे बड़ी है।

वृत्ति-निरोध दो दल बनाकर होता है। वृत्तियोंमें अविद्या, अस्मिता, राग द्वेष, अभिनिवेशरूपा क्लिष्ट वृत्तियोंका निरोध धर्माचरणरूप अक्लिष्ट वृत्तिसे होता है। जब धर्माचरणकी अक्लिष्ट वृत्तियाँ प्राणायामादिसे निरुद्ध होती हैं, तब समाधि प्राप्त होती है। उसमें कामनाका पता ही नहीं होता।

आपको आधिदैविक उन्नतिकी कामना है तो लौकिक उन्नतिकी कामना छोड़िये। ईश्वरकी प्राप्तिकी कामना है या समाधि चाहते हैं तो लौकिक--पारलौकिक सब भोगोंकी कामनाको छोड़ना पड़ेगा।

यदि आप समग्र रूपसे कामनाका नाश चाहते हैं—आपका लक्ष्य आध्यात्मिक है तो बेधड़क निष्कामनाके मार्ग पर चहिए। प्रात:काल और सायंकाल शरीरमें लघुशंकादिका बेग न हो तब शान्तिसे बैठकर ईश्वरसे प्रार्थना कीजिये—'प्रभो! आपने कृपा करके मेरे मनमें जिज्ञासा—मुमुक्षा दी। अब मैं कोई ऐसा काम न करूँ जो मेरे लक्ष्य और इस इच्छाके विपरीत हो!'

संकल्प दृढ़ कीजिये—'मैं आज दिन-रात कोई ऐसा काम, भोग या संग्रहकी इच्छा नहीं करूँगा, जो मेरी आध्यात्मिक उन्नतिका विरोधी हो।' यह प्रतिज्ञा मन-ही-मन गुरुके चरण स्पर्श करके कीजिये।

इसके बाद आजका जीवन कैसे व्यतीत करना है, यह प्रात:काल ही निश्चय कीजिये। सावधान रहिये। यदि सावधानी न रहे, कोई भूल हो जाय तो पश्चात्ताप कीजिये—प्रायश्चित्त कीजिये। लेकिन पश्चात्ताप दीर्घकालतक धारण नहीं करना चाहिए। सूर्य-दर्शन कर लेना, भगवन्नाम ले लेना, भगवद्ध्यान कर लेना आदि सामान्य प्रायश्चित्त हैं।

यहाँ यह बात ध्यानमें रखिये कि 'बेईमानी या कोई बुरा काम करके हम फिर भगवन्नाम लेकर शुद्ध हो जायँगे।' इस भावको भूलकर भी मनमें मत आने दीजिये; क्योंकि—

नाम्नो बलाद् यस्य हि पापबुद्धिर्न विद्यते तस्य यमैर्हि शुद्धिः।

भगवान्के बलपर कि 'नाम लेकर मैं पाप-मुक्त हो जाऊँगा' जिसकी

बुद्धि पापमें जाती है, यमराजके नरकोंमें रहकर भी उसकी शुद्धि नहीं होती; क्योंकि भगवान्‌के नामपर पाप किया, उसका पाप द्विगुण हो गया। अथवा यम शब्दमय-नियमोंका वाचक है।

कामनाएँ कब कैसे मिटती हैं, इस सम्बन्धमें कुछ, आचार्योंके मत इस प्रकार हैं—

श्रीचैतन्य महाप्रभु कहते हैं—'जैसे प्यास लगने पर जल पीनेकी इच्छा होती है, भूख लगनेपर भोजन करनेकी इच्छा होती है, ऐसे ही जब ईश्वर-प्राप्तिके लिए हृदयमें व्याकुलता होती है, तब स्वतः सब कामनाएँ मिट जाती हैं।'

श्रीवल्लभाचार्यका मत है—'जब अपने किये साधनका बल छूट जाता है और मनुष्य भगवान्‌की शरण हो जाता है, तब कामनाएँ निवृत्त हो जाती हैं।'

श्रीरामानुजाचार्यजीका कहना है—'सम्पूर्ण कर्मों एवं इच्छाओंके मूलमें जो अन्तर्यामी प्रेरक है, उसपर दृष्टि जानेपर कामनाएँ छूट जाती हैं।'

श्रीशंकराचार्य भगवान्‌का अभिमत है—'अपने जीवनमें शम-दम, उपरति-तितिक्षा, श्रद्धा—समाधानरूप षट् सम्पत्ति धारण करनेसे कामना-निवृत्ति होकर अन्तःकरणकी शुद्धि होती है।'

अन्तःकरणकी शुद्धि, कामना-निवृत्ति, अन्तर्यामीपर दृष्टि, भगवत्प्राप्तिके लिए व्याकुलता और भगवच्छरणागति, ये सब एक ही बात हैं।

मनुष्य जब संसारकी वस्तुसे राग या द्वेष कर बैठता है अर्थात् मनोवृत्ति जब अपने भीतर संसारका विषय ले आती है, तब अशुद्ध हो जाती है। मनमें शत्रु होगा तो जलन होगी। राम होगा तो पक्षपात होगा।

शमका अर्थ है शान्ति। काम, क्रोध, लोभ, मोहसे मनमें उद्वेग न होना।

दमका अर्थ है इन्द्रियोंकी चञ्चलतासे उद्वेग न हो।

उपरति—कर्मका अधिक विक्षेप न हो।

तितिक्षा—स्वतः प्राप्त दुःख, वे भले प्रकृतिसे मिले हों या दूसरोंसे, उद्विग्न न करें।

श्रद्धा—विद्या-बुद्धिका अभिमान न हो। गुरुके प्रति नम्रता बनी रहे।

ऋषिकेशमें एक स्त्री सत्संग करने आती थी। मैं गंगा चन्द्रभागाके संगमपर बैठता था। अनेक महात्मा और गृहस्थ आ जाते थे। वह स्त्री यह प्रकट करती थी कि मैं जो श्लोक बोलता हूँ, वह उसे पहलेसे आता है। मैं बोलता तो साथ-साथ वह भी बोलती। मैं नया श्लोक बोलता, तब बोल तो पाती नहीं थी, लेकिन होंठ हिलाती जाती थी, मानो बोल रही है। श्रद्धा हो तो यह अभिमान नहीं रहता।

समाधान—समाहित होकर अपने स्वरूपका अनुसन्धान करना। मन चाहे निर्विषय हो या आत्माकार वृत्ति हो।

महात्माओंने मनको वशमें करनेके लिए चार उपाय बतलाये हैं—

अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसंगतिरेव च।
वासनासंपरित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम्॥
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल।

1. अध्यात्मविद्यामें स्थित हो जाय, 2. सत्पुरुषोंके संग रहा जाय, 3. वासनाओंका सम्यक् त्याग कर दिया जाय, 4. प्राणोंकी गति निरुद्ध कर दी जाय, ये चित्त-जयकी पुष्ट युक्तियाँ हैं।

एक मनुष्य शत्रुपर विजय पाने जा रहा है। मार्गमें शत्रुका चर मिला। उसने पूछा—'कहाँ जा रहे हो?'

चर—'तुम्हें पता है—उसके पास ऐसा भूत है कि उसके दुर्गके समीप पहुँचते ही पागल हो जाओगे!'

वह मनुष्य डरकर लौट पड़ा।

आप जिस भौतिकतामें फँसे हो, उसीमें फँसे आजके ये सब लोग हैं। जो लोग कहते हैं—'मनको वशमें करनेका प्रयत्न करोगे तो पागल हो जाओगे!' वे उसी कामके चर हैं, जिसे आप वशमें करना चाहते हो।

मनमें गति है तो नवीन-नवीन विषय उसमें आते-जाते रहेंगे। आप मनको देखोगे तो मन तुमसे एक होकर बैठा रहेगा; क्योंकि आप जैसे ही मनके द्रष्टा-साक्षी हुए, मन वैसे ही आपसे मिल गया। यदि मन विषयोंसे-वृत्तियोंसे मिल गया तो वह जड़ हो गया, आपके परिवारमें रहा ही नहीं।

जो लोग भीतरसे धन-भोग, पद-प्रतिष्ठा चाहते हैं और इनकी प्राप्तिका

उपाय न करके किसी निवृत्तिपरायण महात्मासे दीक्षा लेकर प्राणायाम करने लगते हैं, सकाम मनसे मनोनिरोधका प्रयत्न करते हैं, वे वस्तु चाहते हैं बाहरकी और मन रखना चाहते हैं भीतर, तब उनमें द्वन्द्व होता है। ऐसे लोग ही पागल हो जाते हैं।

श्रीअरविन्दको जेल हुई। उन्होंने सोचा—'भगवान्‌ने बड़ी कृपा की।' भजन करनेमें लग गये। बाहरकी चिन्ता छोड़ दी। फलतः भगवद्दर्शन हो गया। वे पागल नहीं हुए।

एक क्रान्तिकारीको आजीवन कारागारका दण्ड मिला। उन्होंने सोचा—'जब जीवनभर जेलमें ही रहना है, तब बाहरकी चिन्ता करके क्या लाभ? भजन करो।' वे भजनमें लग गये। बड़ी उन्नति हुई। पीछे 19 महीने बाद छोड़ दिये गये।

कुत्ता जब बाहर जाना चाहता हो और आप उसे करमेंमें बंद कर दो तो वह भूँकता है। जब वह सो जाना जानता हो और आप उसे बंद कर दो तो चुप-चाप सो जायगा। जीवनमें संघर्ष इच्छा वैपरीत्यसे होता है।

इच्छा वैपरीत्य नहीं है, सचमुच विषयोंमें लगना नहीं चाहते; इतने पर भी काम बलात् इधर लगाता है। उसे कैसे वशमें करें?

इसके लिए पहले यह जानना आवश्यक है कि कामका निवास कहाँ है? उसका स्थान जानकर उसके वश करनेका उपाय किया जाना चाहिए। अतः भगवान् कामका निवासस्थान बतलाते हैं।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनाम्॥ 40॥

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इसका निवास कहा जाता है। प्राणीके ज्ञानको ढँककर यह इन्हींको मोहित करता है।

यदि शत्रु आपके घोड़ोंको दाना-चारा खिलाकर मिला ले, सारथिको घूस देकर लगाम अपने हाथमें ले ले—रथका स्वामी जब रथमें बैठकर चले, तब सारथि रथकी बागडोर शत्रुके हाथमें पकड़ा दे तो?

इन्द्रियाणि हयानाहुर्मनः प्रग्रहमेव च।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि........................॥

श्रुति कहती है कि आपके जीवन रथमें इन्द्रियाँ घोड़े हैं, मन लगाम है और बुद्धिको सारथि समझो।

अब इनमें आकर बैठ गया काम। ये रामके पक्षमें नहीं रहे। रामके पक्षमें होते तो?

प्रेम कनौड़ो राम सों तिभुवन तिहुँ काल न भाई।

× × ×

'रघुवर रावरी यहै बड़ाई।
निदरि धनी आदर गरीब पै
कहत कृपा अधिकाई॥'

काम और राममें यही अन्तर है कि काम इन्द्रियोंको आकृष्ट करके तत्काल सुखाभास देकर दुःखके समुद्रमें ढकेलनेवाला है और राम हृदयमें बैठे परमानन्दस्वरूप हैं। रामकी ओर बुद्धि जाती है तो काम भाग जाता है।

वायु निर्गन्ध है। वह चमेली-कुञ्जसे निकला तो उसमें चमेलीकी सुगन्ध आ गयी और शौचालयसे निकला तो शौचालयकी दुर्गन्ध। इसी प्रकार ज्ञान शुद्ध है। पहले विषयमें अस्ति-बुद्धि होती है—'यह है' फिर 'यह अच्छा है' या 'यह बुरा है।' तब उसे पाने या छोड़नेकी इच्छा होती है। तब इच्छानुसार प्रयत्न होता है।

ज्ञानमें 'अस्ति' बुद्धि होकर उसमें प्रिय या अप्रिय बुद्धि पूर्व-पूर्व बुद्धि-संस्कारके अनुसार होती है। तब वासना आती है। अपने स्वरूपमें स्थित होनेसे यह परम्परा ही भस्म हो जाती है।

प्रकाशमें रंग, वायुमें गन्ध, आकाशमें नीलिमा नहीं होती। ऐसे ही ज्ञानमें प्रिय या अप्रिय पाना नहीं होता। वस्तुतः तत्त्वमें बीज नहीं होता। गेहूँ-चना, आम-अंगूर जला दें तो वे मिट्टी रह जायँगे। बीज संस्कारसे संस्कृत मिट्टी अमुक प्रकारका बीज बनती है। इसी प्रकार ज्ञानस्वरूप आत्मा अपनेमें वासना-संस्कार धारण करके पशु-पक्षी, कीट-पतंग मनुष्य आदिका बीज बन जाता है।

नेत्र कहीं आसक्त नहीं होते। जो सामने आता है, उसे प्रकाशित करते दिखाते हैं। इसी प्रकार ज्ञान कहीं संसक्त नहीं होता। वह केवल प्रकाशक है।

ज्ञानमें काम अध्यस्त है, जैसे मिट्‌टीमें बीजत्व अध्यस्त है। ज्ञानमें जीवत्व नहीं है। ज्ञानमें संस्कारारोपकका नाम वैसे ही जीवत्व है, जैसे मिट्टीमें संस्कारारोपकका नाम बीजत्व है।

ज्ञानिनो हृदयं मूढैर्विज्ञातं चेद् जगद् भवेत्।

ज्ञानियोंके हृदयकी स्थिति मूर्ख समझ लें तब तो जगत् सच्चा हो जाय। ज्ञानीके हृदयकी स्थिति जैसे अज्ञानी समझ नहीं सकते, वैसे जगत् सच्चा भी नहीं हो सकता। यह तो ज्ञानमें अध्यस्त है।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।

काम इन्द्रिय, मन, बुद्धिमें रहता है। इन्द्रियाँ चाहती हैं—'अमुक भोग मिले।' मन चाहता है—'अमुक प्रिय वस्तु मिले।' बुद्धि सोचती है—'अमुक वस्तु मिलनेमें हमारी भलाई है।' बुद्धि अपने आश्रयको भूल गयी कि—'अपने स्वरूपमें बैठनेमें ही मेरी भलाई है।'

एक दिन एक सेठका नौकर मेरे पास आकर बोला—'स्वामीजी! आपमें मेरी बड़ी श्रद्धा है, आपपर मेरा बड़ा प्रेम है। कृपा करके मुझे चार हजार रुपये दे दीजिये।'

मैंने पूछा—'तुम करोड़पति सेठके नौकर हो, अपने मालिकसे क्यों नहीं माँगते?'

नौकर—'मालिकसे मेरी लड़ाई हो गयी है।'

मैं—'हमारा-तुम्हारा सम्बन्ध तो उन सेठजीके ही कारण है। तुम उनके ड्राइवर हो, अतः मेरे पास आते थे। जब उनसे ही तुम्हारी लड़ाई हो गयी, तुम उनको छोड़कर जाना चाहते हो, तो मैं तुम्हें क्या जानता हूँ?'

एक मुनीब सेठके यहाँ काम करता है; किन्तु उसका प्रेम अपने बच्चों-पत्नीसे होता है। सेठसे पैसा लेकर बीबी-बच्चोंका पालन करता है। उसकी आसक्ति बीबी-बच्चोंमें है और आश्रय सेठ हैं। यदि उसकी आसक्ति भी सेठमें हो तो उसे नौकर नहीं कह सकते। उसे सेठका भक्त कहेंगे। जब आश्रय प्रेमास्पद एक होता है, तब भक्ति होती है।

बुद्धि, मन, इन्द्रियोंका आश्रय परमात्मा है। ये भीतर बैठे परमात्मासे सत्ता-स्फूर्ति लेती हैं। इन्हें प्रकाश और आनन्द परमात्मासे प्राप्त होता है।

वहाँसे आनन्द लेकर ये किसी एकसे—देहसे प्रेम करके उसे आनन्द देती हैं। इनका प्रेमास्पद देह है। देहको ही ये बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ सत्ता, ज्ञान और आनन्द दे रही हैं। यह सब कामकी करतूत है। सारी सत्ता, सम्पूर्ण ज्ञान, समस्त आनन्द ये लेती हैं भीतर बैठे परमात्मासे, किन्तु उसके प्रति ईमानदार नहीं हैं। उसकी ओर पीठ करके बैठ गयी हैं, बेईमानीसे दूसरोंकी ओर देख रही हैं।

परिच्छिन्न बुद्धि, परिच्छिन्न मन, परिच्छिन्न इन्द्रियोंमें अपरिच्छिन्न परमात्मासे विमुख होकर जो विशेष बुद्धि, विशेष इच्छाएँ, विशेष भोग हमारे जीवनमें आया, ये इनमें बैठे कामकी कारस्तानी हैं।

'एतैर्विमोहयत्येष'—इन बुद्धि, मन, इन्द्रियोंके द्वारा ही यह काम अनन्त, परिपूर्ण, अद्वितीय ज्ञानको ढँक देता है। इस देहाभिमानी बेचारेको सम्मोहित कर देता—स्वप्नायित कर देता है।

हम अपनी कामनासे इतने सम्मोहित हो जाते हैं कि गुरुको गुरु, धर्मको धर्म, शास्त्रको शास्त्र नहीं समझते। हम कामकी आज्ञा मानते हैं।

अस्याधिष्ठानम्—अधिष्ठानका अर्थ है, रहनेका स्थान। इन्द्रिय, मन और बुद्धि अधिष्ठान हैं और इनमें काम अध्यस्त है। नेत्र बने रहते हैं और देखनेकी इच्छा आती-जाती रहती है।

विषय-ग्रहणके द्वारा इन्द्रियाँ अपनेमें कामको स्थान देती हैं। इन्द्रियाँ कहती हैं—'ये विषय सुन्दर हैं।'

संकल्पके द्वारा मन अपनेमें कामको स्थान देता है। मन कहता है—'ये विषय सुखद हैं तो हमको मिलने चाहिए।'

निश्चयके द्वारा बुद्धि अपनेमें कामको स्थान देती है। बुद्धि विषयोंकी प्राप्तिकी इच्छाको दृढ़ करती है और उनको पानेका उपाय बतलाती है।

अधिकं स्थानं अधिष्ठानम्—रज्जु अधिष्ठान है और सर्प अध्यस्त है। रज्जु कहती है, सर्प बाधित हो जाता है। रज्जुमें एक बार सर्पका भ्रम होता है तो दूसरी बार हार, दण्ड या भूमिमें पड़ी दरारका। इसी प्रकार इन्द्रिय, मन, बुद्धि रहती हैं, काम बाधित हो जाता है। एक बार एक कामना तो दूसरी बार दूसरी कामना।

इन्द्रियोंके द्वारा अनुभूत विषयमें ही इच्छा होती है; नितान्त अननुभूत विषयमें इच्छा नहीं होती। अज्ञातके विषयमें इच्छा नहीं होती। प्रिय रूपसे वस्तुका ज्ञान पहले होगा, तब उसे पानेकी इच्छा होगी और अप्रिय रूपसे वस्तुका ज्ञान पहले होगा तब उसे छोड़नेकी इच्छा होगी। ये दोनों इच्छाएँ काम हैं।

एतैर्विमोहयत्येष—एष-कामः, यह काम जब वृत्तिमें आता है, तब सविषय होता है। काम आभासभास्य नहीं होता। यह साक्षिभास्य है। घड़ी आभासभास्य है। घड़ी पृथक् है, मैं देखनेवाला उससे पृथक् हूँ। ऐसे काम नहीं देखा जाता। 'मुझमें काम है, यही अनुभव होता है। इस अनुभवसे लाभ?'

जानेहु ते छीजहिं कछु पापी।

जाननेसे ये दोष दुर्बल हो जाते हैं। प्रतीतिके क्षणके अतिरिक्त काम नहीं होता। इसलिए काम स्वप्नवत् है। यह इन्द्रियोंसे प्रकाशित होनेवाला नहीं है। यह तो कार्यगम्य है। कार्यसे इसका पता लगता है।

अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः।

यह काम अज्ञातसे आ टपकता है और फिर अज्ञात हो जाता है। यह इन्द्रिय, मन, बुद्धिके द्वारा विमोहित करता है। स्वयं सामने नहीं आता।

ज्ञानमावृत्य विमोहयति, देहिनं विमोहयति।

यदि आप अपनी बुद्धि, मन, इन्द्रियोंमें कामको स्थान न दो तो आपका ज्ञान नहीं ढँकेगा। आत्मा कामसे मोहित नहीं होता, देहाभिमानी मोहित होता है।

कामको पहचानो। यह ज्ञानका आवरण है। ज्ञान आपको ही होगा। ज्ञानके आश्रय आप हैं। आप पर काम पर्दा डालता है। आत्मा सुखस्वरूप है, इस तथ्यपर काम पर्दा डाल देता है तो लगता है—'सुख तो फूलमें है। सुखको फूल प्रकाशित करता है।' अर्थात् फूल स्वयं प्रकाश, फूल सत्तावान्, फूल सुख-स्वरूप लगने लगा; क्योंकि आपका ज्ञान ढँक गया है। फूल सुख, प्रकाश एवं सत्तावाली वस्तु—सच्चिदानन्द बन गया; किन्तु जब आप भूखे, प्यासे, किसी प्रियसे वियुक्त होते हैं, तब यह फूल आपको सुख देता है?

आप एक परिस्थितिविशेषमें हों, तभी फूल आपको सुख देता है। आप परिस्थितिविशेषसे आबद्ध न हों तो आपको फूलमें न सुख मिलेगा, न प्रकाश, न सत्ता ही। सुख, सत्ता प्रकाश तीनोंके आधार आप स्वयं हैं। आपको कामने पराश्रित कर दिया है। इसने आपके ज्ञानको ढँक दिया है।

एक जादूगरने जादूसे हीरा दिखलाया। हमने मूल्याङ्कन किया कि यह बहुमूल्य है। लगा—'हमें यह चाहिए।' नहीं मिला तो लगा—'हम कुछ नहीं हैं। हममें कोई महत्ता नहीं।' यह ज्ञानका आवरण हुआ। जादूगर भी बनावटी हीरा दिखला रहा था, उसे दे कहाँसे। वह तो लुप्त हो गया। इसी प्रकार संसारके सब विषय मायासे दीख रहे हैं। ये अवश्य जायँगे। इनसे वियोग अवश्यम्भावी है। आप इन्हें छोड़ो तो आपको शान्ति मिलेगी। ये आपको छोड़ जायँगे तो आपको दु:ख होगा।

कामप्रेरित इन्द्रियाँ कहती हैं—'हम जो बनाती हैं, जैसा बतलाती हैं, वही ठीक है।'

मन कहता है—'हम जिसे प्रिय मानते हैं, वही प्रिय है।'

बुद्धि कहती है—'उसकी प्राप्तिका यह उपाय है।'

इन सबके कहनेसे देहरूपी रथपर बैठा देहाभिमानी मोहित हो जाता है। कभी-कभी तो विवेकी भी मोहित हो जाते हैं।

'देहिनं मोहयति कदाचिद् विवेकिनामपि देहिनं मोहयति इति विमोहयति।'

कामना आवेश होता है तो धर्म समझमें नहीं आता। दरिद्र, कुरूप, वृद्ध, रोगी, कुछ नहीं दीखता। काम अंधा बना देता है। 'विमोहयति'—अत्यन्त मोहमें डाल देता है।



भगवान् शंकराचार्यने भाष्यमें कहा—'अब तुम्हें ज्ञात हो गया कि काम-क्रोध कहाँ रहते हैं तो इनका नियमन शक्य हो गया।'

योगदर्शनके व्यासभाष्यमें कहा गया है—

चित्तनदी उभयतो वाहिनी।
वहति पापाय वहति पुण्याय च॥

यह चित्तरूपी सरिता दोनों ओर बहनेवाली है। यह कभी पापकी ओर बहती है तो कभी पुण्यकी ओर।

इसमें एक ओर बाँध बनाकर दूसरी ओर नहर निकालना आवश्यक है। नहर नहीं निकालेंगे तो नदी बाँधको तोड़ देगी। बाँध बहुत दृढ़ बनाओगे तो उसके ऊपरसे बह निकलेगी। यदि नहर है और जल नियन्त्रित है तो इसकी धाराको हम मोड़ सकेंगे।

नियमका अर्थ मारण नहीं है। कामनाएँ रहें, लेकिन मर्यादामें रहें।

वाचं यच्छ मनो यच्छ यच्छ सर्वेन्द्रियाणि च।
..................न भूयः कल्पसेऽध्वने॥

वाणीको नियन्त्रित करो, मनको नियन्त्रित करो, सब इन्द्रियोंको नियन्त्रित करो, बुद्धिको नियन्त्रित करो, फिर जन्म-मरणके मार्गमें नहीं भटकोगे।

आत्मा नहीं भटकती, इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि भटकती हैं। इनसे तादात्म्य करके आत्मा अपनेको भटकता मानता है। अतः इनको नियन्त्रित करनेकी बात कहते हैं—

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥ 41॥

इसलिए भरतश्रेष्ठ! तुम पहले इन्द्रियोंको नियन्त्रणमें करके इस ज्ञान-विज्ञानका नाश करनेवाली पापी (काम) का त्याग कर दो।

'तस्मात्'—क्योंकि तुम्हारी इन्द्रियोंको, तुम्हारे मनको, तुम्हारी बुद्धिको जो तुम्हारे रहनेके स्थान हैं, उनपर कामने अधिकार कर लिया है, इसलिए—

श्री रघुबीर धीर हितकारी।
मैं केहि कहौं बिपति अतिभारी॥
मम हृदय भवन प्रभु तोरा।
तहँ आइ बसे बहु चोरा॥
मानहिं नहिं विनय निहोरा।
अति कठिन करहिं बरजोरा॥
तुम, क्रोध, लोभ, अहँकारा।
मद, मोह, छोभ, रिपु मारा॥
अति करहिं उपद्रव नाथा।
मर्दहिं मोहि जानि अनाथा॥
मैं एक अमित बटमारा।
कोउ सुनै न मोर पुकारा॥
भागेहु नहिं नाथ उबारा।
रघुनायक करहु सम्हारा॥
कह तुलसिदास सुनु रामा।
लूटहिं तस्कर तव धामा॥
चिन्ता यह मोहि अपारा।
अपजस जनि होउ तुम्हारा॥ (विनय-पत्रिका)

इस कामने तुम्हारे भवनपर अधिकार किया है अन्तबिजली, बुझा दी है—'**ज्ञानमावृत्य**'। घरके स्वामीको मूर्च्छित '**विमोहयति**' कर दिया है।

एक सज्जन मेरे पास आकर बोले—'स्वामीजी! कोई ऐसा उपाय बतलाओ कि काम-क्रोध बने भी रहें और ईश्वर भी मिल जाय।'

मैंने कहा—'भाई, तुम्हारा प्रेम तो काम-क्रोधसे है। तुम उन्हें बनाये रखना चाहते हो। ये तो रहें ही, साथमें कहते हो ईश्वरसे कि 'तुम भी आ जाओ।' प्रेमी काम-क्रोधके हो, इनके रहते-रहते ईश्वर आ जाय तो उसका स्वागत करनेको प्रस्तुत हो। ऐसे घर ईश्वर आया नहीं करता।'

'**भरतर्षभ**'—भरतने इन्द्रियोंको वशमें किया था और ऋषभदेवने भी। तुम तो इस वंशमें श्रेष्ठ हो। इस वंशमें बड़े-बड़े कामजयी राजा हुए हैं।

ज्ञानेन भरतीति ऋषभः।

ऐसे वंशमें जो अपने ज्ञानसे प्रकाशित है, वह ऋषभ सर्वश्रेष्ठ है। जिसमें पालन-पोषणकी विशेषता हो, वह भरत। अर्जुन! तुम तो र्म-ज्ञानयुक्त एवं पालन-पोषणदक्ष असाधारण हो। तुम्हारे लिए कामको जीत लेना कठिन नहीं है।

'**आदौ इन्द्रियाणि नियम्य**'—पहले इन्द्रियोंका नियमन करो, जिससे विषयका भाव होनेपर भी अपना ज्ञान किसी विषयमें न अटके।

'**त्वं**'—तुम अर्थात् जिसमें कर्म करनेकी इच्छा है, जो दुःखको मिटाना चाहता है, जो लौकिक और पारलौकिक सुख पाना चाहता है, वह।

'यह हमारा कर्त्तव्य है' इस प्रकार अपनेमें कर्त्तृत्वका आरोप करनेसे कर्मेच्छा होती है।

इं सुखं छादयतीति इच्छा।

जो अपने स्वरूपभूत सुखको ढँक दे, उसका नाम इच्छा।

आदौ—आदानमादिः।

किसी वस्तुके ग्रहणका जो प्रथम क्षण है, वह आदि है।

भगवान् शंकराचार्य कहते हैं—

'**पूर्वमेव—श्रवणात् मननात् निदिध्यासनात् पूर्वमेव। कामविजयात् पूर्वमेव।**'

श्रवणसे, मननसे, निदिध्यासनसे और काम-विजयसे भी पहले 'आदौ'—मनमें कामकी निवृत्ति तो पीछे होगी, पहले तुम इन्द्रियोंको नियन्त्रणमें करो।

दूसरे टीकाकारने कहा—'**आदौ—मोहनात् पूर्वम्**' काम तुम्हें मोहित कर ले, इससे पहले ही इन्द्रियोंको नियन्त्रित कर लो।

मनो नियमनात् पूर्वं बुद्धिनियमनात् पूर्वम्।

मनका नियन्त्रण करनेसे पहले, बुद्धिका नियन्त्रण करनेसे भी पहले इन्द्रिय-नियन्त्रण करो। मन और बुद्धि वशमें नहीं हैं तो हानि नहीं, पहले इन्द्रियोंको वशमें करो। यह धर्म-साधनाका प्रारम्भ है।

विचारकका कहना है—'यदि हम शुद्ध विचार करने लगे तो अशुद्ध

विचार नहीं उठेंगे। अशुद्ध विचार नहीं उठेंगे तो अशुद्ध इच्छा भी नहीं होगी। अशुद्ध इच्छा नहीं होगी तो अशुद्ध कर्म भी नहीं होंगे।'

प्रेमियोंका मत है—'हम मनसे भगवान्‌को प्यार करते हैं, फलतः बुद्धि भी भगवान्‌का ही विचार करेगी। ऐसी अवस्थामें इन्द्रियाँ कोई ऐसा काम नहीं करेंगी जो भगवान्‌को अप्रिय हों। भगवान् अनुचित कर्म, अनुचित भोगसे प्रसन्न नहीं होते, अतः ये स्वयं छूट जायँगे।'

एक दिन मेरा एक भक्त मेरे पास आ बैठा। श्वाससे दुर्गन्धित धुआँ निकल रहा था। मैंने यह बात उससे कह दी। वह, तो कहने आया था—'मेरी समाधि लग जाती है।'

एक दिन हमलोग एक फक्कड़ महात्माके पास गये। साथके एक सज्जनसे महात्माने पूछा—'तुम सिगरेट पीते हो?'

'हाँ!' उन्होंने स्वीकार किया।

महात्मा—'तुम अपने भीतर बैठे भगवान्‌को धूप देते हो।'

उन्होंने उसी दिनसे धुआँ पीना छोड़ दिया।

धर्मकी दृष्टिसे देखो तो धर्म-विरुद्ध, शास्त्र-विरुद्ध कर्म नहीं करना चाहिए। कर्म इन्द्रियोंसे होते हैं, अतः पहले इन्द्रियोंको नियममें लाओ। कर्म और भोगमें बँटवारा करके इनमें-से निषिद्धका त्याग कर दो। इससे आधे विषय छूट जायँगे।

मेरे एक मित्रको संग्रहणी हो गयी। वे कभी-कभी जोशमें आकर कहते-'खानेसे रोग होता है तो नहीं खायेंगे।' तीन-चार दिन उपवास करते। इससे जब बहुत भूख लगती तो डटकर भोजन कर लेते। उपवाससे हुआ सब लाभ नष्ट हो जाता। संयमकी यह रीति नहीं है। मनुष्यको जीवनमें मर्यादा-ग्रहण करनी चाहिए। पशु-पक्षी वृक्षादिके जीवनमें स्वाभाविक मर्यादा होती है। मेरे एक मित्रने नियम किया था कि उन्नीस ग्रास ही भोजन करना। वे बीमार नहीं पड़ते थे।

स्वस्थे देहे बुद्धयः सम्भवन्ति।

स्वस्थ शरीरमें बुद्धिका विकास होता है। एकने आवेशमें एक दिन एक लाख रुपया दान कर दिया। दूसरे दिन माँगने आनेवालोंको गाली देने लगा। ऐसा आवेश उचित एवं लाभकारी नहीं होता।

पहले इन्द्रियोंका नियन्त्रण करो। खाना-पीना, चलना-बैठना, जागना-सोना, बोलना आदि सब नियमित हों। श्रीहरिबाबाजी महाराज इतने नियमित थे कि जब घूमने जाते थे तो लोग अपनी घड़ी मिला लेते थे।

यहाँ इन्द्रियोंको पहले नियन्त्रित करनेको कहा जा रहा है—पहले विवेकको क्यों न ठीक किया जाय?

'**ज्ञानविज्ञाननाशनम्**'—बड़े-बड़े विवेकियोंको भी काम 'चारो खाने चित' पटक देता है। जब काम या क्रोध प्रबल होते हैं तो विवेक या मनकी प्रियता काम नहीं देती। अत: पहले इन्द्रियोंको वशमें करना चाहिए। भले मन-बुद्धिमें काम रहे; किन्तु जो मुट्ठीमें है, उसे तो रोको। पहले ही मन और बुद्धि हाथ नहीं आयेंगे। बुद्धिवेगमें गम्भीर कामवेश होता है। पहले विवेकका मार्ग ठीक नहीं है। मनुष्यके विवेकपर कामका नियमन छोड़ो तो काम उसे अपने वशमें कर लेगा।

एक कथा आती है—भगवान् व्यासने लिखा—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

माता, बहन, बेटीके साथ भी एकान्तमें एक आसनपर न रहे। इन्द्रियसमूह बलवान् हैं। ये विद्वान्को भी विचलित कर देते हैं।

यह श्लोक मनुस्मृतिका भी है। महाभारतमें इसे लेनेपर व्यासजीके शिष्य जैमिनिने आपत्ति की—'यह पिछड़ेपनकी बात है। विद्वान्के लिए इस प्रकार सोचना ठीक नहीं है।'

भगवान् व्यास योगिराज थे। तर्क करके शिष्यको समझाना उन्होंने ठीक नहीं समझा। उस समय बात टाल दिया। रात्रिमें आँधी चली और वर्षा होने लगी। एक युवती भींगती हुई वनमें जैमिनिकी कुटियापर पहुँची। उसने रात्रिके लिए आश्रय चाहा। जैमिनि बोले—'तुम कुटियामें रहो। हम रात्रिमें बाहर रह लेंगे। कुटिया भीतरसे बंद कर लो, रात्रिमें खोलना मत।'

युवतीने ऐसा ही किया। रात्रिमें जैमिनिके मनमें काम आया। कुटियाका द्वार खुलवाना चाहा और जब वह नहीं खुला तो छप्परपर चढ़े। छप्पर तोड़कर नीचे कूदे। तब युवती बने भगवान् व्यास अपने रूपमें प्रकट हो गये। जैमिनि चरणपर गिर पड़े और उन्होंने स्वीकार किया कि व्यासजीका श्लोक ठीक है।

काम विवेकको दबा लेता है और प्रियताको भी। जीवनको ठीक मार्गपर रखनेवाली वस्तु धर्म है। अत: पाँच बातें जीवनमें चाहिए—

1. कष्ट सहन करनेका थोड़ा अभ्यास। चाहे मानसिक हो या शारीरिक।

2. पवित्रताको समझ लो। शरीरसे जो कुछ निकलता है—मल-मूत्र, कफ-पसीना, नख-केश, रक्तादि सब अपवित्र हैं।

शरीरमशुचिं विदुः।

शरीर ही अपवित्रताका खजाना है। वन भूमि पवित्र होती है। मनुष्य ही जल, वायु, पृथ्वी और अग्निको अपवित्र करता है। गाली बनकर आकाशको भी अपवित्र करता है। शरीरसे निकली सब धातुएँ अपवित्र हैं।

पहले किसीको स्वप्नदोष होता था तो वह स्नान करके एक सहस्र गायत्री-मन्त्रका जप करना आवश्यक मानता था। ऐसा नियम हो तो मनमें दुर्वासना कैसे आयेगी? अत: पवित्रताका अभ्यास करो।

3. आपका स्वाध्याय ठीक रहे। आजकी पत्र-पत्रिकाएँ, उपन्यास चरित्रके महत्त्वको प्राय: गिरानेवाली होती हैं। उन्हें पढ़ते हैं तो मनमें सोये बुरे संस्कार जागते हैं। अतएव अध्ययन उत्तम होना चाहिए। कहानी पढ़ना हो तो महाभारत पढ़िये। रामायण, पुराण, उपनिषद् एवं दूसरा धार्मिक-आध्यात्मिक साहित्य पढ़िये।

4. वर्तमान स्थितिसे मनमें असन्तोष मत जगाइये।

5. प्रतिदिन थोड़ा भगवन्नाम-जप, पूजन, ध्यान कीजिये, जिससे चित्तकी रुचि उधर जाय।

ये पाँच नियम हैं—तप, शौच, स्वाध्याय, सन्तोष और ईश्वर-प्रणिधान।

'**इन्द्रियाणि नियम्य**'—इन्द्रियोंको नियममें लाइये। यहाँ '**इन्द्रियाणि**' बहुवचन है। आगे भी '**बलवानिन्द्रियग्रामः**' कह आये हैं। तात्पर्य यह है कि सब इन्द्रियोंका नियमन करना है।

एक महात्माने वाणीको रोक दिया। मौन हो गये; किन्तु हाथ चलने लगा। खूब लिखते थे। इससे काम, क्रोध वशमें होगा? नहीं होगा। केवल मौनका पुण्य उन्हें होगा। इससे मनपर विजय नहीं होगी। एक मार्ग बंद है तो क्या हुआ, दूसरा तो खुला है। जीभसे आप मौन रखो, पर चाहे जो खाओ,

नेत्रसे सिनेमा देखो, हाथसे ताश खेलो तो मन वशमें होगा? काम-क्रोधको वशमें करना चाहते हो तो एक इन्द्रियको रोककर शेष अन्य इन्द्रियोंको छुट्टी देनेसे काम नहीं चलेगा।

तावज्जितेन्द्रियो न स्याद् विजितान्येन्द्रियः पुमान्।
न जयेद् रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे॥

(भागवत-11.8.21)

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥ (गीता 2.49)

दूसरी सब इन्द्रियोंको जीत लेनेपर भी पुरुष तबतक जितेन्द्रिय नहीं है, जबतक जिह्वाको जीत न ले। स्वादको जीत लेनेपर सब इन्द्रियाँ जीत ली गयीं। निराहार रहने—उपवास करनेसे सब इन्द्रियाँ विषयोंसे उपरत हो जाती हैं; किन्तु जीभको छोड़कर। उपवास करनेवालेकी जीभकी स्वादलोलुपता बढ़ती जाती है। अतः भोजन वशमें होना चाहिए।

हमलोग रामघाट (बुलंद शहर) गंगा-किनारे गये। वहाँ एक स्वामी अद्वैतानन्दजी रहते थे। विरक्त महात्मा थे। कभी खाली नहीं बैठते थे, कोई-न-कोई काम करते रहते थे। कुछ काम न होता तो जौ-चावल एकमें मिला देते और फिर बैठे हुए उसे चुनते रहते थे। उन्होंने बतलाया—'पण्डितजी! जैसे चक्कीमें जो अन्न डालते हैं, उसीका आटा निकलता है, वैसे ही मुखमें जो ग्रास डाला जाता है, उसीका रस सब इन्द्रियोंमें-से निकलता है। यदि भोजनमें हमारा नियन्त्रण हो तो सब इन्द्रियोंकी क्रियाशैलीके नियमनमें सुविधा होगी। भोजनमें नियमन नहीं होगा तो इन्द्रिय-नियमन कठिन होगा।'

'पतितानां न पातकम्'—जिनका उद्देश्य ही भोग है; उनकी बात भिन्न है; पर जो चाहते हैं कि अन्तःकरण शुद्ध हो, परमात्माका साक्षात्कार हो, उनके जीवनमें नियम आवश्यक हैं।

आत्माका स्वरूप शुद्ध संविद् है। उसमें न भोग है, न आग है। ज्ञानमें न चिपकना है, न उष्णता है। न काम है, न क्रोध है। काम-क्रोध द्वैतमूलक हैं। आत्मा अद्वयतत्त्व है। काम-क्रोध नित्य, शुद्ध, मुक्त स्वरूपमें सहज नहीं हैं। ये आगन्तुक हैं।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥

(गीता-16.21-22)

नरकके तीन प्रकारके ये द्वार हैं, जो आत्मनाश करनेवाले हैं—काम, क्रोध और लोभ। इसलिए इन तीनोंको त्याग दे। अर्जुन! इन तीनों अन्धकारके द्वारोंसे छूटकर मनुष्य अपने कल्याणका यत्न करता है और तब परम गति पाता है। ये काम-क्रोध-लोभ नरकके, अन्धकारके द्वार हैं। काम-क्रोधकी दशामें हम तो रहते हैं; परन्तु हमारी चेतना अन्धकारसे—दुःखसे आक्रान्त हो जाती है।

'**नरकस्येदं द्वारम्**'—अर्थात् दुःखके स्थान। '**तमो द्वारैः**' अर्थात् अन्धकारके स्थान। इन काम-क्रोधके आवेगमें हम अपने स्वरूपको भूल जाते हैं। दुखी और पराधीन हो जाते हैं। काम-क्रोध आपको जड़ बनाते हैं। जिसे पाने या मारनेको व्याकुल हो रहे हो, वह जड़ है। उस जड़का चिन्तन करके जड़ हो जाओगे।

'**पाप्मानं प्रजहि**'—इस दुष्टका संग छोड़ो।

इस प्रसंगमें काम-क्रोधसे दो प्रकारसे निबटनेको कहा जा रहा है। आगे कहेंगे—'जहि शत्रुम्' इस शत्रुको मार दो। 'हन् हिंसागत्योः' लेकिन यहाँ '**प्रजहि**'—छोड़ दो कह रहे हैं; क्योंकि इन्द्रियोंके नियमनसे काम मारा नहीं जायगा, छोड़ा जायगा।

'**संस्तभ्यात्मानमात्मना**'—बुद्धिसे परे आत्माका ज्ञान होनेपर काम मारा जायगा। इन्द्रिय-निग्रहसे तो कामका परित्याग होगा।. उसका भस्मीकरण आत्मज्ञानसे ही सम्भव है। कामका त्याग पहले और मारना पीछे। यह बड़ा दुष्ट है और संगका प्रभाव बहुत अधिक पड़ता है।

बरु भल बास नरककर ताता।
दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥

कलकत्तेके रहनेवाले एक गाडोदिया सेठने मुझे बतलाया—बात पुरानी

है—'जबतक दस लाख रुपया पास था, तबतक मिट्टीसे हाथ धोते थे। चौकेमें बैठकर भोजन करते थे। रुपये अधिक हो गये तो क्लब जाने लगे, वहाँ लोगोंके साथ न खायँ तो हँसी हो। पहले घरसे अपना बर्तन और भोजन लाते थे। साथी कहने लगे—'यहीं फल और सूखे मेवे खा लिया करो।' धीरे-धीरे बिस्कुट चलने लगा और बात अंडे, मांस, शराब तक पहुँच गयी। एक दिन एकान्तमें भजन करने बैठे तो याद आया कि यह पतन संग-साथ बदलनेका फल है। फिर जीवन सुधारा।' उन्होंने एक महात्माके आश्रममें अन्तिम जीवन बिताया।

धनियोंके लिए अपनेसे बड़ा धनी श्रेष्ठ लगता है। वे उसीके आचरणका अनुकरण करते हैं।

यादृशां चोपविशति यादृशांश्चोपसेवते।
यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग् भवति पूरुषः॥

मनुष्य जैसे लोगोंमें उठता-बैठता है, जैसे लोगोंकी सेवा-नौकरी करता है और जैसा बनना चाहता है, वैसा बन जाता है।

भोग मनमें होते हैं और कर्म बाहर होता है। कर्म साधन है, भोग फल है। अच्छे या बुरे, विहित या निषिद्ध कर्मसे हम एक तो पाप या पुण्य करते हैं, दूसरे भोग पाते हैं। भोग सुख या दुःखरूप होता है। पापरूप कर्मका मनमें भोगा जानेवाला फल दुःख है। पुण्यरूप कर्मका मनमें भोगा जानेवाला फल सुख है।

हम पाप या पुण्यरूप कर्म बाहर करनेमें स्वतन्त्र हैं, पर मनमें सुख या दुःख भोगनेमें हमारा स्वातन्त्र्य नहीं है। जहाँ हमारा स्वातन्त्र्य है, वहीं हमें पाप-पुण्य लगता है।

भोग प्रारब्धका दिया होता है, यह मानो। भोजन आया प्रारब्धसे। वह यज्ञका प्रसाद भी हो सकता है, मांस भी। उसे खानेमें हम स्वतन्त्र हैं। प्रसाद खानेसे पुण्य होगा, मांस खानेसे पाप। लेकिन मनमें सुख-दुःख इनमें किसीसे भी हो सकता है। मांसको खाकर भी मनुष्य पश्चात्ताप कर सकता है और प्रसाद खाकर भी उत्तम स्वादिष्ट भोजन न करनेके लिए पछता सकता है।

कई सेठोंके पास करोड़ों रुपये हैं; किन्तु वे रोते हैं—'साथी विश्वासघात करते हैं! भाई, पुत्र, पत्नी मेरे प्रतिकूल हैं।'

जिस धनके रहते वे दु:खी हैं, उसे पुण्यका फल मानना मूर्खता है। एक रानीके एक दासी थी। एक दिन रानीके लिए दासीने पलंग बिछाया। उसके मनमें आया—'कोई देखता तो है नहीं, तनिक देखना चाहिए, ऐसे पलंगपर सोकर कैसा लगता है।' पलंगपर लेटी तो नींद आ गयी। इतनेमें रानी आ गयीं। कोड़ा उठाया और मारने लगीं। पहले तो दासी चिल्लायी; किन्तु अचानक खुलकर हँस पड़ी। रानीने चौंककर हाथ रोका और पूछा—'तू हँसी क्यों?'

दासी—'मैं सोचती हूँ कि एक दिन कुछ देर इस पलंगपर मैं सोयी तो मुझे कोड़े खाने पड़े, आप इसपर प्रति रात्रि सोती हैं तो आपका क्या होगा?'

अब दासीको कोड़े खानेमें भी जो सुख मिला, वह उसके पूर्वजन्मके पुण्यका फल था।

प्रारब्धसे तीन बातें आती हैं—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः—योगदर्शन

मूल अर्थात् प्रारब्ध होनेपर उसके फलसे 1. जाति अर्थात् स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी, कीट, वृक्ष-लतादि योनि प्राप्त होती हैं। यह जाति दो प्रकारकी होती है—

1—आकृतिव्यङ्ग्या—जिसे आकृति देखकर पहिचान ले सकें—यह मनुष्य, यह पशु, यह पक्षी, यह वृक्ष। और **2—उपदेश व्यङ्ग्या**-यह संस्कारजन्य है, जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि।

2—आयु—एक मशीन बनायी जाती है तो इंजीनियर निश्चय करते हैं कि वह कितना काम कर सकेगी। इसी प्रकार शरीररूपी मशीन बनते ही निश्चय हो जाता है कि वह कितने श्वास लेगी। आयुकी गणना श्वाससे होती है।

3—भोग—कितनी सर्दी-गर्मी इसे सहनी पड़ेगी। सुखाकार और दु:खाकार परिणाम कितनी बार प्राप्त होंगे। मनमें शोक सहने-न-सहनेकी कितनी शक्ति होगी?

अब जो लोग कल्पना करते हैं कि 'हमसे चोरी, बेईमानी प्रारब्ध या ईश्वर कराता है' वे अपने प्रति ईमानदार नहीं हैं। क्योंकि चोरी, बेईमानी, अनाचारका हेतु दुष्काममूलक कर्तृत्व है। सत्काममूलक कर्तृत्व धर्मका हेतु होता है। अतः कामपर नियन्त्रण करना चाहिए।

कामसे बचनेके लिए ऋषि-मुनि लोग अरण्यायन या सत्रायण हुआ करते थे।

अरण्यायन—अरण्य अर्थात् जहाँ रण-संघर्ष नहीं रहता, ऐसा बन। यह दुष्कर्मके निमित्तसे बचाता है।

सत्रायण—सत्संगमें ही रहना, जहाँ अच्छी-अच्छी ही बातें सुननेको मिलें, यह सद्बुद्धि देता है।

शतपथ ब्राह्मणमें काम-नाशके लिए पाँच उपाय बतलाये गये हैं। 1. अरण्यायन। 2. सत्रायण। 3. अनाशकायन। 4. इष्ट। 5. दत्त। इनमें दो की परिभाषा ऊपर आ गयी।

अनाशकायन—जिस वस्तुका नाश नहीं होता उसमें स्थित हो जाओ अर्थात् ब्रह्मायन बनो। अन्+आशकायन—अर्थात् अनाहारमें निवास करो—तप, त्याग, वैराग्यका जीवन व्यतीत करो।

इष्ट—पुत्रके लिए, समाजकी अगली पीढ़ीके हितके लिए कुछ-न-कुछ करते रहो।

दत्त—दान करो। सम्पत्तिसे ममता मत जोड़ो।

जो कमाई करके संग्रह करने लगते हैं, उनमें न भोगनेकी वासना रह जाती है, न दान करनेकी। संग्रह बढ़ानेमें ही उनका अभिमान तृप्त होता है। यह मनुष्यको धर्म-विमुख करता है।

आप पृथ्वीके समान दृढ़, जलके समान रसरूप, अग्निके समान दुर्धर्ष, वायुके समान गतिशील और आकाशके समान अपनेको निर्लिप्त रखो। अपनेको शरीर मत बनाओ, पञ्चभूतसे मिलाकर रखो, तब काम-क्रोध आपपर आक्रमण नहीं करेंगे।

एक बच्चा खेल-खेलमें चोरी करता है, आग लगाता है। बच्चेको खेलनेसे नहीं रोकना है; किन्तु चोरी, आग लगानेका स्वभाव उसका छुड़ा देना है। इसी प्रकार इन्द्रियोंका नियमन किया जाता है, उनका विषयोंकी ओर जाना नहीं रोकना है। असत् विषयोंमें जानेकी प्रवृत्ति छुड़ानी है।

'पाप्मानं प्रजहि ह्येनम्'—यह बात इतनी महत्त्वकी है कि दुबारा कही जा रही है। पहले भी काम-क्रोधको **'महाशनो महापाप्मा'** कह आये हैं। यह काम हमारे अच्छे गुणोंका नाश करता है, अतः पापी है।

एक मनुष्यमें ईश्वर-प्राप्तिकी इच्छा हुई। फिर व्यभिचारकी इच्छा जागरित हुई। इन दोनों इच्छाओंमें विरोध है।

एक इच्छा आत्मज्ञान प्राप्तिकी, एक समाधि लगानेकी, एक हीरे चुरा लानेकी, इनमें विरोध है।

ईश्वर-प्राप्तिकी इच्छा पहले तो काम-(सांसारिक सुख-भोग-पदार्थ पानेकी इच्छा)का उदय ही नहीं होने देती। उदय हो भी गया तो काम दबा देता है। अतः ज्ञान-विज्ञानकी इच्छाको उदय ही न होने देनेवाला काम बड़ा पापी है।

आप जो कुछ चाहते हैं, यदि वह इच्छा गाढ़ हो तो आप उसीमें तन्मय हो जाते हैं। काम आपके हृदयमें जड़की इच्छा जगाकर आपको जड़के साथ तन्मय कर देता है।

आप ईश्वरविषयक कामना करते हैं—तो ईश्वर तो अन्तर्यामी है, तब मन जड़की ओर जायगा? नहीं जायगा। वह जड़के सञ्चालककी ओर जायगा। भगवद्-भक्तिकी इच्छा अन्तर्यामी चेतनकी ओर ले जाती है। अन्य जड़ वस्तु-व्यक्तिविषयक इच्छा काम है। काम ही संसारमें ले जानेवाला है। वाह्य-विषयक इच्छामें ही पाप-पुण्यका सम्बन्ध है। ईश्वरविषयक इच्छामें पाप-पुण्यका सम्बन्ध नहीं है।

अन्य रूपमें चेतनको पानेकी इच्छाका नाम भक्ति है। आत्म रूपमें चेतनको पानेकी इच्छाका नाम जिज्ञासा है। ईश्वर नित्य प्राप्त है, अतः ईश्वर-विषयक इच्छा काम नहीं है।

जो अन्तःकरण शुद्ध हुए बिना, ईश्वर-कृपा, सद्गुरु-कृपा या शास्त्र-कृपासे ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, ज्ञान होते ही उनका अज्ञान तो मिट ही जाता है। पूर्व जन्मका ज्ञान हो और किसी कारण उसमें प्रतिबन्ध आ गया हो तो उस प्रतिबन्धकी निवृत्तिसे ज्ञान हो जायगा। जैसे वामदेवको गर्भमें ही ज्ञान हो गया।

श्रीमधुसूदन सरस्वतीजी कहते हैं—'विना वृत्तिके भी ज्ञान हो सकता है।'

श्रीसुरेश्वराचार्यजीका मत है-'केवल महावाक्य-श्रवणसे ज्ञान हो सकता है।'

ज्ञान कैसे भी हो; किन्तु उसे होना चाहिए अज्ञानका निवर्तक।

अन्तःकरणमें किञ्चित् अशुद्धि शेष हो तो भी ज्ञानसे सद्योमुक्ति हो गयी। लेकिन ऐसी अवस्थामें जीवन्मुक्तिके विलक्षण सुखमें बाधक विद्यमान रह जाता है। वह जीवन्मुक्तिके विलक्षण सुखका बाधक ज्ञान—विज्ञानका नाशक कौन है? वह काम-क्रोध है।

वैष्णवाचार्योंका कहना है—आत्माका—'त्वं' पदार्थका ज्ञान होता है और परमात्माका विज्ञान होता है। परमदयालु, परमोदार परमसुन्दर, अशेष अचिन्त्य-कल्याण-गुणगणमहोदधि, स्वेतर-समस्त-वस्तु-विलक्षण, कल्याणैकतान, अखिल-हेयप्रत्यनीक जो परमात्मा है, उसका विशिष्ट ज्ञान-विज्ञान है। मनमें काम रहेगा तो न आत्मज्ञान होगा, न परमात्मज्ञान।

अमरकोषके अनुसार आत्मविषयक ज्ञान, ज्ञान है और शिल्पविषयक विज्ञान होता है। प्रकृतिपर आधिपत्य स्थापित करनेकी विद्याका नाम विज्ञान है। अपने मनमें काम बसाओगे तो न आत्मज्ञान होगा और न व्यावहारिक विज्ञान-नैपुण्य प्राप्त होगा। निष्काम होकर ही वैज्ञानिक अनुसन्धान भी सफल होता है।

गीतामें ज्ञान-विज्ञान शब्द अनेक स्थानोंपर साथ-साथ आये हैं—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः। (गीता-7.2)

ज्ञान-विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्। (गीता-18.42)

आदि उपनिषदोंमें भी विज्ञान शब्द अनेक स्थानोंपर प्रयुक्त हुआ है—

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।

विज्ञानमानन्दं ब्रह्म।

इन स्थानोंपर तो विज्ञान शब्द ब्रह्मवाचक ही है। आचार्यसे, ग्रन्थसे परोक्षमें परमात्माका ज्ञान प्राप्त कर लेना ज्ञान है और अपरोक्षज्ञान विज्ञान है।

अब प्रश्न उठा कि अपरोक्ष ज्ञानका नाश तो काम कर नहीं सकता, तब 'ज्ञान-विज्ञाननाशनम्'में 'नाशनम्' शब्दका क्या अर्थ है?

'णश् अदर्शने'—विज्ञानका भी अदर्शन करके यह जीवन्मुक्तिके विलक्षण सुखसे वंचित कर देता है।

× × ×

संसारके लोग तो मोहके पक्षमें ही अपनेको निक्षिप्त करते हैं। वे अपने पुत्र-स्वजनका ही पक्ष लेते हैं। यह मोह-ममता मनकी दुर्बलता है।

'भरतर्षभ!' एक भरतने तीन जन्ममें ही परमात्माको प्राप्त कर लिया था। एक भरतने सात वर्षकी आयुमें ही शेरको पकड़कर बाँधा था। अर्जुन! तुम उस भरतके वंशजोंमें श्रेष्ठ हो!

तुम उन ऋषभके वंशमें हो जिन्होंने यह लोगोंमें भ्रम न हो कि 'ऋषभ तीर्थवाससे, तदाकारवृत्तिसे, समाधिसे या भगवन्नाम लेनेसे मुक्त हुए, इसके लिए दक्षिण भारतके वनोंमें घूमते हुए, मुखमें पत्थर रखकर दावाग्निमें शरीर दग्ध कर दिया।' उन ऋषभका स्मरण करो!

ऋषभदेवजीका वर्णन करते हुए श्रीमद्भागवतमें शुकदेवजीने कहा—'उनके सामने मनोजव, परकाय-प्रवेशादि अनेक सिद्धियाँ आयीं; किन्तु उनको उन्होंने स्वीकार नहीं किया।'

राजा परीक्षितने पूछा—'क्यों स्वीकार नहीं किया?' सिद्धियाँ उनका क्या बिमाड़ लेतीं?

इसका जो उत्तर शुकदेवजीने दिया, वह स्वर्णाक्षरोंमें लिखा जाने योग्य है—

न कुर्यात्कर्हिचित्सख्यं मनसि ह्यनवस्थिते।
यद्विश्रम्भाच्चिराच्चीर्णं चस्कन्द तप ऐश्वरम्॥
नित्यं ददाति कामस्य छिद्रं तमनु येऽरयः।
योगिनः कृतमैत्रस्य पत्युर्जायेव पुंश्चली॥

(भागवत-5.6.3-4)

इस चंचल मनपर विश्वास करके इससे कभी मित्रता नहीं करनी चाहिए। इस मनपर विश्वास करनेसे ही शिवकी चिरसंचित तपस्या स्खलित हो गयी। शिवजीको विश्वास था—'मैंने कामको भस्म कर दिया है। अब मन मेरा कुछ नहीं कर सकता'; किन्तु मोहिनीके पीछे मनने उन्हें दौड़ाया।

यह मन सदा कामको अवकाश देता है। जैसे पिता पुत्रको गोदमें बैठा लेता है, वैसे मन कामको अपनी गोदमें बैठा लेता है। काम आता है तो उसके पीछे दूसरे भी शत्रु क्रोध, लोभ, हिंसा, तृष्णादि आ जाते हैं। जैसे व्यभिचारिणी

स्त्रीपर विश्वास करनेवाले पतिके घरमें वह स्त्री पतिके शत्रुओंको बुला लेती है, वैसे ही मनसे मित्रता करके उसपर विश्वास करनेवाले साधकके भीतर मन कामादिको ला बैठाता है। अतः इस चंचल मनपर विश्वास मत करो। इससे मित्रता मत करो।

तब क्या करें?

एक व्यक्ति कहता है—'जब मनमें काम आता है, तब भोग भोगना ही पड़ता है।'

यह व्यक्ति साधक नहीं है। पहले मनसे काम चला जायगा, तब इन्द्रियोंसे उसे छोड़ेंगे? ऐसा होना सम्भव नहीं है।

एक व्यक्ति गाली देता था। किसीने पूछा—'गाली क्यों देते हो?'

वह बोला—'मनमें क्रोध आता है, इसलिए।'

कहा गया—'गाली देना तो छोड़ो।'

वह—'मनमें क्रोध आना नहीं छूटता तो गाली देना कैसे छोड़ दूँ?'

यह व्यक्ति जीवनमें कभी गाली देना छोड़ सकेगा? अरे, पहले गाली देना बंद करो। जीभ तुम्हारे वशमें है।

एक व्यक्ति कहता है—'जब बुद्धि-मन वशमें नहीं, तब केवल इन्द्रियोंको रोकनेसे लाभ?' लाभ है। काम-त्यागकी रीति ही यही है—

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥

(गीता-3.7)

अर्जुन जो मनसे इन्द्रियोंका नियन्त्रण करके कर्मेन्द्रियोंसे अनासक्त भावसे कर्मभोग करता है, वह विशेष है, श्रेष्ठ है।

मोटर इतने वेगसे मत चलाओ कि ब्रेक न लगे। वेगके वशमें मत हो जाओ। इन्द्रियोंमें भी वेग उतना होना चाहिए, जितना वेग हमारे वशमें रहे। जब तक इन्द्रियाँ सम्मोहित न कर दें, तभी तक उनका नियमन होता है। मोटर गड्ढेमें जानेसे पहले ही रोकना होता है।

कालमें नियमन है—सायं 6 से 7 और प्रातः 5 से 6 तक भजन करेंगे। उस समय कोई सांसारिक काम नहीं करेंगे। न उस समय खायेंगे, न सांसारिक

बात सोचेंगे। एकादशी, अमावस्या, शिवरात्रि, रामनवमी, जन्माष्टमी आदिको भजन, व्रतका नियम—सांसारिक भोग-त्यागका नियम कालमें नियमन है।

देशमें नियमन है—यह पूजा-घर है, यहाँ कोई लौकिक काम नहीं करेंगे। इस प्रकार मन्दिरमें, तीर्थमें भगवन्नाम जप, ध्यान, भजन तथा सब भोगोंका त्याग देशमें नियमन है।

व्यक्तिमें नियमन—इस व्यक्तिसे अमुक काम नहीं लेंगे।

वस्तुमें नियमन—यह वस्तु खानी है—यह नहीं खानी है। इन-इन वस्तुओंको उपयोगमें नहीं लेना है।

बचपनमें मुझे एक महात्माने एक श्लोक बताया था—

परेच्छया कृतो बन्धो बन्ध इत्यभिधीयते।
स्वेच्छया स्वीकृतो बन्धोऽनिबन्धायोपकल्पते॥

दूसरेकी इच्छासे अपनेपर जो बन्धन लगाये जाते हैं; वे सचमुच बन्धन हैं; किन्तु अपनी इच्छासे हम अपनेपर जो बन्धन लगाते हैं, वे मोक्षके हेतु बनते हैं।

'**पाप्मानम्**'—जिसमें रहे, उसीको जो पी जाय। जैसे जोंक जिसे लगती है, उसीका रक्त चूसती है।

पिबति कर्तारमिति पाप्मा।

जो अपने कर्त्ताको ही पी जाय, वह पाप्मा है। काम जहाँ रहता है, जब तक रहता है, तब तक वहाँ रस बनाये रखता है, पर कर्त्ताका रस शुष्क कर देता है। यह कोटरकी आग है जो धीरे-धीरे, जिस वृक्षमें है, उसे भस्म कर देती है।

'**प्रजहि**'—अतः इसे त्याग दो। संसारकी मीठी लगनेवाली वस्तुएँ ही आपकी साधना नष्ट करनेवाली अप्सराएँ हैं—

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि॥

(गीता-16.14)

'यह मैंने पा लिया, यह अभीष्ट पा लूँगा। इस शत्रुको मैंने मार दिया। दूसरोंको भी मार दूँगा।'

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्॥

आशाके सैकड़ों फंदोंमें फँसे, काम-क्रोध परायण लोग काम-भोगके लिए अन्यायपूर्वक धनका संग्रह करना चाहते हैं।

यह आसुरी सम्पत्ति है। इसका त्याग कर दो।

'**ज्ञानविज्ञाननाशनम्**'—यदि ज्ञानका सचमुच नाश हो जाय तो नाश ही सिद्ध नहीं होगा। ज्ञानसे ही तो नाश प्रकाशित होता है। ज्ञान नाशातीत है, नाशाधिष्ठान है, ज्ञानका नाश काम कैसे करेगा?

आप शुद्ध, बुद्ध, नित्ययुक्त होकर एक तुच्छ वस्तुके पीछे जब पागल बनकर भागो तो आपका नाश हो गया या बाकी रहा?

क्वात्यन्तमलिनो देहो क्वायमात्मा नभश्च्छदिः।

कहाँ तो यह अत्यन्त क्षुद्र, मलिन शरीर और कहाँ आकाशको भी घेरे हुए आत्मा; किन्तु जब आप एक शरीरके पीछे व्याकुल होते हैं, तो कामने आपका नाश ही तो किया।

ज्ञान-विज्ञानका स्वभाव है अपनी ब्रह्मताका साक्षात्कार कराना। चाहे वह परोक्षज्ञान हो या अपरोक्षज्ञान। वह आपको चैतन्यके समीप रखता है। कामका स्वभाव है आपको जड़के समीप ले जाकर जड़से तन्मय कर देना। जब जड़ वस्तुविषयक इच्छा होती है, तब ज्ञान प्रतिबद्ध हो जाता है।

जब आप कुछ पाना चाहते हो तो जानना नहीं चाहते। पाना चाहते हो तो कहते हो—'यह अच्छी हो या बुरी, मिलनी चाहिए। यह जड़ हो या चेतन, हमें यही चाहिए।' जब साड़ी पसंद आ गयी तो सूत कौन देखता है।

जब आप पर्यायको चाहते हो तो द्रव्यको नहीं चाहते। जहाँ लिप्सा है, वहाँ जिज्ञासा नहीं है। जाननेकी इच्छामें समता होती है। जानना चाहते हो तो त्याग या ग्रहणकी सामर्थ्य रखकर जानना चाहते हो कि 'यह मित्र होगा तो मिल लेंगे और शत्रु होगा तो छोड़ देंगे।' लिप्सामें पकड़ने-छोड़नेकी सामर्थ्य नहीं होती। लिप्सामें जिज्ञासा नहीं रहती। जिज्ञासाकी जड़ कट गयी तो ज्ञान-विज्ञान कहाँ रहा? जो प्रिय है, उसके गुण-दोषकी जिज्ञासा नहीं होती। उसमें गुण ही दीखते हैं। शत्रुके गुण-दोषकी भी जिज्ञासा नहीं होती, उसमें दोष ही दीखते हैं।

ज्ञानके साथ आनन्द होना अनिवार्य है। जो आनन्द है, वह सत्, चित् भी है। ज्ञान हुआ, किन्तु जीवन्मुक्तिके विलक्षण सुखमें प्रतिबन्ध बना रहा तो यह प्रतिबन्ध क्या है? यह ज्ञानपर ही तो प्रतिबन्ध है। यह प्रतिबन्ध उपस्थित करनेवाला काम ज्ञानका नाशक हुआ या नहीं?

सामान्य जीवनमें भी क्या आप अपने बच्चेको स्वतन्त्र छोड़ सकते हैं कि वह अग्निमें हाथ डाल ले या सर्प पकड़ ले? आप अपने बच्चेको, पत्नीको मनमानी करनेको स्वतन्त्र नहीं छोड़ सकते तो मनको क्यों स्वतन्त्र छोड़ते हैं?

मनको वशमें करनेके लिए जीवनमें नियम चाहिए। काम-निरोधसे पूर्व कामका नियमन आवश्यक है। क्योंकि—'क्रोध पाप कर मूल' के समान 'काम पाप कर मूल' भी है। यह पापकी माँ है।

'ज्ञान-विज्ञाननाशनम्'—आपने घरमें बत्ती जलायी, अन्धकार मिट गया। बत्ती बुझा दी तो फिर अन्धकार हो गया। वृत्तिमें आरूढ़ होकर जो ज्ञान प्रकाशित होता है, वह दीपकवत् है। यह दीपक बुझ सकता है। स्वरूप भूत ज्ञानका नाश नहीं होता।

काम संसारमें मनपर छा जाता है। काम होता है धन, पुत्र, स्त्री, पद-प्रतिष्ठाके प्रति। मनमें विषय हैं तो जिज्ञासा कैसे जागे? जब मनुष्याकारवृत्ति धनाकारवृत्ति हो रही है, तब भगवदाकार वृत्ति नहीं रह सकती। यह काम साधकके लिए दुःखद है, दुष्ट है। यह उसके ज्ञान-विज्ञानको ढँक देता है।

ज्ञान-विज्ञान हो जाने, अविद्याका नाश हो जानेपर भी जबतक शरीर है, तबतक शरीरमें चित्तवृत्ति रहती है। वृत्तिमें मल—पापवासना नहीं है, विक्षेप नहीं है, आवरण भंग हो चुका। जिस क्षणमें ऐसा है, उस समय आत्मचैतन्य वृत्तिमें प्रतिबिम्बित होता है। यह आत्मदेव सच्चिदानन्दघन हैं। इनके प्रतिबिम्बनमें ही जीवन्मुक्तिके विलक्षण सुखका आस्वादन है। यह तत्त्व-ज्ञानीके जीवनमें होता है। अज्ञानीके जीवनमें नहीं।

जब कर्तापन और भोक्तापनका स्फुरण न हो, तब वासनाशून्य शुद्ध सात्त्विक प्रतीतिमात्र अन्तःकरणमें जो सच्चिदानन्दघन प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वका प्रतिबिम्बन है, वह सुख ही सुख है। अतः—

आत्मलाभान्न परं विद्यते।

आत्मलाभसे श्रेष्ठ कुछ नहीं है। यह जो जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख है, वह जब अन्तःकरणमें कर्तापनका स्फुरण होता है—'मैं कुछ करूँगा तो अमुक फल मिलेगा' तब इस वासनासे अन्तःकरणमें आत्मतत्त्वका प्रतिबिम्बन ढँक जाता है। जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख ही ज्ञान विज्ञानका फल है। उसीको काम लुप्त कर देता है।

ज्ञान होनेके बाद भी अन्तःकरणमें कामाभास—क्रोधाभास आता है?

जब देहाभास प्राप्त है, मिथ्या देह और मिथ्या अन्तःकरणका आभास हो रहा है, तब बाधित काम और बाधित क्रोधका आभास होना क्या आश्चर्यकी बात है। लेकिन ऐसी दशामें जीवन्मुक्तको भी उसके विलक्षण सुखसे वंचित करनेवाले ये काम, क्रोध कितने बड़े पापी हैं, यह समझ लो। अतः साधक, जिज्ञासु सावधान! ये काम-क्रोध ज्ञानोत्तर कालमें भी जब व्यक्तिको सता सकते हैं, तब तुम तो साधक हो!

एक ज्ञानी कहते हैं—'मैं नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा हूँ। मान लो मेरे बाधित अन्तःकरणमें कोई लौकिक कामना ही हो तो क्या इससे मेरे स्वरूपमें कोई बाधा पड़ती है?'

स्वरूपमें तो बाधा नहीं पड़ती; किन्तु आप लौकिक विषय चाहते ही क्यों हो?

ज्ञानी—'मुझे वह अच्छा लगता है।'

जब लौकिक विषयमें आपकी रुचि है तो स्वर्ग जानेपर जो कल्पवृक्ष, अप्सराओं और अमृतकी प्राप्ति होगी, उसमें आपकी अरुचि कैसे होगी और इस लोककी वस्तुमें आपकी रुचि है तो उस रुचिको पूरा करनेके लिए आपका पुनर्जन्म क्यों न हो? क्यों न परलोक मिले?

ज्ञानी—'ये सब तो बाधित हैं।'

जब बाधित होनेके कारण आप स्वर्ग और कल्पवृक्ष, अप्सराएँ, अमृत नहीं चाहते और पुनर्जन्मके बाद होनेवाला विवाह नहीं चाहते तो इस जन्ममें जो बाधित विषय हैं, उन्हें क्यों चाहते हैं?

'दृष्टदुःखं न पश्यति'

शरीर रहने तक प्रारब्ध रहता है, अतः दृष्ट दुःख ज्ञानीके जीवनमें भी

होगा। ज्ञानीके सम्मुख जब जो आयेगा, वही उसे प्रतीत होगा। जब निद्रा आयेगी, तब निद्रा और जब भूख लगेगी तब भूख प्रतीत होगी। ज्ञानकी दृष्टिसे हम इसकी भी उपेक्षा करते हैं—

जीवन्नाखुर्न मार्जारं हन्ति हन्यात् कथं मृते।

जीता चूहा ही बिल्लीको मार नहीं सका तो मरनेपर वह क्या मारेगा?

तिष्ठन्त्वज्ञानतत्कार्यास्ते वै बोधेन मारिताः।
न भीतिर्बोधसम्राजः कीर्तिः प्रत्युत तस्य तैः॥

(पञ्चदशी)

अज्ञान और उसके कार्य रहें, वे ज्ञानके द्वारा मार दिये गये हैं। उनसे ज्ञान-सम्राट्को कोई भय नहीं। उलटे ज्ञान होनेपर जो काम, क्रोधादि है, ये मुर्दे हैं, इनके शवोंसे ज्ञानकी कीर्ति ही होती है। यह ज्ञानकी महिमा है कि इन कामादिके रहनेपर भी ज्ञानीका कुछ बिगड़ता नहीं।

कभी-कभी साधकको भ्रम हो जाता है कि—'जब मेरे मनमें काम-क्रोध आ गये तो मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा कैसे हो सकता हूँ?'

इससे वह निराश न हो, इसलिए सिद्धान्त बनाया गया—

रागं द्विषन् भवान् तत्त्वं द्वेष्टि।

रागसे द्वेष करनेके कारण आप तत्त्वसे द्वेष करते हैं!

सुषुप्तिमें राग-द्वेष नहीं रहते। स्वप्नमें राग-द्वेष होते हैं, पर वे बाधित हो जाते हैं। जाग्रत्में भी राग-द्वेष सदा नहीं रहते। तनिक-सी देरको मनमें कुछ स्फुरित हो गया तो उसके लिए ज्ञाननिष्ठाको मत छोड़ो। जिज्ञासा बनाये रखो। आगे चलकर कल्याण हो जायगा।

वार्तिककारने एक दृष्टान्त दिया—एक मनुष्य वनमें जा रहा था। पासमें गायने बच्चा दे दिया। गाय और बछड़ेको सम्हालने, उन्हें हिंसक पशुओंसे बचाने चला तो पैरके नीचे एक चींटी कुचल गयी। उसे लगा—'चींटीकी हत्या हो गयी। अब पहले इसका प्रायश्चित्त करो, स्नान करो।' वह इस खटपटमें लगा और गो-रक्षा छूट गयी।

तात्पर्य यह है कि छोटी-छोटी बातोंको इतना मत पकड़ो कि बड़े उद्देश्य छूट जायँ।

'हम इस वस्तुको प्राप्त ही करेंगे। इस जन्ममें न मिली तो अगले जन्ममें पायेंगे।' इस कामने ही आपकी जीवन्मुक्तिमें बाधा दी है।

दृष्ट दुःखकी निवृत्तिके लिए क्या करना चाहिए?

धीदोषसंत्यागात् लोकैः पूज्यस्व देववत्।
बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे॥

(पञ्चदशी)

बुद्धिके दोषोंको त्यागकर लोकमें देवताओंके समान पूज्य बनो। यदि अद्वैततत्त्वज्ञान प्राप्त कर यथेष्टाचरण ही करना है तो अशुद्ध पदार्थके भोजन करनेवाले कुत्ते और तत्त्वज्ञानीमें क्या अन्तर रहेगा?

'अब हमें अद्वैतज्ञान हो गया, अब हम चाहे जहाँ रहेंगे। चाहे जो खायँगे। चाहे जो करेंगे।' यदि आप ऐसा सोचो—कहो तो आपमें और कूकर-शूकरमें अन्तर क्या रहा?

× × ×

ज्ञानविज्ञाने नाशने यस्य तद् ज्ञानविज्ञाननाशनम्।

ज्ञान-विज्ञान हैं नाशक जिसके उस कामको छोड़ दो।

काम मिटेगा ज्ञान-विज्ञानसे। 'मैं देह हूँ, यह देह मेरा है' यह सम्बन्ध अविवेकमूलक है। इसको जो दूर कर दे, वह ज्ञान। न केवल देहसे सम्बन्ध; अपितु 'देहके आश्रय पञ्चभूत न मैं, न मेरे। देहके परिणामके कारण जिस देश और कालकी प्रतीति होती है, वे न मैं,न मुझमें। ऐसा वस्तु, देश और कालसे अपरिच्छिन्न आत्मतत्त्व मैं' यह विज्ञान है।

कामके दो मूल हैं—1. अविवेकज अर्थाध्यास अर्थात् दूसरी वस्तु है। 2. संसर्गाध्यास अर्थात् दूसरी वस्तु मेरी है। ज्ञानसे संसर्गाध्यास और विज्ञानसे अर्थाध्यास निवृत्त होता है। अतः यदि आपको काम, क्रोध, लोभ, मोहसे दुःख होता है तो विवेक-पथपर चलो।



इस ऊपरके श्लोकमें काम त्यागकी गीति इन्द्रिय निग्रहसे बतलायी गयी। जिह्वाको भोजन करनेसे मत रोको, क्या खायें क्या न खायें, इसका विवेक करो। इसके सम्बन्धमें नियम कर लो। कब खायें कब न खायेंका नियम बना लो। कैसे खायें कैसे न खायें, कहाँ खायें कहाँ न खायें, कितना खायें-कितना न खायें आदि नियम करो। मार्गमें चलते चलते या खड़े खड़े नहीं खाना चाहिए।

एक सेठने नौकरसे कहा—एक बोतल शराब ले आओ।

नौकरने शराब खरीदी। डॉक्टरको सूचना दी—'एक घण्टे बाद आप सेठकी कोठीपर आ जायँ।' कफन खरीदा। श्मशानमें सीट सुरक्षित करायी। इससे देर हुई लौटनेमें। सेठने पूछा—'इतनी देरसे क्यों आया ?'

नौकर—'मैं सब व्यवस्था करके आया हूँ। इतनी शराब पीकर आप बच तो सकते नहीं। अत: डॉक्टरको बुलानेसे लेकर श्मसानमें सीट सुरक्षित कराने, कफन लाने तकका सब काम करके आया हूँ। अब आप निश्चिन्त शराब पी सकते हैं।'

इस आत्मनाशक शराबके समान कामका नाश आत्मज्ञान द्वारा होता है यह बात भगवान् अब आगे कह रहे हैं।

'कामरूपं दुरासदम्'—कामको समझना ही कठिन है। गंगा-तटपर मेरिया (बुलन्दशहर) में महात्मा अच्युतमुनिजीके यहाँ एक बार विचार चला—'कौन-सी प्रेरणा ईश्वरकी है और कौन-सी कामकी है, इसकी पहचान कैसे हो ?'

श्रीअच्युतमुनिजीने कहा—'हमारी पसंदके अनुसार जो प्रेरणा हो, उसमें कामका हाथ सम्भव है। जो प्रेरणा हमारी पसंदके विपरीत आती है, उसे भी ध्यानसे देखो कि वह अपने प्रियका आदेश है या शत्रु काम-क्रोधका।'

ऐसे दुरासद बहुरूपिये कामको इन्द्रियनिग्रहमात्रसे सम्पूर्ण वशमें नहीं रखा जा सकता। इसे मार देना ही ठीक है। मारनेका उपाय बतलाने जा रहे हैं।

श्रीरामानुजाचार्यजी कहते हैं—'कर्मयोगके प्रसङ्गमें यह सबसे उच्च पौरुषकी बात है—'**जहि शत्रुं महाबाहो**' इसीलिए यह कर्मयोगाध्याय है। कर्म रहे और काम न रहे, यह सबसे महत्त्वकी बात है।'

'**प्रजहि**'—इस पापीको छोड़ दो, कहा। इसमें विषयके जो चार भाग हैं—1. इन्द्रियग्राह्य 2. मनोग्राह्य 3. बुद्धिग्राह्य 4. आत्मग्राह्य, इन चारों विषयोंको छोड़नेकी बात कही; किन्तु छोड़नेपर काम फिर आ सकता है, अतः उसको भस्म करनेकी रीति बतलाते हैं। इसमें वेदान्तकी सर्वोत्तम प्रक्रिया कि—'भोक्ता भोग-भोग्य सब आत्मसंविद्का ही विलास हैं, बतलाते हैं।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥ 42॥

(देहसे विषयोंसे) परे इन्द्रियोंको कहा गया है। इन्द्रियोंसे परे मन है। मनसे परे बुद्धि है। जो बुद्धिसे परे है, जो बुद्धिको प्रकाशित कर रहा है, वह अपना आत्मा है।

ज्ञातेभ्यः विषयेभ्यः पराणीन्द्रियाणीत्याहुः।

संसारमें जो कुछ ज्ञात हो रहा है, वह इन्द्रियोंसे ज्ञात हो रहा है। ये स्त्री-पुरुष, सुगन्ध-दुर्गन्धादि विषय इन्द्रियोंसे जाने जाते हैं। एक-एक इन्द्रियसे अनेक-अनेक विषयोंका ज्ञान होता है। तद्-तद् इन्द्रियके अभावमें तद्-तद् विषयोंका ज्ञान नहीं होता। वस्तुसत्ताको इन्द्रियाधीन मानें या न मानें,पर विषयज्ञान तो इन्द्रियाधीन ही है।

सर्वे विषया इन्द्रियाधीना इन्द्रियैः प्रकाशिताः भवन्ति।

सभी विषय इन्द्रियोंके अधीन और इन्द्रियों द्वारा प्रकाशित होते हैं। इन्द्रियोंके बिना उनकी सत्ता जाननेका कोई उपाय नहीं है।

भूतं प्रसिद्धं च परेण यद्-यत्
तदेव तत् स्यादिति मे मनीषा। भागवत

जो जिससे उत्पन्न और जिससे प्रकाशित होता है, वह उससे पृथक् नहीं होता। वह उससे अभिन्न होता है।

यदि सत्ता और प्रकाश एकमें-से ही निकलता हो तब तो कहना ही क्या? जैसे-घट मिट्टीसे उत्पन्न है, अतः मिट्टीसे पृथक् नहीं है। घटकारूप नेत्रसे प्रकाशित होता है तो रूप नेत्रसे पृथक् नहीं है। अतः संविद्से प्रकाशित यह समस्त विश्व संविद्से पृथक् नहीं है। जब संविद्की अखण्डताका बोध हो जायगा तब भोक्ता-भोग्य-भाव चूर्ण-विचूर्ण हो जायगा।

यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद् यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानात्मात्मनि महति तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥ (उपनिषद्)

बुद्धिमान् वाणी (इन्द्रियों)को मनमें नियन्त्रित करे। उस मनको विज्ञानात्मा (बुद्धि)में नियमन करे। उस विज्ञानात्माका महान्में और उसका शान्त आत्मस्वरूपमें नियमन करे।

वैज्ञानिक कहते हैं—'जड़दृश्याभिन्न आत्मचैतन्य है।'

आध्यात्मिक दृष्टि है—'आत्मचैतन्याभिन्न जड़दृश्य है।'

जड़ताका परिणाम जड़ता और चैतन्यका परिणाम चैतन्य होगा। आप जो बोलते हैं—वाणीसे जो शब्द निकलता है, वह मनके सहयोगसे निकलता है या नहीं? मन न हो तो सार्थक या निरर्थक शब्दोच्चारण वाणीसे होगा? अतः जैसे वाणीके बिना शब्द नहीं है, वैसे मनके बिना वाणी नहीं है। इसी प्रकार बुद्धिके बिना मन नहीं है और आत्माके बिना बुद्धि नहीं है। आप न हों तो बुद्धि कैसे किसे ज्ञात होगी?

बुद्धिमें जानकारी होती है। मनमें प्रियता-अप्रियतायुक्त जानकारी होती है। इन्द्रियोंसे देह-भोग भोग्यकी जानकारी होती है। वस्तुतः जानकारी सत्य है।

कर्मवादी कहते हैं—'जिस ज्ञान और भक्तिमें समाज-सेवा नहीं है, वह व्यर्थ है।' उनका स्वर होता है-'क्या ज्ञान और भक्तिकी बात करते हो, कुछ करो तो।' अर्थात् उनके लिए हाथ-पैर ही सर्वस्व हैं। नेत्र, कर्ण, मन-बुद्धिकी महत्ता नहीं है। यह देहोन्मुख व्यक्तिकी स्थिति है।

भक्त कहते हैं—'जब भगवद्भक्ति हमें प्राप्त है तो न संसारमें हमको कर्म करनेकी आवश्यकता है, न ज्ञान हमें चाहिए। हम भगवत्प्रेमसे कृतार्थ हैं।'

ज्ञानवादी कहते हैं—'अखण्ड अद्वय आत्मतत्त्वके ज्ञानसे अज्ञान दूर हो गया। हम कर्म करें तो किसीके लिए करें और भक्ति करें तो किसकी करें? हम तो न स्थूल शरीर हैं, न सूक्ष्म शरीर, न कारण शरीर।'

ज्ञानवादीको कर्म और भक्तिकी आवश्यकता नहीं है। भक्तिवादीको कर्म और ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है। देहात्मवादीको ज्ञान और भक्तिकी आवश्यकता नहीं है।

ज्ञानमार्गमें केवल विचारसे ही काम-निरोध होता है। मधई पुरके बाबा

श्रीअविनाशीजी महाराज कहते थे—'जहाँ विचार नहीं रहता, उस समाधिको कभी मत चाहना। जिस प्रेममें विवेक खो जाता हो, उस प्रेमको कभी मत चाहना। जिस कर्ममें विवेक खो जाता हो, उस कर्मको कभी मत करना। विचारको सदा जाग्रत् रखना।'

'**यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञः**'—प्रज्ञाको मत खोना। जहाँ समझदारी नहीं, वहाँ कोई सिद्धि नहीं। श्रद्धा, समाधि, परोक्ष ज्ञानसे आवरणभंग नहीं होता। श्रद्धा केवल संशयको दबा देती है।

शब्दसे परे वाणी है। वाणीसे परे मन है। आधे मनसे बोलोगे तो तुम्हींको पता नहीं लगेगा कि क्या बोल गये। बोलनेसे पूरा मन तटस्थ हो तो बोल ही नहीं सकोगे।

मनसे क्या सोचते हो?

किससे प्रीति करें और किससे शत्रुता? इसका निर्णय बुद्धिके अनुसार होता है। बिना बुद्धिके मन काम नहीं करता।

'**इन्द्रियाणि पराण्याहुः**'—हाथ, पैर, उपस्थ, गुदा और वाणी ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। कान, नेत्र, त्वचा, रसना और नासिका ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। ये इन्द्रियाँ विषयोंसे परे हैं।

विपर्तीति परः—पृ पालनपूरणयोः।

ये इन्द्रियाँ ही विषयोंका पालन-पोषण करती हैं।

मूल्य स्वर्णका होता है; किन्तु पहनना हो तो मूल्य कङ्कण या हारका है। एक मनुष्य ऐसे देशमें पहुँचा, जहाँ सोना ही सोना था। उसके शरीरमें फोड़ा हो गया। वहाँके चिकित्सकने फोड़ेपर मिट्टीका लेप करना बतलाया। मिट्टी उस देशमें थी नहीं। वायुयानसे मिट्टी मँगायी जाती थी। फलतः उस देशमें मिट्टीका वही मूल्य था, जो हमारे देशमें स्वर्णका। तात्पर्य यह कि मूल्य वस्तुका नहीं होता, मूल्य वस्तुकी उपयोगिता—आवश्यकताका होता है।

संसारके सब विषय इन्द्रियोंसे सिद्ध होते हैं, इन्द्रियोंसे प्रकाशित होते हैं, अतः वे इन्द्रियसत्ताक हैं, इन्द्रिय-सत्ता मनोधीन है। मनके संकल्प-विकल्पसे पृथक् इन्द्रियोंकी सत्ता नहीं है। बुद्धिके विशेष ज्ञानके अतिरिक्त मनकी सत्ता नहीं है। ज्ञाताके अतिरिक्त बुद्धिका कुछ अर्थ नहीं। बुद्धि कभी सोती, कभी

जागती है। ज्ञाता ही उसका सोना जागना देखता रहता है। यह ज्ञाता बुद्धि मन इन्द्रियोंसे तादात्म्य करके विषय वासनासे मोहित हो जाता है।

कामकी पहुँच कहाँ तक है ?

वह कभी इन्द्रियोंका विषयोंमें सौन्दर्य दिखलाता है, कभी मनमें संकल्प-विकल्प उठाता है, कभी बुद्धिको अपने पक्षमें कर लेता है। यहीं तक कामकी पहुँच है।

आप वह हो जा जब इन्द्रियाँ विषयोंको प्रकाशित करती हैं, तब भी रहता है और जब वे विषयोंको प्रकाशित नहीं करतीं, तब भी रहता है। जब मन संकल्प-विकल्प करता है, तब भी रहता है और जब वह संकल्प-विकल्प नहीं करता, तब भी रहता है। जब बुद्धि विशेषका ज्ञान प्राप्त करती है, तब भी रहता है और जब विशेषका ज्ञान नहीं प्राप्त करती है, तब भी रहता है और जब विशेषका ज्ञान नहीं प्राप्त करती, तब भी रहता है।

आप ज्यों-के-त्यों हो। कामकी पहुँच आप तक नहीं है। उसकी पहुँच इन्द्रिय, मन, बुद्धि तक ही है।

कामः संकल्पो विचिकित्सा एतत् सर्वं मन एव। (श्रुति)

काम, संकल्प और उसपर विचार—यह सब मनका ही विलास है। जो साक्षी, ज्ञाता, द्रष्टा है, उससे कामका कोई सम्बन्ध नहीं जुड़ता।

'इन्द्रियाणि पराण्याहुः'—प्रकृति देवी आत्मदेवके सम्मुख नाना विलास कर रही हैं। जो अपने स्थानपर रहता हुआ खेल देखे, उसकी महिमा है। जो खेल देखकर मञ्चपर आकर नाचने लगे, उसे प्रकृति पद-दलित कर देती है।

जो बुद्धिसे परे बैठा है, वह आप हो। आप द्रष्टासे नट कैसे बन गये? इस नर्तकीका नृत्य देखो, इसके साथ नाचो मत।

मायां तु प्रकृतिं विद्याद् मायिनं तु महेश्वरम्।

मायाको प्रकृति समझो। आप उसके अधिपति महेश्वर हो।

'यो बुद्धेः परतस्तु सः'—आप कौन हो? जो बुद्धिसे परे है, वह। इन्द्रियाँ चपरासी हैं, इनसे कामका काम नहीं चलता तो वह मनके पास जाता है। मन, क्लर्क है। मनसे काम नहीं चलता तो वह निजी सचिवके पास—बुद्धिके पास पहुँचता है। कामकी गति यहीं तक है।

एक टीकाकार कहते हैं—'यहाँ इन्द्रिय, मन, बुद्धिसे परे काम है, उसको वशमें करो। यह बात कही गयी है।'

लेकिन यह कामकी महिमाका प्रसंग नहीं है। यह आपकी महिमाका प्रसंग है। आत्मामें अनन्त शक्ति है। कंकण तोड़नेसे सोना नहीं टूटता। घड़ा फोड़नेसे आकाश नहीं फूटता। ऐसे ही इन्द्रिय, मन, बुद्धिके फूटने पर भी आत्मदेव नहीं फूटते; क्योंकि ये इनसे परे हैं।

संसारके सब विषयोंसे श्रेष्ठ इन्द्रियाँ हैं। हमारी इन्द्रियाँ न रहें तो विषय किस कामके? इन्द्रियोंसे श्रेष्ठ मन है। मन न हो तो आँख, नाक, कान आदि सब व्यर्थ हैं। ये रहते हुए भी न रहने—जैसे हैं। मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है। मन नितान्त अज्ञातमें नहीं जाता। मन ज्ञातमें ही जाता है। तात्पर्य यह कि मन ज्ञानके अधीन है। बुद्धिमें नाना प्रकारका ज्ञान है। आत्मा एक अखण्ड ज्ञानस्वरूप है।

'मियाँकी दौड़ मस्जिद तक।' कामकी पहुँच बुद्धि तक है। आप मारे तब जाते हो जब बुद्धि, मन, इन्द्रियके वशवर्ती हो जाते हो। तब आपको काम अपने अधीन कर लेता है।

यदि अपने द्रष्टा, साक्षी होकर बैठनेके पश्चात् भी परिच्छिन्नताका भ्रम निवृत्त नहीं होगा तो फिर बुद्धि, मन, इन्द्रिय अर्थात् कामके वशमें आ जाओगे। काम परिच्छिन्नको ही पकड़ता है। ब्रह्ममें तो काम सत्ताहीन हो जाता है।

आप बुद्धि, मन, इन्द्रियोंसे परे हो। पूर्व-पश्चिम, बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे देशकी कल्पना मन—इन्द्रियमें ही होती है। आज-कल-परसों, भूत-भविष्य-वर्तमानकी काल-कल्पना भी मन-इन्द्रियोंमें ही होती है। इन बुद्धि, मन, इन्द्रियोंसे परे न देश-कल्पना है, न काल-कल्पना। इन्द्रिय, मन, बुद्धिके भावमें ये देश-काल सावयव हैं और इनके अभावमें ये आरोपित निरवयव हैं। जहाँ पदार्थ है, वहीं स्थान है। जहाँ स्थान है, वहीं पदार्थ है। जहाँ पदार्थ और स्थान है, वहीं समय है। पदार्थ-स्थान-समय, देश-काल-वस्तु ये तीनों पृथक्-पृथक् नहीं रहते। ये साथ ही रहते हैं। ये एक हैं। कभी-कभी ये एक होकर रहते हैं, कभी-कभी अनेक होकर भासते हैं। लेकिन साक्षी चेतनमें इन तीनोंकी एकता—अनेकता दोनों कल्पित, प्रतीतिमात्र है। अतः देश-काल-वस्तुमें तथ्यत्व-बुद्धि छोड़ो, इन्हें भासने दो।



भगवान् कहते हैं—इस शत्रुको जो तुम्हें लक्ष्यच्युत करता है, मार दो।'

लेकिन यह शत्रु तो बड़ा प्रबल है। इन्द्रिय, मन, बुद्धि, सबपर छाया है। इस पापी शत्रुको हम मार कैसे सकते हैं? हम दुर्बल न पड़ें।

नहीं, दुर्बल नहीं पड़ोगे। इसे मारनेमें समर्थ हो। यदि भगवान्‌को चाहते हो तो कामका स्वरूप ही बदल गया और यदि अपने स्वरूपका ज्ञान प्राप्त कर लो तो आपकी अखण्डता, अद्वितीयतामें यह सत्ताहीन हो जायगा।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥ 43॥

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगे नाम तृतीयोऽध्यायः॥

महाबाहु अर्जुन! इस प्रकार बुद्धिसे परे अपनेको जानकर, अपने आपसे अपनेको नियन्त्रित करके इस बहुरूपिये अत्यन्त असह्य शत्रुको मार दो।

'एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा'—अपनेको बुद्धिसे मिलाओ; किन्तु मनको वशमें करनेके लिए। अपनेको मनसे एक करो; किन्तु इन्द्रियोंको वशमें करनेके लिए। इन्द्रियोंको त्यागोन्मुख करो। मनको वैराग्योन्मुख करो। अपने निरपेक्ष आत्माको बुद्धिके साथ मिलाकर कामसे निरपेक्ष हो जाओ।

कामके चक्करसे छूटना है तो जहाँसे विषय निकले हैं; उन इन्द्रियोंको, जहाँसे इन्द्रियाँ निकली हैं उस मनको, जहाँसे मन निकला—मनमें संकल्प-विकल्प जहाँसे आता है, उस बुद्धिको और जहाँसे विशेष ज्ञान-प्रकाश आता है, उस आत्माको पहचानो। जहाँसे ये निकले हैं, वहीं इनका अनुप्रवेश कर दो।

जिस सरका है ये बाल उसी सरमें जोड़ दो।

जिस संविद्-ज्ञान-आत्मासे, जिस आत्मचैतन्यसे बुद्धि, मन, इन्द्रिय, विषयका प्रकाशन होता है, उसी मूल प्रकाशमें इनका विवेकसे अन्तर्भाव कर दो। यह लयरूप योगसे अन्तर्भाव नहीं है। लय तो क्रियात्मक होता है। हम जिन विषयोंको अपनेसे बाहर समझते हैं, जिन इन्द्रियवृत्तियोंको अलग-अलग समझते हैं, उन्हें विवेकद्वारा समझ लो कि ये मनोविलास हैं। जिस मनकी प्रियता-अप्रियताको संकल्पयुक्त समझते हैं, वह हमारी बुद्धिका विलास है। जो विशेष बुद्धि है, वह आत्मविलास है। आत्मविलास रूपमें सम्पूर्ण जगत्‌को देखो। आत्मा वस्तुत: ब्रह्म है।

'जहि शत्रुम्'-शासनात् शत्रुः। जो हमपर शासन करे-हमें पराधीन बनाये, वह शत्रु है। जबतक कामना है, हम पराधीन रहेंगे। वह कष्ट देगी। काम शत्रु है।

कामना पूरी नहीं होगी तो कष्ट होगा। कामना पूरी होगी तो अपूर्ण भोगका कष्ट होगा। मिलकर छूट जाय तो वियोग-जन्य कष्ट होगा। संस्कार छोड़ दिया जाय तो उससे कष्ट होगा। संसारी मनुष्यको यह कष्टानुभव नहीं होता; क्योंकि उसे तो बाह्य पदार्थ चाहिए। अन्तर्मुख साधकको कामनाका कष्टानुभव होता है। जो बाह्य वस्तुओंको चाहते हैं, उन्हें तो चाहनेमें और भोगनेमें भी सुखानुभव होता है।

काम आपको नाम-रूपकी ओर ले जायगा। अतएव नाम-रूपसे उपरत होनेके इच्छुकको कामका कष्ट अनुभव होता है। जो अपनेको लक्ष्यसे विमुख कर दे, वह शत्रु है। जिसे काम और क्रोध शत्रु नहीं प्रतीत होते, वह सचमुच आध्यात्मिक जिज्ञासु, मुमुक्षु या भगवल्लिप्सु नहीं है।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।

अपने आप अपना उद्धार करो। आपका उद्धार कोई दूसरा करके नहीं देगा। यह दूसरेके भरोसे चलनेवाला काम नहीं है।

रामकृष्णमिशनके एक महात्मा एक विद्वान्‌के पास वेदान्तका स्वाध्याय करने गये। विद्वान्‌ने पूछा—'आप ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं?'

महात्मा—'हाँ।'

विद्वान्—'तब परमहंस रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द जो आपके सिरमें बैठे हैं; उन्हें मेरे इस द्वारसे बाहर रखकर आइये। कोई नाम रूप चाहे वह जितना भी श्रेष्ठ है, साथ लेकर भीतर मत आइये।'

'नात्मानमवसादयेत्'—अपनेको गिराओ मत। निराश—उदास मत होओ। अपने सहायक आप स्वयं हो और अपने शत्रु भी आप स्वयं हो।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।

जिसने अपने मनपर अधिकार कर लिया वह अपना मित्र है—

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य नात्मैवात्मना जितः।

जिसने अपनेको मनपर छोड़ दिया, वह स्वयं अपना शत्रु है—

अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।

'एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा'—कामने जितनी वस्तुएँ अपने वशमें की हैं, वे न मैं हूँ, न वे मेरी हैं और न वे सच्ची हैं। उनकी तो दशा ऐसी है जैसे कोई कहे—

अयं वन्ध्यासुतो याति खपुष्पकृतशेखरः।
शशशृङ्गधनुर्धारी पीत्वा मरु-मृषाजलम्॥

'आकाशकुसुमका मुकुट पहने, खरगोशके सींगोंका धनुष लिये, मरुस्थलकी किरणोंमें प्रतीत होनेवाले मिथ्या जलको पीकर ये वन्ध्यापुत्र महोदय जा रहे हैं।'

'संस्तभ्यात्मानमात्मना'—अपनेसे अपनेको संस्तब्ध करके यह काम मारा जाता है।

श्रुतिमें इस श्लोकसे मिलता मन्त्र है।

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था ह्यर्थेभ्यस्तु परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान् परः॥

इन्द्रियोंसे विषय परे है। विषयोंसे मन परे है। मनसे बुद्धि परे है। महान् आत्मा बुद्धिसे भी परे है।

इस श्रुतिमें काम-जयका वर्णन नहीं है; क्योंकि वहाँ इन्द्रियोंसे परे अर्थ-पञ्चतन्मात्राका वर्णन है। पञ्चतन्मात्राओंसे इन्द्रियाँ बनती हैं, अतः श्रुतिका वर्णन अपने प्रसंगके अनुसार ठीक है, किन्तु यहाँ गीतामें निरोधका वर्णन है,

पञ्चतन्मात्राओंका निरोध किया नहीं जाता। इन्द्रिय और मनका निरोध किया जाता है। अत: यहाँ तन्मात्राओंकी चर्चा नहीं है। कठोपनिषद्‌में ही जहाँ उक्त मन्त्र है, दूसरा मन्त्र इस प्रकार है—

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्।

सत्त्वादपि महानात्मा।

इन्द्रियोंसे परे मन है, मनसे श्रेष्ठ बुद्धि है और बुद्धिसे भी महान् श्रेष्ठ आत्मा है।

श्रीमध्वाचार्यजी कहते हैं—'इस श्लोकमें '**यो बुद्धेः परतस्तु सः**' यह परमात्माका वर्णन है। '**एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा परमात्मानं बुद्ध्वा**' बुद्धिसे जो परे है, उस परमात्माको जानकर 'संस्तभ्यात्मानमात्मना' अपनेको कामसे पृथक् करके परमात्मासे जोड़ो। जबतक इन्द्रिय, मन, बुद्धिसे तादात्म्य करोगे, तबतक कामके घरमें रहोगे। तबतक कामको जीत नहीं सकोगे। लेकिन जब काम और उसके घरको छोड़कर अपनेको रामके साथ मिला दोगे तो रामका बल तुम्हारा बल बन जायगा। तब तुम कामको मार सकोगे।'

नीति है कि शत्रु बलवान् हो तो बड़ेकी—समर्थकी सहायता लेनी चाहिए।

'**संस्तभ्यात्मानमात्मना**'—अपनेको बुद्धिसे परे समझो और—'**आत्मना बुद्ध्या आत्मानं मनः संस्तभ्य**' बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करो। अपनेको इनका सेवक मानकर हताश मत होओ। अपनेको इनका स्वामी समझो।

मनुष्य जब साधुओंमें—सत्संगमें जाकर बैठता है तो मान लेता है कि—'मनको मारना ही है।' यह सुनी-सुनायी बात बहुत कष्ट देती है। मनको मारनेकी इच्छा स्वयं भी इच्छा है। यह स्वयं काम है। यह कामना बहुत दुःख देती है। यह मार्ग सुन-सुनाकर चलनेका नहीं है। तीन बातें हैं—

1. पहले आप अपने लक्ष्यके विषयमें निश्चित बनिये। यदि आपको धन कमाना है तो धन-प्राप्तिके उपाय कीजिये। उसके लिए जितना उपयोगी हो, उतने काम-क्रोधका नियमन कीजिये। आपको किसी सेठकी नौकरी करनी है तो उसके परिवारमें संयम रखना होगा। दूकानपर ग्राहक आया तो उसपर क्रोध करनेसे दूकान नहीं चलेगी। जुएमें भी यदि कामनावश बहुत बेईमानी करोगे तो

सामनेवाला आपको छोड़ देगा। अर्थ और कामकी प्राप्तिमें भी कामना तथा क्रोधका नियन्त्रण आवश्यक होता है।

2. यदि जीवनमें आप धर्म चाहते हो तो शास्त्रोक्तरीतिसे धर्म-शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए। धर्ममें भी काम, क्रोध, लोभका नियमन आवश्यक है। कामनाको वशमें किये बिना धर्म सम्पन्न नहीं होता।

3. यदि आप मोक्ष-पुरुषार्थी हैं तो कामना-नियन्त्रणकी स्थिति भिन्न है। तब आप कामकी शक्तिको और अपनी शक्तिको जानें। अपनेमें निर्बलता दीखती हो तो परमात्माकी शक्तिको जानें। यह तीन बात जानना आवश्यक है।

श्रीरामानुजाचार्यजी कामशक्तिका निरूपण करते हुए कहते हैं—'विषयोंसे अधिक शक्तिशाली मन है। मनसे अधिक शक्तिशाली बुद्धि है। बुद्धिसे भी अधिक शक्तिशाली काम है।'

नीति यह है कि शत्रुके वस्त्र, आहार, चाल, शक्तिकी ठीक-ठीक पहचान होनी चाहिए। श्रीरामानुजाचार्यजीका कहना है—'कामको निर्बल मत समझ लेना। यह बहुत प्रबल है। कामने इन्द्र, ब्रह्मा और रुद्रको भी वशमें कर लिया। कामके सम्पूर्ण बलको समझकर ही प्राचीन शास्त्रज्ञाता उसे वशमें करना चाहते हैं।'

कामस्तदग्रे समवर्तत।

सृष्टिकी उत्पत्तिसे पूर्व काम था। फिर भी हम कामको वशमें करनेकी बात करते हैं—

पराचः कामाननुयन्ति बालाः।

ये अज्ञानी लोग बाहरकी कामनाओंके वशीभूत होकर दौड़ते हैं। वे कहाँ जा फँसते हैं, उन्हें पता नहीं है। मृत्युने उनके लिए फंदे फैला रखे हैं—

मृत्योर्विततस्य पाशम्।

लेकिन जो मृत्युके फैलाये जालमें डाले चारेके लोभमें उसमें नहीं जाता, वह धीर है—

अथ धीरा अमृतत्वं भजन्ते।

वे धीरपुरुष अमृतत्वको उपलब्ध करते हैं।

रिपु रुज पावक पाप, प्रभु अहि गनिअ न छोट करि।
रिपु रुज पावक पाप अराती। इनहिं न छोट गनिय ، । भाँती॥

काम शत्रु है—इसे छोटा मत समझो। एक हाथी जा रहा था। मार्गमें उसे एक चींटी दीख पड़ी। हाथीने कहा—'ओ तुच्छ जीव! मेरे मार्गसे हट जा, नहीं तो कुचलकर मर जायगा।'

हाथीने सूँड़ नीचे की तो चींटी सूँड़के भीतर घुस गयी। वहाँसे वह सिरमें पहुँचकर चिपक गयी और काटने लगी। हाथी सूँड़ पटक-पटककर मर गया।

श्रीरामानुजाचार्यने स्वयं प्रश्न उठाया—

'शत्रुको इतना बलवान् क्यों बतला रहे हो?'

इसका उत्तर दिया—'शत्रु बहुत प्रबल है, अतः भगवान्‌की शरणमें जाना चाहिए। तुम स्वतन्त्रतासे उसपर विजय नहीं पा सकते।'

बृहत्सहायः कार्यान्तं क्षोदीयानभिगच्छति।
सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगाः॥
(शिशुपालवध)

छोटे-से-छोटा व्यक्ति भी बड़ेकी सहायतासे सफल हो जाता है। पहाड़से निकली छोटी नदी भी बड़ी नदीमें मिलकर समुद्रतक पहुँच जाती है।

जीवात्माको भगवान्‌की शरणागति ग्रहण करके कामपर विजय प्राप्त करना चाहिए। अपने बलसे कामसे भिड़ना नहीं चाहिए।

श्रीमध्वाचार्यजी कहते हैं—इन्द्रिय, मन, बुद्धिमें काम रहता है। इनसे परे परमात्मामें काम नहीं रहता। तुम यह समझ लो कि बुद्धि भले कामसे मिल जाय, परमात्मा कामसे कभी नहीं मिलेगा। बुद्धिसे परे परमात्माको जानकर उसकी शरण लो, तब परमात्मा तुम्हें कामसे बचा लेगा।'

श्रीशंकराचार्य भगवान् कहते हैं—यहाँ पाँच वस्तुओंका वर्णन है। इन्द्रिय, मन और बुद्धि, इनमें काम रहता है। यह काम जीवात्माको मोहित कर लेता है। किस जीवात्माको काम मोहित करता है? जो बुद्धि, मन, इन्द्रियसे तादात्म्य करके बैठा है।

'मैं इन्द्रिय, मन, बुद्धिवाला और इन्द्रिय, मन, बुद्धि मेरे' ऐसे तादात्म्यवान् अर्थात् अज्ञानी, अध्यासवान्‌को काम मोहित कर लेता है।

जीवका एक स्वरूप है जो अध्यासको छूता ही नहीं, क्योंकि--

'**यद् यस्मिनध्यस्यते तत् तस्मिनधिष्ठाने न लेशमात्रमपि गुणदोषसम्बन्धो भवति।**'

जो जिसमें अध्यस्त है, उसका अपने अधिष्ठानसे लेशमात्र भी गुण दोषका सम्बन्ध नहीं होता।

जीवकी दो दशा है-- अज्ञान दशा और ज्ञान दशा। जबतक वह अपने ब्रह्मस्वरूपको नहीं जानता, तबतक वह अज्ञानी है। जब अपने स्वरूपको जान गया तो वह ज्ञानस्वरूप है। वह अपनेको नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त प्रतीत करता है। उसीको यहाँ कहा गया '**यो बुद्धेः परतस्तु सः।**'

'**संस्तभ्यात्मानमात्मना**'—अपने आपको अपने आपसे संस्तब्ध करके अपनेको निष्क्रिय, निर्विकार, निर्विषय, निर्धर्मक, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त रूपमें देख लो। शास्त्र-संस्कृत, गुरु संस्कृत मनसे इस कामासक्त मनको छोड़कर स्वरूपमें बैठ जाओ।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्त हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते॥

(श्रुति)

जब हृदयमें रहनेवाली सब कामनाओंसे मनुष्य छूट जाता है, तब इसी जीवनमें अमृतरूप हो जाता है। यहीं ब्रह्मानन्द उपलब्ध कर लेता है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥

(गीता-2.71)

नदियोंसे निरन्तर भरा जाता हुआ भी जैसे समुद्र अचल एवं मर्यादामें रहता है और उसमें जैसे नदियाँ मिलने आती हैं, वह स्वयं किसी नदीसे मिलने नहीं जाता, वैसे ही जिसमें कामनाएँ स्वतः प्रवेश करती हैं, वह शान्ति पाता है। कामनाओंके पीछे दौड़नेवाला शान्ति नहीं पाता।

'**जहि शत्रुम्**'—इन्द्रियोंको मनसे और मनको बुद्धिसे वशीभूत करके इस कामरूपी शत्रुको मार दो।

यह काम तुम्हारे ही घरमें घुसा बैठा है। चोरके घर जाकर चोरको मारो

तो हत्या अपराध होता है। अपने घरमें घुसे चोरको मार दो तो आत्मरक्षाके लिए मारनेसे उसकी मृत्युके आप उत्तरदायी नहीं हो।

हिम्मत करो। बुद्धिसे मनको नियन्त्रित करो। यह सतानेवाला शत्रु है, इसे मार दो।

'**कामरूपम्**'—इसे पहचानना कठिन है।

'**दुरासदम्**'—इसे पकड़ना कठिन है।

'**दुःखेनासाद्यतेति दुरासदम्**'—जब आप कामको मारना चाहते हो तो वह यही मारनेकी इच्छा बनकर मनमें छिप जाता है। यह अद्वितीय बोधसे ही मरेगा।

भगवान्‌का आश्रय लेकर कामको जीतना उपासकपक्ष है। अपने आपमें स्थित होकर निवृत्तिका निरोध करना योगपक्ष है। विवेकसे ही काम छोड़ देना सांख्यपक्ष है। वेदान्तपक्ष है अपनेको अद्वितीय जानकर कामिता, काम, काम्य तीनों मिथ्या हैं—इसका साक्षात्कार कर लेना। यह कामकी मृत्यु है।



उपसंहार

कामको वशमें करनेकी रीति क्या है ?

इस प्रश्नका उत्तर देते हुए गीताके इस तीसरे अध्यायमें उपायरूपसे कर्मयोगका वर्णन हुआ है। उपेयरूपसे ज्ञानयोगका वर्णन है।

उपादायाति हीयन्ते उपायास्ते प्रकीर्तिताः।

(वाक्यपदीय)

जिनको पहले स्वीकृत करके पीछे (लक्ष्यप्राप्तिके पश्चात्) छोड़ दिया जाता है, उन्हें उपाय कहते हैं।

उपेतुं प्राप्तुं योग्यः उपेयः।

जो प्राप्त करने योग्य है, उसका नाम उपेय है।

यदि इस शरीरके जन्म-मरणसे आपका जन्म-मरण है तो आपका जन्म-मरण पहले भी था और आगे भी रहेगा। यदि कोई अनुभव ऐसा हो जाय कि 'इस शरीरके प्रतीयमान जन्म-मरणसे मेरा जन्म-मरण नहीं होता' तो न पहले आपका जन्म-मरण था और न आगे होगा।

जबतक 'शरीर मेरा, मैं शरीरवाला हूँ' है, तबतक 'मैं जीव हूँ।' और तबतक जन्म-मरणका प्रवाह चलता रहेगा।

जबतक वर्तमान जन्म-मरण अधिष्ठान ज्ञानसे बाधित, प्रतीयमान नहीं हो जाता, तबतक 'हम जन्म-मरणसे मुक्त हो गये,' यह कल्पना है।

अपना और दूसरोंका भी जन्म-मरण अजन्मा, अखण्ड, अद्वितीयतत्त्वमें प्रतीतिमात्र है। कालमें जन्म-मरण निवृत्त नहीं होता। अपने स्वरूपमें कालका आना-जाना ही प्रतीयमान है। इस बोधसे 'अगला जन्म होगा' इसका भय गया। मृत्युका भय गया। 'वर्तमान जीवनमें कोई विषमता है' यह भ्रान्ति गयी। 'हम जन्म-मरण प्रवाहमें रहने-बहनेवाले जीव हैं' यह खोटी धारणा मिट गयी।

साधन जीवात्माको परमात्मा बनानेके लिए नहीं किया जाता। कङ्कणको सोना बनानेके लिए नहीं गलाया जाता। वह सोना तो पहलेसे है ही। सोना जड़ है, अतः उसमें जो कर्मघटित आकृति है—नाम-रूप है, वह कल्पित है। लेकिन चेतनमें कर्मघटित आकृति नहीं होती। चेतनमें कोई गुण, जाति, सम्बन्ध या क्रिया नहीं है। जैसे हाथी है, चलता है, काला है, राजाका है और रूढ़िसे उसको हाथी कहते हैं, इस प्रकार जो उसमें नाम, रूपादि आरोपित हैं, ऐसा नाम, रूप, जाति आदि चेतनमें नहीं होता। अतः चेतनका नाम-रूपवालापना सर्वथा चेतनतत्त्वके अज्ञानसे है और भ्रान्तिमात्र है। स्वयं प्रकाश सर्वथा आत्मतत्त्वमें स्वरूपके अज्ञानसे भ्रान्तिमूलक नाम-रूप है।

श्रवणसे प्रमाणकी असम्भावना, मननसे प्रमेयकी असम्भावना तथा निदिध्यासनसे विपरीत भावना दूर करके 'नेति-नेति' द्वारा सम्पूर्णका निषेध करके स्वतः सिद्ध वस्तुसे अभिन्न ही समस्त प्रतीति है, इस अनुभवसे यह भ्रान्ति मिटेगी।

साधना परमात्मा बननेको नहीं है, मनुष्य जीवनमें महात्मापनके अवतरणके लिए है। परमात्मापना तो आत्माका स्वतः सिद्ध है; किन्तु महात्मापनेमें जो बाधा पड़ गयी है, जो काम, क्रोध, लोभ, मोह आ गये, इन्हें दूर करनेके लिए साधना है।

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज कहते थे—'बेटा! परमात्मा तो सब हैं, परन्तु महात्मा होना है। महात्मा कहीं-कहीं हैं।'

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।

वासुदेव दुर्लभ नहीं है। वासुदेव तो 'सर्व' है; किन्तु महात्मा सुदुर्लभ है। जो साधनसे सिद्ध होता है, वह महात्मा है। जो स्वतः सिद्ध है, वह परमात्मा है।

सभी त्यागियोंका अभिप्राय है कि जीवनमें-से काम-क्रोध-लोभ-मूलक प्रक्रिया निवृत्त हो। न्यायदर्शनके आचार्यने तीन राशियोंमें सब दोषोंका वर्गीकरण किया है—1. रागमूलक 2. द्वेषमूलक और 3. मोहमूलक दोष।

आपका अपने बच्चोंके प्रति मोह है तो आप उनके लिए चोरी-बेईमानी

करके संग्रह करते हैं। यह पता नहीं है कि यह उनके काम आयेगा भी या नहीं।

असूया, हिंसा, निन्दा, घृणा आदि सब दोष द्वेषकी सन्तान हैं। कुछ दोष रागमूलक होते हैं—जैसे अन्याय, पक्षपातादि।

इस दोषोंके कारण जो क्रिया होती है, वह अधर्मका हेतु होती है। महर्षि गौतमके मतमें धर्माधर्म दोनों प्रवृत्तिमूलक हैं। क्रियाके मूलमें ही दोष है—

प्रवर्तना लक्षणा दोषाः। प्रवृत्तिजन्यौ धर्माधर्मौ।

धर्म और अधर्म दोनोंकी जननी प्रवृत्ति है। प्रवृत्तिमें ही दोष रहते हैं। रागादि दोषके मूलमें मिथ्याज्ञान रहता है। मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति तत्त्वज्ञानसे होती है। यह न्यायदर्शनका मत है।

जितने साधन हैं, सब व्यक्तिको जीवनमें सज्जन बनानेके लिए हैं। आत्मा तो परमात्मा है ही।

सज्जन बनाना है तो इसमें साधनोंमें भेद क्यों?

साधनोंमें भेद साधकोंकी वृत्तिके कारण है। किसीकी वृत्ति रागप्रधान है किसीकी द्वेषप्रधान और किसीकी मोहप्रधान।

अक्लिष्टवृत्तिजनकं कार्यं धर्मः।

(पतञ्जलि)

महर्षि पतञ्जलिका मत है कि अक्लिष्टवृत्ति उत्पन्न करनेवाले अर्थात् अविद्याको मिटानेवाले कर्म धर्म हैं।

आप भगवान्से प्रेम नहीं करोगे तो पुत्र, पत्नी, धनमें आपका राग होगा। आपका अन्तःकरण रागप्रधान है। जबतक उसे भगवान्में राग करनेका मार्ग नहीं दोगे, वह संसारमें राग करेगा ही। भगवान्में राग करनेको ही रागात्मिका भक्ति कहते हैं।

आपका मन यदि द्वेष-प्रधान है तो आप भगवान्में भी राग नहीं कर सकते। तब प्राणायाम, धारणा, ध्यान करो। आपका अन्तःकरण द्वेषप्रधान है, इसका अर्थ है कि वह कुछ पाना नहीं चाहता—छोड़ना ही छोड़ना चाहता है। अतः योगाभ्याससे अपने आपमें स्थित हो जाओ।

एक ब्रह्मचारी कहते थे—'सबसे मेरी लड़ाई है। मैं जीव, ईश्वर, प्रकृति सबसे लड़ूँगा। सबका सारा भेद मिटाकर रहूँगा।'

वे योगी थे। छः घंटे शीर्षासन करते थे। कहते थे—'मेरे मनमें लड़ने-लड़नेकी ही बात आती हैं। रामसे लड़ूँगा, कृष्णसे लड़ूँगा' यह निषेधका—प्रत्याहारका मार्ग है।

कोई व्यक्ति मोह प्रधान है। समझ लो कि आपको इस घड़ीसे प्रेम है तो मन न ईश्वरमें लगेगा, न आप भीतर एकाग्र हो पाओगे। आपको तो घड़ीसे सम्बन्धित काम करना होगा। जिसका मोह अन्न-धन, पत्नी पुत्रमें है उसे यज्ञ-यगादिमें लगना चाहिए। यदि मोहप्रधान जीवन है तो ऐसे व्यक्तिका मोह दान किये बिना नहीं छूटेगा।

दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।

विवेकी पुरुषको सबमें दुःख ही दीखता है। ऐसे विवेकीको जिसे जगत्के सब पदार्थोंमें दोष-दुःख ही दीखता है, समाधि लगाना चाहिए। वह समाधि नहीं लगायेगा तो उसका हृदय कैसे शुद्ध होगा।

धर्म, भक्ति और योग सीधे-सीधे आत्मज्ञान नहीं कराते; किन्तु आपके जीवनमें जो बुराई आ गयी है, उसे दूर करके आपको सज्जन बनाते हैं। जीवन-निर्माण इन साधनोंके द्वारा ही होता है। जिसके जीवनमें जिस ढंगके दोष होते हैं, उन दोषोंको मिटानेके लिए उसे वैसे साधना करने पड़ते हैं।

ईश्वर अनेक है, इसलिए उसकी प्राप्तिके साधन अनेक हैं, ऐसी बात नहीं है। अपने दोष अनेक हैं, अतः उनकी निवृत्तिके लिए अनेक ढंगके साधनोंकी आवश्यकता होती है।

कामकी निवृत्तिके लिए ब्रह्मचर्य, क्रोधके लिए अहिंसा, लोभके लिए सन्तोष साधन है। जैसे रोगके भेदसे ओषधि-भेद होता है। स्वास्थ्य-भेदसे ओषधि-भेद नहीं होता।

डॉक्टर अपनी दवा स्वयं नहीं करते, दूसरे डॉक्टरकी चिकित्सा करते हैं। आप स्वयं अपने रोगका निदान न कर सको तो किसी जानकारसे समझ लो।

साधनोंका तात्पर्य है कि अपने जीवनमें सौजन्य प्रकट होना चाहिए।

महात्मापन अर्थात् सद्‌गुण अपने जीवनमें आना चाहिए। तत्त्वज्ञानकी तो **सीधी** बात है। प्रमाताका पक्षपात प्रमाणमें है।

मानादिना प्रमेयसिद्धिः।

जितने भी प्रमाण हैं, वे प्रमेयको सिद्ध करनेके लिए हैं। प्रमाता **बिना देखे** कोई रूप मानना नहीं चाहता। बिना सूँघे कोई गन्ध स्वीकार नहीं करता। बिना चखे कोई स्वाद जानता नहीं। बिना छुए कोई स्पर्श समझता नहीं और बिना सुने किसी शब्दको नहीं मानता। ज्ञाताका जीवन प्रमाणप्रधान है। अत: व्यवहारमें हमारे जीवनमें सौजन्य आये, साधनामें अन्तर्मुखता आये, और तत्त्वज्ञानके लिए महावाक्यश्रवणसे मनन, निदिध्यासनसे असम्भावना, विपरीत भावना, अज्ञान मिटकर अपने अद्वितीय स्वरूपका बोध हो, यह पूर्णताका जीवन है।

गीताके इस तीसरे अध्यायका नाम कर्मयोग है। इसमें पापके सम्बन्धमें प्रश्न उठाकर उत्तर दिया गया कि पापके कारण काम-क्रोध हैं।

श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं—'सचमुच कर्मयोगका फल ही यह है कि जीवनसे काम-क्रोधकी निवृत्ति हो जाय। यदि काम-क्रोध निवृत्त न हों, इनका शिथिलीकरण न हो तो कर्मयोगका फल ही क्या?'

आप **कर्म** करें—जीवन भर करते रहें और काम-क्रोध न मिटें, यह सम्भव है। ऐसा तो होता ही है; किन्तु आप **कर्मयोग** करें और काम-क्रोध न मिटें, यह सम्भव नहीं है।

कर्म तो सड़कपर चलते लोग भी कर ही रहे हैं; किन्तु कर्मयोग तो पवित्र उद्देश्यसे, महान् लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए व्यक्ति करता है। जो लोग सड़कपर चलते हैं, उनमें अनेक वेश्याघर या शराबखाने पहुँचनेके लिए चलनारूप कर्म करते हो सकते हैं। लेकिन निष्काम कर्म तो भगवत्सेवाके लिए किया जाता है। एक व्यक्ति क्षुद्र वासनावश कर्म कर रहा है और एक महान् लक्ष्यके लिए कर्म कर रहा है। जो महान् लक्ष्यके लिए कर्म कर रहा है, वह काम-क्रोधसे मुक्त होगा। जो व्यक्तिगत सुख-स्वार्थके लिए कर्म करता है, वह कर्मी होता है।

आप अपनेको ईमानदारीसे टटोलें कि जब आप दूकानपर या घरमें झाड़ू लगा रहे होते हैं तो आप कर्मी होते हैं या कर्मयोगी। कर्मयोगी परमात्माकी

प्रसन्नताके लिए ही सब कर्म करता है। उसका सब कर्म लोकसेवाके लिए या ब्रह्मानुभतिके लिए है। कर्मयोगका उद्देश्य अन्तःकरणकी शुद्धि करके तत्त्वज्ञानकी योग्यताका सम्पादन है।

कामका स्वरूप यह है कि इससे **अनिच्छन् पुरुष** भी **बलादिव**—विवश **नियोजित** हो जाता है। जब शास्त्रद्वारा, महापुरुषोंद्वारा और स्वयंकी बुद्धिद्वारा भी निषिद्ध कर्ममें प्रवृत्ति होने लगती है तो ऐसी प्रवृत्तिका प्रेरक काम या क्रोध होता है। उस समय कर्मशुद्धिके द्वारा उसपर हमें विजय प्राप्त करना चाहिए। यदि हमारे कर्म शुद्ध रहेंगे तो अन्ततोगत्वा हम काम-क्रोधपर विजय प्राप्त कर लेंगे।

काम-क्रोधपर विजयका उपाय क्या है?

1. इन्द्रियनियमन द्वारा इनका त्याग करो।

2. आत्मज्ञानद्वारा कामको मार डालो।

उपक्रममें परित्यागात्मक उपाय और उपसंहारमें विनाशात्मक उपाय भगवान्ने बतलाया है।

अनर्थमें बलपूर्वक प्रवृत्त करनेवाला—यह कामका स्वरूप है। उसके रहनेके स्थान हैं—इन्द्रिय, मन और बुद्धि। कामका फल है अनर्थ-प्राप्ति। इससे बचनेके लिए आपको बुद्धिसे परे ज्ञानमें स्थित होना है।

यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञः तद्यच्छेज्ज्ञानम् आत्मनि।

जब आप बोलना-चालना कुछ नहीं कर रहे हैं और मनमें भी संकल्प-विकल्प नहीं उठते हैं, तब आप स्वयं ज्ञानस्वरूपसे स्थित हैं।

× × ×

हमको मालूम पड़ता है कि यह रूमाल है, यह घड़ी है, यह पुस्तक है। यह 'है, है' अर्थात् किसीका भी होना सत् है। जो जीवन रहते मिथ्या सिद्ध न हो, वह सत् है। नेत्र रहते रूमाल दीखता है तो व्यवहारमें रूमाल सच्चा है। यदि नेत्र रहते ही रूमाल झूठा सिद्ध हो जाय तो बाधित हो गया। जैसे नेत्रसे सर्प दीख रहा है और नेत्रसे ही यह ज्ञात हो गया कि यह सर्प नहीं, रस्सी है तो सर्प बाधित हो गया। व्यवहारमें जो अस्ति-अस्ति प्रतीत होता है, वह तो नाम-रूप है।

आत्मा अस्ति प्रत्ययका विषय नहीं है। यह सत्य है और सत्यका

आधार भी है। आत्मा सत्-असत् दोनोंका प्रकाशक भी है और अधिष्ठान भी। नास्ति प्रत्ययका प्रकाशक भी आत्मा ही है। अतः लोकमें जो अस्ति प्रत्यय है, वह आत्माके ज्ञानका साधन है।

अस्तीत्येवोपलब्धव्यः तत्त्वाभावेन भारत।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति॥

'अस्ति'—यह आत्मोपलब्धिकी एक साधना है।

ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्।

आपका जो ज्ञान है, उसे जीवरूपसे मत रहने दो। हिरण्यगर्भसे उसे एक कर दो।

तद् यच्छेद् शान्त आत्मनि।

यह मन्त्र वृहदारण्यकोपनिषद् और छान्दोग्योपनिषद् दोनोंमें आता है।

प्रजापतिकी दोनों सन्तानें देवता और असुर परस्पर लड़ पड़ीं। तब उन्होंने आसन्न प्राणकी उपासनाका निश्चय किया।

आसन्न प्राण वह है जो हमारे व्यक्तिगत जीव और व्यापक चैतन्यसे एक है। जहाँ 'छोटा मैं' और 'बड़ा मैं' दोनों एक होकर बैठे हैं—अर्थात् हिरण्यगर्भसे एकत्वका अनुभव करना है।

जैसे मिट्टीका ढेला पत्थरपर पटकते ही चूर-चूर हो जाता है, वैसे ही एक अन्तःकरणमें रहनेवाले काम-क्रोधादि, हिरण्यगर्भ—समष्टि अन्तःकरणमें जो चैतन्य है, उस तेजस्तत्त्वपर पटकते ही चूर-चूर हो जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि अपने 'मैं'को व्यष्टि भावसे मुक्त करके समष्टि भावसे एक करना होगा, तब एक अन्तःकरणमें रहनेवाले काम-क्रोध नष्ट हो जायँगे।

प्राज्ञ और ईश्वर सुषुप्तिवत् हैं। इनमें काम-क्रोधकी वृत्ति नहीं रहेगी। परब्रह्म परमात्मा अद्वितीय है। उसमें काम-क्रोधका अस्तित्व ही नहीं है। हिरण्यगर्भमें काम-क्रोधादि क्रियाशील रहते हैं; किन्तु व्यष्टिमें जो काम-क्रोध रहते हैं, वे पाप-प्रयोजक होते हैं और समष्टिमें जो रहते हैं, वे पाप-प्रयोजक नहीं होते। अतः काम-क्रोधके निरोधार्थ हमें व्यष्टि अन्तःकरणको समष्टि अन्तःकरण अर्थात् हिरण्यगर्भसे एक कर देना चाहिए।

प्रत्यभिज्ञा-शैवदर्शनाचार्य कहते हैं—'व्यष्टि अन्तःकरणमें तुम्हारा मैं करना सर्वथा असंगत है। तुम वस्तुतः न अहंकार हो, न जीव हो। तुम संवित् (विमर्शात्मा) हिरण्यगर्भ हो।'

वे कहते हैं—मैं सम्पूर्ण विश्वमें दृश्यमान संवित् हूँ। यह संवित् सम्पूर्ण विश्वरूप परिणामको प्राप्त होते हुए भी निर्विकार है। ये पुत्र-पत्नी आदि संकल्प आगन्तुक हैं। अखण्ड संविदात्मामें ये धन-धाम, पुत्र-पत्नी आदि संकल्प स्वाभाविक नहीं हैं। स्वाभाविक अखण्ड संविदात्म-स्वरूपमें काम-क्रोधकी कोई गति नहीं है।'

श्रीअभिनव गुप्ताचार्य अपने गीता-भावप्रकाशमें लिखते हैं—'अपनेको अखण्ड सविशेष संविदात्मारूपमें अनुभव करो। कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड हमारे संविद्के प्रकाशमें हैं। शत्रु-मित्र, काम-क्रोध, धनादि तो बाहरसे भीतर अपनेमें आरोपित संकल्पकी ग्रन्थियाँ हैं। शत्रु नहीं है तो क्रोध किसपर होगा? धन-स्त्री आदि नहीं हैं तो कामना किसकी होगी? अतः अखण्ड संविदात्मानुभूतिसे काम-क्रोधकी निवृत्ति हो जाती है।

वैष्णवाचार्य कहते हैं—'यह तो ठीक है कि हमारी व्यष्टि बुद्धि समष्टिमें लीन होनी चाहिए; क्योंकि इसके बिना काम-क्रोधकी निवृत्ति नहीं हो सकती; किन्तु हिरण्यगर्भको 'अहं' रूपसे मत अनुभव करो। यह तुम नहीं हो। यह तो जगन्नियन्ता ईश्वरका अवतार है। तुम जीव हो। उस हिरण्यगर्भमें अपनी बुद्धिका समर्पण करो।'

हिरण्यगर्भमें ही इष्टके प्रति आत्मसमर्पण होता है; इससे हमारे काम-क्रोधका मुख मुड़ जाता है। कामना विषयके प्रति न होकर इष्टके प्रति हो जाती है। जब व्यष्टि इष्टोन्मुख हो जाता है, तब व्यक्तिगत काम-क्रोधका प्रश्न ही नहीं उठता।

वेदान्ती समस्त उपासक वर्गको हिरण्यगर्भका ही उपासक मानते हैं। सूर्य, शक्ति, गणेश, शिव, विष्णु, राम, कृष्ण आदि सब हिरण्यगर्भके ही भक्त भाव-भेदसे नानारूप हैं। नानारूपता हिरण्यगर्भमें ही होती है। ईश्वरमें एकरूपता होती है।

योगकी दृष्टिसे प्रत्यक्चैतन्यमें नामरूप नहीं है। समाधिमें ही नाम-

रूपका निरोध होता है। इस प्रत्यक्‌चैतन्यको ब्रह्मसे अभिन्न जान लेनेपर द्वैतकी गन्ध भी नहीं रह जाती, तब भोग्य-भोक्ताभाव कैसा? वहाँ तो भोक्ता-भोग्य सबका ही नाम ब्रह्म है।

'**कामरूपं दुरासदम्**'—हम जो-जो चाहते हैं, वही-वही यह काम बनता जाता है। ज्ञान प्राप्तिकी इच्छा—'जिज्ञासा, भगवत्प्राप्तिकी इच्छा, समाधिकी इच्छा, कामको मिटानेकी इच्छा, यह सब काम ही है। इसको समझना बहुत कठिन है।

'**संस्तभ्यात्मानमात्मना**'—बुद्धिसे मनका नियन्त्रणकरके, अपने आपको जानकर कामकी आत्यन्तिक रूपसे निवृत्ति कर दो।





'कर्मयोग' से....

.....एक सज्जन विलायत जा रहे थे। काशीमें वे एक बड़े महापुरुष स्वामीश्री योगत्रयानन्दजीके समीप गये और उनसे अपने लिए कोई उपदेश करने की प्रार्थना की।

स्वामीजी बोले—'कोई ऐसा काम मत करना कि अपनी दृष्टिमें ही गिर जाओ। यदि तुम्हारे भीतरका जज कह देगा कि 'तुम गिर गये' तो बाहरका कोई तुम्हें उठा नहीं सकता।'

व्यक्ति जब बाहरसे इन्द्रिय संयम कर भीतरसे कामना-पूर्त्ति चाहता है तो वह मिथ्याचारी हो जाता है।.....

× × ×

मनुष्यको चाहिए कि अपने जीवनमें ऐसा कर्म करे जिससे स्वयं दुःखी न हो दूसरोंको जान-बूझकर दुःखी न करे, वासना-जालमें न फँसे और अभिमानमें न जकड़े।...

× × ×

काम करते समय मनुष्यको तीन बातोंका ध्यान रखना चाहिए।

1. अपने लिए उस कर्मका परिणाम क्या होगा?

2. समाज पर उसका क्या प्रभाव पड़ेगा?

3. उससे ईश्वर प्रसन्न होगा या नहीं?

